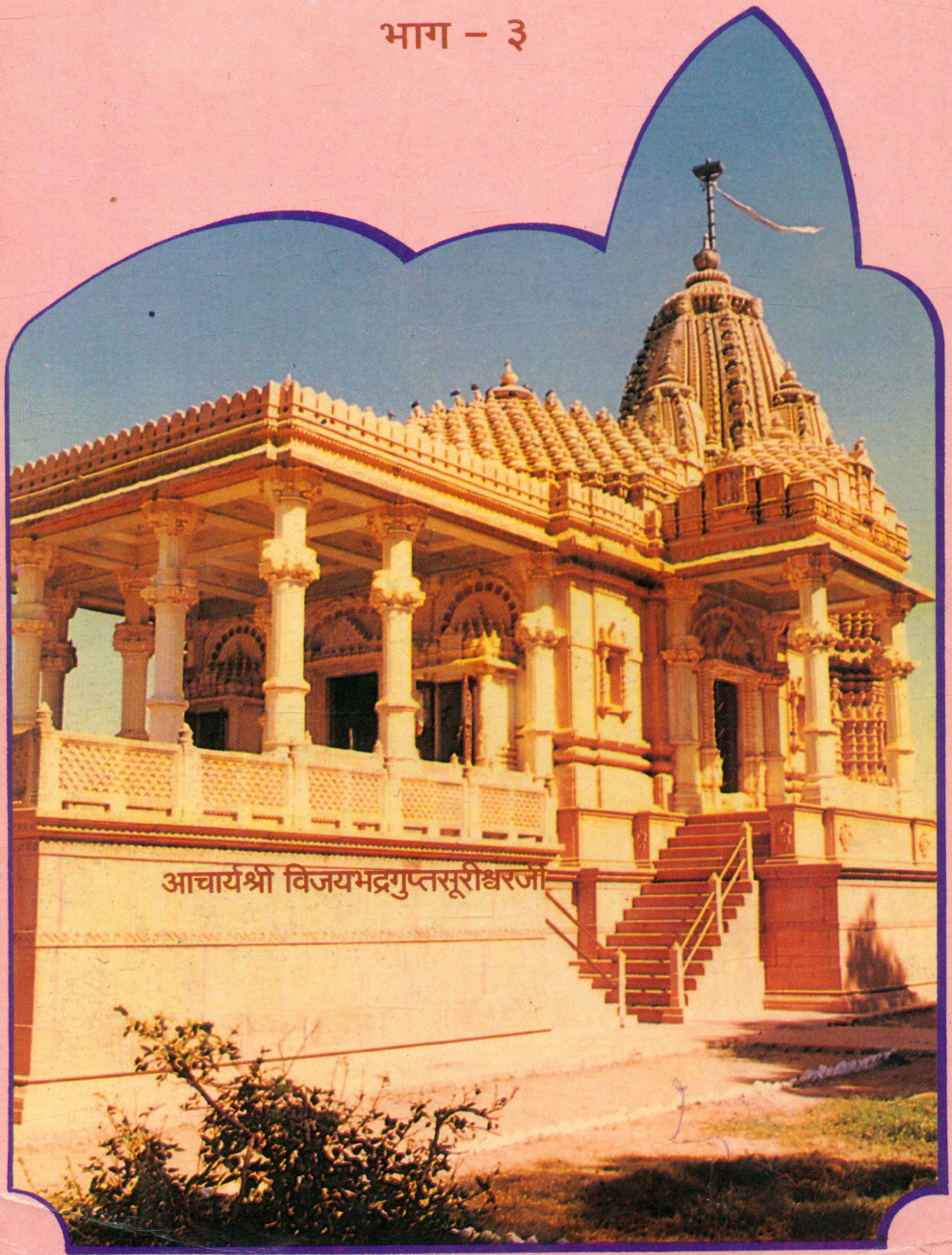
श्रावक-जीवन

भाग – ३



आचार्यश्री विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी



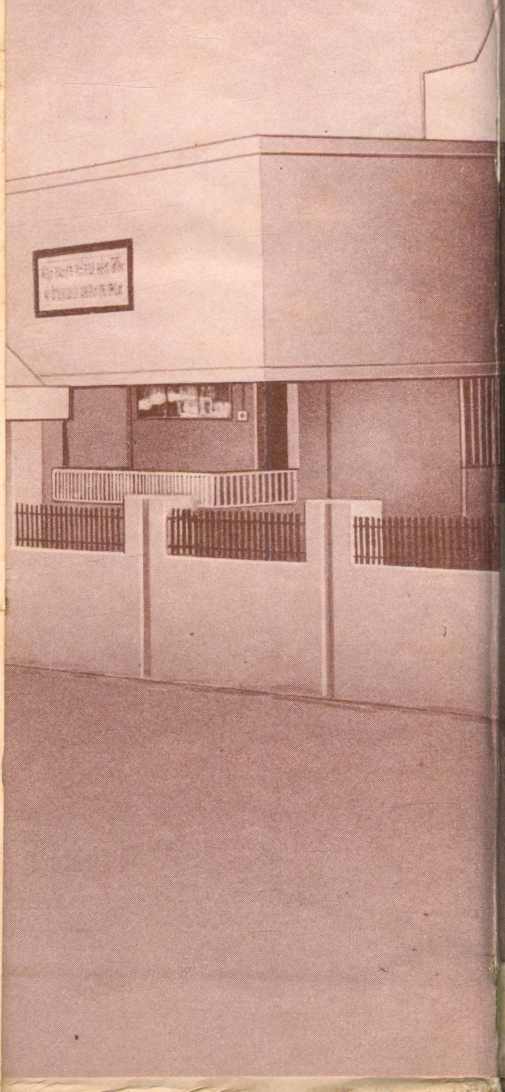
प्रवचनकार व साहित्य सर्जक
आचार्य श्री विजय भद्रगुप्तसूरीश्वरजी.

श्रावण शुक्ला १२ वि. सं. १९८९ के दिन पुदगाम-मेहसाणा (गुजरात) में मणीभाई एवं हीराबहन के कुलदीपक के रुप में जन्मे हुए मुलचन्दभाई, जूही की कली की भांति खिलती-खुलती जवानी में १८ बरस की उम्र में वि. सं. २००७, महा वद ५ के दिन राणपुर (सौराष्ट्र) में अपने परम श्रद्धेय सुप्रसिद्ध जैनाचार्य भगवंत श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के करकमलों द्वारा दीक्षित होकर पू. भानुविजयजी (वर्तमान में आ. श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी) के शिष्य बनते है। मुनिश्री भद्रगुप्तविजयजी के रूप में दीक्षा-जीवन के प्रारंभ से ही अध्ययन-अध्यापन की सुदीर्घ यात्रा प्रारंभ हो चुकी थी। ४५ आगमों के सटीक अध्ययनोपरांत दार्शनिक, भारतीय एवं पाश्चात्य तत्वज्ञान, काव्य-साहित्य वगैरह के 'मीलस्टोन' पास करती हुई वह यात्रा सर्जनात्मक क्षितिज की तरफ मुड़ गई। 'महापंथ नो यात्री' से २० साल की उम्र में शुरू हुई लेखनयात्रा आज भी अथक एवं अनवरत चल रही है। तरह तरह का मौलिक साहित्य, तत्वज्ञान विवेचना, दीर्घकथाएं, लघु कथाएं काव्य गीत पत्रों के जरिये स्वच्छ व स्वस्थ मार्गदर्शन, यों साहित्य सर्जन का सफर दिन व दिन भरापूरा बन रहा है। प्रेमभरा हँसमुख स्वभाव, प्रसन्न व मृदु आंतर-बाह्य व्यक्तित्व एवं बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय वैसी प्रवृत्तियां उनके जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। संघ-शासन विशेष करके युवा पीढी, तरुण पीढी एव शिशु-संसार के जीवन-निर्माण की प्रक्रिया में उन्हें रुचि है... संतुष्टि है। प्रवचन, वार्तालाप, संस्कार-शिबिर, जाप-ध्यान अनुष्ठान एवं परमात्म भक्ति के विशिष्ट आयोजनों के माध्यम से उनका सहिष्णु व्यक्तित्व भी उतना ही उन्नत एवं उज्वल बना है। मुनिश्री जानने योग्य व्यक्तित्त एवं महसूसने योग्य अस्तित्व से सराबोर है। कोल्हापूर में ता. ४-५-८७ के दिन उनके गुरुदेव ने उन्हें आचार्यपद प्रदान किया तब से वे **आचार्यश्री विजय भद्रगुप्तसूरीश्वरजी महाराज** के नाम से जाने जाते है।

श्रीयुत संपतराज सं

कल्याण प्र

महेस



श्रावक जीवन

भाग : तीसरा

आचार्यश्री हरिभद्रसूरि–विरचित "धर्मबिंदु" ग्रंथ के तीसरे अध्याय पर दिये गये मननीय, रसपूर्ण और प्रेरणादायी प्रवचन.

(प्रवचन : ४८ से ७१)

श्री विश्व कल्याण प्रकाशन ट्रस्ट मेहसाणा

: प्रवचनकार :

आचार्यश्री विजयभद्रगुप्तसूरीश्वरजी

प्रकाशक : श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, मेहसाना–३८४००२.

मूल्य : ५० रुपये / प्रथम आवृत्ति / प्रत : ३००० / वि. सं. २०५०.
लेसर टाईपसेटिंग : मेक ग्राफिक, अहमदाबाद–३८०००६.

मुद्रक : महेश मुद्रणालय, अहमदाबाद.

Shravak Jivan : By Acharya Vijay Bhadraguptsuriji

प्रासंगिक

'धर्मबिंदु' ग्रंथ के पहले अध्याय पर आधारित ९६ प्रवचनों का प्रकाशन 'धम्मं सरणं पवज्जामि' के नाम से चार भागों में किया था। इन चार भागों का पुनर्मुद्रण हो गया है।

इसी ग्रंथ के तीसरे अध्याय पर भी ९५ प्रवचन प्रकाशित हो रहे हैं। **'श्रावक जीवन'** के पहले भाग में १ से २३, दूसरे भाग में २४ से ४७ और तीसरे भाग में ४८ से ७१ प्रवचन छपे हैं। चौथे भाग में ७२ से ९५ प्रवचन छप रहे हैं।

यदि मनुष्य को अच्छा जीवन जीना है, सात्त्विक, धार्मिक और आदर्शमय जीवन जीना है, तो ये सारे प्रवचन उनके लिए मार्गदर्शक बन सकेंगे। अनेक उदाहरण और अनेक तर्क के द्वारा इन प्रवचनों में उन्नत और उदात्त जीवन जीने के मार्ग बताये गए हैं। वर्तमानकालीन मानव समाज के सामने ये सारे प्रवचन दिये गए हैं।

आप इन प्रवचनों को शान्ति से पढें। पढ़कर चिंतन-मनन करें। आप क्या-क्या कर सकते हैं इसकी नोट्स करें और प्रयोगात्मक ढंग से कुछ करना शुरू करें। दैनिक जीवनचर्या में शक्य परिवर्तन करें। 'यह तो नहीं हो सकता, यह तो अशक्य है,' वगैरह निर्बल विचार नहीं करें।

मनुष्य जीवन दुर्लभ है। इस जीवन का हो सके इतना सदुपयोग कर, आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते रहें – यही मंगल कामना।

आग लोड – तीर्थ
माघ कृष्णा : १०
वि.सं. २०५०

धर्मबिन्दुः सूत्राणि

* लोकापवादभीरुता ॥७२॥
* गुरुलाघवापेक्षणम् ॥७३॥
* बहुगुणे प्रवृत्तिः ॥७४॥
* चैत्यादिपुरस्सरं भोजनम् ॥७५॥
* तदन्वेव प्रत्याख्यान-क्रिया ॥७६॥
* शरीरस्थितौ प्रयत्नः ॥७७॥
* तदुत्तरकार्यचिन्ता ॥७८॥
* कुशलभावनायां प्रबन्धः ॥७९॥
* शिष्टचरित-श्रवणम् ॥८०॥
* सांध्यविधिपालनम् ॥८१॥
* यथोचितं तत्प्रतिपत्तिः ॥८२॥
* पूजापुरस्सरं चैत्यादिवन्दनम् ॥८३॥
* साधुविश्रामण-क्रिया ॥८४॥
* योगाभ्यास इति ॥८५॥
* नमस्कारादिचिन्तनम् ॥८६॥

प्रवचन : ४८

परम उपकारी, परम कृपानिधि, आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में, श्रावक जीवन का विशेष धर्म प्रतिपादित किया है। बारह व्रतों का विशेष धर्म बताने के बाद, ग्रंथकार ने श्रावकोचित विशेष कर्तव्यों का निरूपण किया है।

'लोकापवाद भीरुता' की बात बताते हुए उन्होंने कहा : श्रावक जनापवाद को मृत्यु मानता है। हालाँकि कुलीन मनुष्य सावधान रहता है, एक भी वैसी कुत्सित प्रवृत्ति नहीं करता, कोई भी शिष्टजनमान्य व्यवहार से विपरीत व्यवहार नहीं करता है। फिर भी कोई अशुभ कर्म के उदय से अथवा अनुपयोग से जनापवाद होता है, लोकनिन्दा होती है.....तो वह कुलीन श्रावक-श्राविका को गहरा दुःख होता है। 'इससे तो मर जाना अच्छा....' ऐसा विचार उसके मन में आ जाता है। परंतु 'कर्मसिद्धान्त' को समझनेवाले एवं स्वनिरीक्षण करनेवाले सुज्ञ श्रावक-श्राविका 'आत्महत्या' जैसा गलत कदम नहीं उठाते। ग्रंथकार आचार्यदेव की प्रेरणा है कि दुनिया में तुम्हारी निन्दा हो वैसी एक भी प्रवृत्ति नहीं करें। दुनिया में सावधानी से रहें।

कम-ज्यादा लाभ का आयोजन करें :

लोकापवाद भीरुता के बाद ग्रंथकार एक नयी महत्त्वपूर्ण बात बताते हैं 'गुरुलाघवापेक्षणम्' ॥ ७३ ॥ इस छोटे से सूत्र में उन्होंने जीवन को सफल बनाने की अद्‌भुत कला बता दी है। परंतु यह बात बुद्धिमानों के लिए बतायी है। जो मूढ होते हैं, मूर्ख होते हैं, जो उचित विचार नहीं कर सकते हैं, उनके लिए यह बात नहीं है। टीकाकार आचार्यश्री ने इस सूत्र पर टीका लिखी है। उन्होंने स्पष्टता की है।

हर मनुष्य के जीवन में तीन प्रकार के प्रयोजन होते हैं -

- धर्मविषयक प्रयोजन,
- अर्थविषयक प्रयोजन,
- कामविषयक प्रयोजन।

एक साथ तीनों प्रयोजन उपस्थित होने पर पहला काम कौन-सा

करना ? धर्म का, अर्थ का अथवा काम का ? सोचना होगा । निपुणता से सोचना होगा !

जिसमें, जिस कार्य में ज्यादा लाभ होने का लगता हो, वह कार्य पहले करना होगा । जिस कार्य में कम लाभ होने का संभव हो वह कार्य बाद में करने का होता है । कम–ज्यादा लाभ का विचार एक दृष्टि से नहीं करने का होता है । अनेक दृष्टि से विचार करना होगा ।

– अपने लिये, दूसरों के लिये,
– काल–समय की दृष्टि से,
– क्षेत्र की दृष्टि से,
– मनोभावों की दृष्टि से ।

किसी भी कार्य का प्रारंभ करने से पहले बुद्धिमान् श्रावक–श्राविका इतने विचार करेंगे । और तत्काल विचार करेंगे । ऐसा नहीं कि विचार करते–करते कार्य करने का समय ही निकल जाय ।

शीघ्र निर्णय करनेवाली बुद्धि चाहिए :

– एक भाई को, जो कि बंबई में रहते है, अहमदाबाद जाना था और पूना भी जाना था । पहले पूना जाऊँ या अहमदाबाद ? सोचने लगे.....सोचते–सोचते पूना जानेवाली गाड़ी चली गई और अहमदाबाद जानेवाली गाड़ी भी चली गई ! वह शीघ्र निर्णय नहीं कर सकता है । ऐसे लोग ही दुनिया में ज्यादा होते हैं !

– एक भाई का अपनी पत्नी के साथ इसलिए झगड़ा होता रहता है कि वह भाई भोजन के विषय में शीघ्र निर्णय नहीं कर पाते । रोटी खाना है या पुड़ी खाना है । ककड़ी की सब्जी बनाना है या भींडी की । आधा घंटा विचार करने में निकल जाता है । पत्नी को पसंद नहीं....झगड़ा हो जाता है ।

– एक भाई अक्सर अपनी पत्नी के विषय में फरियाद करता है – 'बाहर जाते समय कौन–सी साड़ी पहनूँ ?' सोचते–सोचते एक घंटा निकल जाता है । कभी वह समय पर तैयार नहीं होती है ।

– एक नौकर को उसकी सेठानी एक साथ तीन काम बताकर बाजार भेजती है ! नौकर फूटपाथ पर खड़ा–खड़ा सोचता रहता है – 'पहले सब्जी लेने जाऊँ ? या पहले सेठजी को समाचार देने जाऊँ ? अथवा पहले दवाई लेने डॉक्टर

के वहाँ जाऊँ ?' आधा घंटा उसका सोचने में निकल जाता है। वह त्वरित निर्णय नहीं कर सकता है। सेठानी हमेशा उस पर क्रोध करती है।

– एक साधु–मुनिराज को एक गाँव से दूसरे गाँव विहार करना होता है तो वे तत्काल निर्णय नहीं कर सकते। निर्णय करने में दो–तीन दिन निकल जाते हैं। सुबह करना या शाम को विहार करना.....निर्णय करते–करते सूरज ढल जाता है।

तत्काल निर्णय करनेवाली बुद्धि चाहिए। मान लें कि आपमें वैसी बुद्धि नहीं है, तो दूसरे को, जिसके पास वैसी बुद्धि हो, उनको पूछे। उनकी बात माने।

धर्म–अर्थ–काम के प्रयोजनों में प्राथमिकता :

जिस प्रकार शीघ्र निर्णय करनेवाली बुद्धि चाहिए, वैसे कौन–सा कार्य पहले करना, उसका समुचित निर्णय करने की भी बुद्धि चाहिए। "किस कार्य में लाभ ज्यादा है और किस काम में लाभ कम है–लाभ का निर्णय करना चाहिए और जिस प्रवृत्ति में लाभ ज्यादा हो, वह प्रवृत्ति पहले करनी चाहिए। इसलिए ग्रंथकार आचार्यश्री ने कहा – **"बहुगुणे प्रवृत्तिः"** ।। ७४ ।।

– कभी धार्मिक प्रवृत्ति में ज्यादा लाभ दिखता हो, तो वह प्रवृत्ति करनी चाहिए।

– कभी व्यापार की प्रवृत्ति में ज्यादा लाभ दिखता हो, तो वह प्रवृत्ति करनी चाहिए।

– कभी कामपुरुषार्थ में ज्यादा लाभ दिखता हो, तो वह प्रवृत्ति पहले करनी चाहिए।

– ज्यादा लाभ का विचार कभी स्वयं को लेकर करना होता है, कभी स्वजन एवं मित्रों को लेकर करना होता है।

– ज्यादा लाभ का विचार कभी समय को लक्ष्य में लेते हुए करना होता है तो कभी व्यवहार–पक्ष को लक्ष्य में लेते हुए करना पड़ता है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्टता से समझाता हूँ।

कहाँ धर्म को प्राथमिकता दोगे ? :

आपके माता–पिता ने आपको कहा : 'यदि तुझे अनुकूलता हो तो अपन कुछ तीर्थों की यात्रा कर आएँ।' तुम्हारी पत्नी ने भी अनुमोदन किया इस प्रस्ताव का। आपको सोचना चाहिए कि इस समय तीर्थयात्रा करने जाना उचित है या अनुचित ?

अभी बाजार में मंदी है, खास व्यापार नहीं है, कोई विशेष व्यावहारिक कार्य भी नहीं है और शरीर भी स्वस्थ है.... तो तीर्थयात्रा कर लेनी चाहिए। दो बच्चों की स्कूल चालू है, परंतु बच्चों को भाई के घर छोड़ दूँगा। १० दिन में वापस आ जायेंगे।' आप तीर्थयात्रा को प्राथमिकता देते हो।

परंतु, जिस समय माता-पिता ने या पत्नी ने, तीर्थयात्रा का प्रस्ताव रखा, उस समय आपके व्यापार की सीजन चल रही है, दुकान का या ऑफिस का काम बहुत बढ़ गया है, दूसरी तरफ बच्चों की परीक्षा के दिन है, निकट के स्नेही के घर शादी का प्रसंग है.....उस समय आपको प्राथमिकता 'अर्थपुरुषार्थ' को देनी चाहिए।

भाई के वहाँ शादी का प्रसंग है। आपको निमंत्रण मिला है। भाई-भाभी चाहते हैं कि शादी का प्रसंग तुम सम्हालो। उस समय व्यापार-बिजनेस आपका बहुत अच्छा चल रहा है। आपको भोजन करने की भी फुरसत नहीं है। दूसरी ओर आपके गाँव में साधु-मुनिराज पधारे हुए हैं। बहुत अच्छा प्रवचन देते हैं। उस समय आप किस कार्य को प्राथमिकता दोगे ? आपको भाई के वहाँ के प्रसंग को प्राथमिकता देनी होगी। उस प्रसंग को निभाते हुए आप भले ही मुनिराज का प्रवचन सुनो और दुकान को भी सम्हालो।

परंतु आपके गाँव में कोई साधु-मुनिराज का स्वास्थ्य बिगड़ गया है और उनकी सेवा करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, उस समय आपको सभी कार्य छोड़कर, साधु-सेवा को प्राथमिकता देनी चाहिए।

– आपके घर पर पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में भोजन समारंभ चल रहा हो, आनन्द-प्रमोद का माहोल जमा हो....उस समय कोई सामान्य परिचयवाला और सामान्य स्थितिवाला सद्गृहस्थ आपके पास आकर कहता है : 'सेठसाहब, मेरी पत्नी 'सीरियस' है, तत्काल उसको हॉस्पिटल में भर्ती करना है, क्या आप हमें सहयोग देंगे ? आपके परिचय से शीघ्र हॉस्पिटल में जगह मिल जायेगी। कृपा करें.....हमें सहायता करें।'

उस समय आप क्या करेंगे ? भोजन समारंभ को महत्त्व देंगे या उस सद्गृहस्थ की बात को महत्त्व देंगे ?

सभा में से : उस सद्गृहस्थ को पहले सहायता करेंगे.....बाद में भोजन समारंभ.....।

महाराजश्री : अच्छी बात है आपकी । भोजन समारंभ में उपस्थित सज्जनों से निवेदन कर नम्रता से, आप उस सद्‌गृहस्थ के साथ जायेंगे और हॉस्पिटल में भर्ती कराना वगैरह कार्य करेंगे ।

– नगर में कोई उत्सव चल रहा है । लोग सुंदर वस्त्र पहनकर नगर के बाहर उद्यानों में घूमने जा रहे हैं । वहाँ गीत...नृत्य वगैरह कार्यक्रम चलते हैं.....लोग वहाँ खाते हैं, पीते हैं और आनन्द मनाते हैं । आप सुबह १० बजे ऑफिस जाने के लिए तैयार हुए हैं, आपको बच्चे कहते हैं : 'पिताजी आप शाम को ६ बजे घर आ जाना । देरी मत करना । हमको घूमाने ले चलोगे आप । मम्मी भी साथ चलेगी.....अपन सभी जायेंगे....उत्सव मनायेंगे । आप अवश्य शाम को ६ बजे आ जाना ।'

उस समय आप बच्चों को क्या और कैसा उत्तर दोगे ? ऑफिस में कितना भी काम हो, उस समय प्रेम से बच्चों को कहना चाहिए कि "अवश्य, मैं शाम को ६ बजे आ जाऊँगा घर, और अपन सभी बाहर चलेंगे ।" आपका उत्तर सुनकर बच्चे नाचने लगेंगे और तुम्हारे साथ उनकी आत्मीयता बढ़ जायेगी । कभी–कभी बच्चों की निर्दोष बातें माननी चाहिए । इससे आपके प्रति बच्चों का प्रेम बना रहेगा । तो ही आप बच्चों को अच्छे संस्कार दे सकेंगे ।

सभा में से : हम लोग तो बच्चों को धूत्कार देते हैं । उनके साथ नहीं जाते हैं.... ।

महाराजश्री : आप यदि बच्चों को धूत्कारते रहोगे तो आपके साथ आत्मीयता नहीं बन पायेगी । पड़ोसी आकर आपके बच्चों को आत्मीयता जता कर अपने साथ ले जायेगा....बच्चों की माँ भी उनके साथ जायेगी । उनका आपस में स्नेह होगा.....आगे बढ़ते बढ़ते वे लोग कहाँ तक पहुँच जायेंगे, मालुम है ? आप लोग भविष्य का विचार प्रायः नहीं करते । परिवार के विषय में गंभीरता से सोचते ही नहीं । जब परिणाम बहुत खराब आता है तब या तो रोते हो, अथवा निराश हो जाते हो ।

परिवार और कामपुरुषार्थ :

एक बात मान कर चलो, परिवार के लोगों को शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के सुख ज्यादा पसंद होते हैं । भले ही घर के लोग दो–तीन धर्मक्रिया करते हों । इसका अर्थ यह मत करना कि उनको पाँच इन्द्रियों के सुख पसंद

नहीं हैं । वे इन्द्रियविजेता बन गये हैं । ऐसा मत समझना । आप यदि विवेकी हैं और परिवार के प्रति आपका स्नेह है, तो आपको यह सोचना होगा कि यदि उनके सुखभोग में मैं साथी नहीं बनूँगा तो वे लोग मर्यादाहीन सुखभोग करने लगेंगे, मैं साथ दूँगा तो वे मर्यादा में सुखभोग करेंगे । मैं साथ दूँगा तो एक दिन अनावश्यक सुखभोग का त्याग भी करवा सकूँगा ।

एक परिवार का अधःपतन :

मैं उस परिवार को जानता हूँ ।

घर का मुख्य पुरुष बड़ा व्यापारी था । उम्र होगी ३५–३६ वर्ष की । उसकी पत्नी होगी ३०–३२ साल की । तीन संतान थे । दो लड़कियाँ और एक लड़का ।

पुरुष सरल प्रकृति का था । ग्रेज्युएट था । बड़ा व्यापार था । परमात्ममंदिर जाता था, दर्शन–पूजन करता था । परंतु उसकी तीव्र भावना अपने व्यापार के विषय में रहती थी । वह अपने घर के प्रति ध्यान नहीं देता था ।

उसके पासवाले फ्लेट में जो परिवार रहता था, उस परिवार के साथ इस परिवार का संबंध बन गया । आपस का स्नेह बन गया । उस परिवार के मुख्य पुरुष को अपन 'सुबोध' के नाम से पहचानेंगे । इस परिवार के मुख्य पुरुष को अपन रामेश्वर के नाम से जानेंगे । रामेश्वर की पत्नी को सीता कहेंगे । उस सीता का आकर्षण सुबोध की ओर बढ़ता चला । सुबोध का बिजनेस केवल चार घंटे का होता था । उसके पास बहुत समय रहता था । वह सीता के ब्लोक में जाता–आता । सीता के बच्चों को अपनी गाड़ी में घूमाने ले जाता । कभी–कभी बच्चों की पसंदगी की वस्तुएँ लाकर देता । सीता भी 'सुबोधभाई–सुबोधभाई' बोलती उनके ब्लोक में चली जाती । सुबोध की पत्नी सरल थी और उतनी रूपवती भी नहीं थी । जबकि सीता रूपवती थी और युवती थी ।

सीता रामेश्वर को भी कहती थी – 'आप घर का कुछ भी ध्यान नहीं रखते । आपसे तो पासवाले सुबोधभाई अच्छे....मेरा सभी काम बेचारे कर देते हैं ।' रामेश्वर बस, हँस देता था । उसके मन में सिवाय बिजनेस, कुछ भी नहीं रमता था । परिणाम की आप कल्पना कर सकते हैं । सुबोध के साथ सीता का शारीरिक संबंध हो गया । तीनों बच्चे स्कूल जाते, रामेश्वर ऑफिस चला जाता, घर में केवल सीता रहती थी । घर का काम कर नौकरानी भी चली जाती थी तब सुबोध सीता के ब्लोक में चला जाता । उनकी पाप–लीला शुरू हो जाती ।

सुबोध बड़ा चालाक था । सीता को पटा कर उससे करीबन् लाख रुपये भी लिये । कभी ५ हजार, कभी १० हजार...ऐसे करते करते लाख रुपये लिये । सीता सुबोध को ही अपना पति मानने लगी थी ।

परंतु एक दिन सुबोध ने भूल कर दी । सीता की बड़ी लड़की को छेड़ दिया । वैसे भी उस लड़की को सुबोध अच्छा नहीं लगता था । उसकी माँ का सुबोध के साथ ज्यादा व्यवहार भी अच्छा लगता नहीं था । जब सुबोध ने लड़की को अपने बाहुपाश में लेने का प्रयत्न किया, लड़की ने सुबोध के गाल पर एक चाँटा जड़ दिया और जोर से बोली : 'दुष्ट, दूर हट, मुझे छुना मत....अन्यथा.....'

लड़की का इतना बोलना था और उसी समय रामेश्वर का घर में प्रवेश हुआ । लड़की रामेश्वर से लिपट गई और फूट-फूटकर रोने लगी । सुबोध त्वरा से अपने ब्लोक में चला गया । रामेश्वर ने पूछा :

'बेटी, तेरी माँ कहाँ गयी है ?'

'जहन्नम में...' लड़की पाँव पटक कर, सोफा पर धप्प से बैठ गई ।

'क्या हुआ ?'

'आपने देखा नहीं अपनी आँखों से ? कौन था मेरे साथ घर में ?'

'सुबोधभाई.....'

'उस दुष्ट ने अपने घर को उजाड़ दिया है । मेरी माँ उसके वश में हो गई है । आप कभी घर का सोचते नहीं, माँ के साथ बात भी नहीं करते, वह दुष्ट माँ के साथ दो-दो, चार-चार घंटे बातें करता बैठता है....हँसते हैं दोनों और क्या-क्या करते हैं । आप पैसे के पीछे पागल हो गये हैं । पप्पा....आज वह दुष्ट घर में मुझ अकेली को देख कर चला आया था । मुझे पकड़ने आगे बढ़ा कि मैंने उसके गाल पर एक चाँटा कस दिया और आप आ गये.....'

रामेश्वर गहरे विचारों में डूब गया । वह लड़की के पास जाकर बैठा और बोला : 'मेरी बहुत बड़ी भूल हो गई है बेटी.... अब मैं भूल को सुधारता हूँ । जो कुछ भी बिगड़ा है, मेरी वजह से बिगड़ा है । न तेरी माँ की भूल है, न उस सुबोध का दोष है । अब मैं बिगड़ी हुई बात को सुधारूँगा ।'

– पहला काम उसने घर बदलने का किया ।

– दूसरा काम अपनी पत्नी को समझाने का किया ।

– तीसरा काम सुबोध को चेतावनी देने का किया ।

– चौथा काम परिवार के साथ बैठने का, घूमने का और घर के कार्य करने का किया ।

– पाँचवा काम घर के लोगों पर निगरानी रखने का किया ।

– ऑफिस जाने का समय निश्चित कर दिया । शाम को ६ बजे घर आने लगा । अर्थपुरुषार्थ को कम महत्त्व देकर, कामपुरुषार्थ को महत्त्व दिया । तब परिवार का पतन से पुनरुत्थान हुआ ।

धर्मपुरुषार्थ को उचित स्थान दो जीवन में :

अब मैं आपको दूसरी एक सच्ची घटना बताता हूँ । अभी की यह घटना है, ४/५ साल में घटी हुई । गुजरात के एक बड़े शहर में वह महानुभाव रहते हैं । अपन उनको 'गौरव' के नाम से जानेंगे । गौरव के पास दो करोड़ रुपये होंगे । सुंदर पत्नी है और अच्छे बच्चे हैं । वह परिवार के साथ अच्छा व्यवहार करता है । पत्नी और बच्चे उससे संतुष्ट हैं । गौरव भी परिवार से एवं अपने धंधे से संतुष्ट है । परंतु एक दिन उसके मन में उदासी भर आयी । वह ऑफिस नहीं गया । घर में बैठा रहा । पत्नी को कहा : 'आज मुझे अच्छा नहीं लगता है ।' पत्नी उसको गाड़ी में बिठाकर घूमाने ले गयी । घूमते समय उसकी उदासी कम हुई...परंतु घर पर आते ही पुनः बेचैनी बढ़ गई ।

दो दिन, चार दिन, आठ दिन.....बेचैनी बढ़ती चली । नहीं करने के विचार आने लगे । आत्महत्या कर मर जाने का विचार आने लगा । डॉक्टरों को बताया । डॉक्टरों ने कहा : यह शारीरिक रोग नहीं है, मानसिक रोग है...उसका नाम है 'डिप्रेशन' । इस रोग की कोई दवाई अभी तक निकली नहीं है । फिर भी रोग कंट्रोल में रहे, वैसी दवाई दे सकते हैं ।' दूसरे डॉक्टर ने कहा : "वह दवाई लेने से 'साइड इफेक्ट' खराब होगी ।" गौरव ने दवाई नहीं ली । उसकी बेचैनी बहुत बढ़ गई । भाई, बहन, माता, पिता, पत्नी, भागीदार.....सभी लोग घबरा गये । चिन्तामग्न हो गये । कोई उपाय नहीं मिल रहा था ।

मेरे परिचित एक भाई का गौरव दोस्त था । उसने गौरव को कहा : 'चल, मैं तुझे एक महाराज सा. के पास ले चलता हूँ । तुझे अच्छा हो जायेगा ।' पहले तो गौरव ने इनकार कर दिया, परंतु बाद में वह मान गया । मेरे पास आया।

मैंने उसके मुँह से सारी बातें सुनी । शान्ति से दो घंटे तक सुनता रहा और

संवेदना जताता रहा। बाद में मैंने कहा : 'तुझे अच्छा हो जायेगा।' उसके मुँह पर आशा की रोशनी फैल गई। निराशा का अंधेरा दूर हो गया। मैंने बाद में उसको जीवन में धर्मपुरुषार्थ का महत्त्व समझाया।

– परमात्मा की पूजा कैसे करना, उस समय कौन–से विचार करना, वगैरह बताया। भावपूजा करने का मार्गदर्शन दिया।

– 'सामायिक' और मंत्रजाप बताया।

– कौन–सी किताबें पढ़ना, किताबों का लिस्ट दिया।

– माता–पिता का और पत्नी का दिल नहीं दुःखाने की हितशिक्षा दी।

– बच्चों के साथ हँसी–मजाक करते हुए उनसे अच्छी बातें कहने को कहा।

– किसी भी बात की चिंता नहीं करते हुए, 'कर्मवाद' पर विश्वास करने को कहा।

– दीन, अनाथ, अपंग, अंधजनों को भोजन देने का उपदेश दिया।

उसने सारी बातें मान ली। उसकी उदासी तीसरे दिन ही दूर हो गई। उसका 'डिप्रेशन' दूर हो गया। आज वह उसी प्रकार जीवन में धर्मपुरुषार्थ करता हुआ, अपना गृहस्थ जीवन आनंद से जी रहा है।

भले ही आपके पास लाखों–करोड़ों रुपये हों और भले ही अच्छा परिवार हो, परंतु यदि जीवन में धर्म को स्थान नहीं दोगे, तो मन का समाधान नहीं हो सकेगा। और, मन का समाधान करना अति आवश्यक होता है। संसार में समस्याओं का तो अंत ही नहीं है। नयी नयी समस्याएँ पैदा होती रहती है.....यदि समस्याएँ सुलझती नहीं है तो मनुष्य अशान्त, बेचैन और व्यग्र बन जाता है। नहीं करने का काम कर देता है। दुःखी हो जाता है। परिवार को भी दुःखी कर देता है।

यदि आपके पास तत्त्वज्ञान होगा, परमात्मा के प्रति श्रद्धा होगी, ज्ञानी और चारित्रवंत साधुपुरुषों का परिचय होगा, तो आपके मन की समस्याओं का, प्रश्नों का समाधान मिलता रहेगा। 'श्रीपालचरित्र' में आपने मयणासुंदरी का एवं श्रीपाल का चरित्र पढ़ा हैं न ? सुना भी होगा। उस चरित्र में से आपने क्या 'सार' ग्रहण किया ?

– मयणासुंदरी की शादी उसके पिता राजा ने एक कुष्ठ रोगी युवक से कर दी थी। राजकुमारी मयणासुंदरी ने बिना रोष–रीस किये, समताभाव से कुष्ठ

रोगी का पति के रूप में स्वीकार कर लिया था। यह एक समस्या थी मयणासुंदरी की। परंतु उसके पास

– तत्त्वज्ञान था,

– परमात्म–श्रद्धा थी,

– सद्‌गुरु का परिचय था।

– तत्त्वज्ञान से उसने अपने मन का समाधान किया था,

– परमात्मा–श्रद्धा से उसने अपने पति को आश्वस्त किया था, और

– सद्‌गुरुदेव मुनिचन्द्रसूरिजी से सिद्धचक्र महायंत्र की आराधना–उपासना पा कर, पति का कुष्ठ रोग मिटा दिया था। पति श्रीपाल के हृदय में 'सिद्धचक्र महायंत्र' की प्रतिष्ठा कर दी थी।

बाद में, विदेशयात्रा के दौरान श्रीपाल के जीवन में अनेक विकट प्रश्न उठे थे। प्राणांत कष्ट आये थे। परंतु श्रीपाल उसमें फँसे नहीं थे। चूँकि उसके पास सिद्धचक्र की आराधना थी। दृढ़ विश्वास था। यानी सिद्धचक्र का ध्यान करने से, उस महायंत्र के अधिष्ठायक देव 'विमलेश्वर' उनके सामने प्रकट होते थे। उनके विघ्न दूर हो जाते थे। वे जो चाहते थे, वह हो जाता था। सिद्धचक्र की उपासना का श्रेष्ठ धर्म था उनके पास। करोड़ों रुपये थे, अनेक रानियाँ थी, परंतु 'धर्म' को उन्होंने छोड़ दिया नहीं था, धर्म को मृत्युपर्यंत अपने हृदय में रखा था।

अर्थपुरुषार्थ की उपेक्षा नहीं करें :

एक बात आपको नहीं भूलना है। आप एक गृहस्थ हैं। गृहस्थ जीवन में पैसे का महत्त्व उतना ही है, जितना जीवन में हवा और पानी का महत्त्व है। इसलिए ज्ञानी पुरुषों ने समुचित अर्थपुरुषार्थ करने के लिए उपदेश दिया है। न्याय, नीति और प्रामाणिकता से अर्थोपार्जन करना चाहिए।

कुछ वर्ष पूर्व एक मूर्ख मुझे मिला था। उसने किसी मुनिराज के प्रवचन में सुना था–"सभी अनर्थों का मूल अर्थ है।" उस मूर्ख ने धंधा छोड़ दिया। नौकरी छोड़ दी। घर पर गया, उसकी पत्नी ने पूछा : 'आज नौकरी पर नहीं जाना है क्या ? समय तो हो गया जाने का।' उसने कहा : "कल मैंने प्रवचन में सुना कि 'सभी अनर्थों का मूल अर्थ है।' इसलिए मैंने पैसा नहीं कमाने का निर्णय कर लिया है।" पत्नी ने कहा : 'तो फिर घर कैसे चलेगा ? पैसे के बिना खाओगे कैसे ?

कपड़े कहाँ से लाओगे ? कमरे का किराया कैसे दोगे ? कुछ समझते हो या नहीं ? साधुओं के प्रवचन सुन कर पागल हो गये हो क्या ? पैसे के बिना गृहस्थ पशु समान कहा गया है.....जाओ नौकरी पर, और आज से कभी प्रवचन सुनने नहीं जाने का है । यदि गये तो मैं मेरे मायके चली जाऊँगी ।

बाद में वह नौकरी करने लगा । जब मुझे मिला तब सारी कहानी सुनायी । मैंने उसको कहा – 'अर्थ की अत्यधिक स्पृहा अनर्थों का मूल है । आजीविका कमाना तो गृहस्थ का कर्तव्य है ।' विस्तार से सारी बात समझायी, तब जाकर उसके मन का समाधान हुआ ।

यदि आपकी आर्थिक परिस्थिति अच्छी नहीं है, बिगड़ी हुई है, तो आप अर्थपुरुषार्थ को प्रधानता दें, प्राथमिकता दें । धर्मपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ को गौण करें । अर्थहीन अवस्था मनुष्य को भ्रमित कर देती है । कहा गया है कि 'बुभुक्षितो किं करोति न पापम् ?' भूखा मनुष्य कौन–सा पाप नहीं करता है ? वैसे दरिद्रता मनुष्य के पास कौन–सा पाप नहीं करवाती है ? मनुष्य की दरिद्र अवस्था, सबसे ज्यादा खराब अवस्था है । दरिद्रता, अर्थाभाव....गरीबी मनुष्य के पास

– चोरी करवाती है,
– हिंसा करवाती है,
– असत्य बुलवाती है,
– क्रोध करवाती है,
– माया–कपट करवाती है.....
– आत्महत्या भी करवाती है ।

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह सुयोग्य अर्थोपार्जन का प्रयत्न करे । फिर भी पापकर्म का, अन्तराय कर्म का प्रबल उदय हो और अर्थप्राप्ति नहीं ही होती है, तो धर्म के चरणों में जीवन समर्पित कर दें । आत्मकल्याण का मार्ग ले ले।

'अप्पेण बहुमेसेज्जा' :

बुद्धिमान् पुरुष का यह लक्षण है कि वह अल्प प्रयत्न से ज्यादा प्राप्ति का उपाय करता है । अलबत्ता, अर्थप्राप्ति में प्रधान कारण 'लाभान्तराय कर्म' का क्षयोपशम होता है, परंतु पुरुषार्थ भी कम महत्त्व का कारण नहीं है । बुद्धिपूर्वक ऐसा उपाय वह करता है कि प्रयत्न कम करना पड़े और प्राप्ति ज्यादा हो । हाँ, उस प्रयत्न में अन्याय, अनीति और बेईमानी नहीं होनी चाहिए ।

किस कार्य में लाभ ज्यादा है और किस कार्य में लाभ कम है – इस विषय में पर्यालोचन करना चाहिए। वैसे लाभ और नुकसान के विषय में भी निपुण बुद्धि से सोचना चाहिए। 'इस समय मैं धर्म–अर्थ और काम – इन तीन पुरुषार्थों में से कौन–सा पुरुषार्थ करूँ, तो मुझे लाभ हो और कौन–सा पुरुषार्थ करूँ तो मुझे नुकसान हो सकता है ?' सोचना होगा। जिस समय, जिस क्षेत्र में जो पुरुषार्थ करने से ज्यादा लाभ होता है, वही पुरुषार्थ करना चाहिए।

सभा में से : तीनों पुरुषार्थ में धर्मपुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है न ?

महाराजश्री : श्रेष्ठ है, इसमें भी साधुधर्म का पुरुषार्थ सर्वश्रेष्ठ है.....वही कर लेना चाहिए। और साधुधर्म का स्वीकार कर लोगे तो अर्थपुरुषार्थ स्वतः छूट जायेगा। कामपुरुषार्थ मर्यादित हो जायेगा। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के मर्यादित विषयों का भोगोपभोग करना होगा।

परंतु गृहस्थावास में रहना है तो तीनों पुरुषार्थ में संतुलन बनाये रखना होगा। गृहस्थ जीवन में अर्थ और काम के बिना चल सकता है क्या ? गृहस्थ श्रावक, हम साधुओं की तरह भिक्षा माँग कर गुजारा नहीं कर सकता है। उसको अपनी आजीविका का पुरुषार्थ करना ही पड़ता है। और यदि कामपुरुषार्थ की इच्छा ही नहीं है, पाँच इन्द्रियों के विषय–सुखों की स्पृहा ही नहीं है, तो फिर गृहस्थावास में रहना ही क्यों ? साधु बन जाना चाहिए।

यहाँ पर ग्रंथकार आचार्यदेव विवेक बताते हैं। तीन पुरुषार्थ में से किसी भी पुरुषार्थ को क्षति न हो, समताभाव से जीवनयात्रा चलती रहे, इस विषय में समुचित मार्गदर्शन देते हैं। आपके अर्थ–काम के पुरुषार्थ की अनुमोदना नहीं करते हैं। चित्त की शान्ति, समता और समाधि तभी रहेगी, जब आप तीनों पुरुषार्थ को संतुलित बनाये रखेंगे। उस–उस काल में और उस–उस अवस्था में जो पुरुषार्थ ज्यादा लाभदायी लगता हो, वह पुरुषार्थ किया करें। अर्थपुरुषार्थ के समय शेष दो पुरुषार्थ नही करें, धर्मपुरुषार्थ के समय शेष दो पुरुषार्थ नहीं करें और काम पुरुषार्थ के समय शेष दो पुरुषार्थ नहीं करें।

आप श्रावक–श्राविकाएँ हैं। आपका चित्त तो विरक्त–विरागी होना चाहिए। विरक्त चित्त से किये हुए अर्थ–काम के पुरुषार्थ, अल्प कर्मबंध करवाते हैं। चित्त को विरक्त बनाये रखना।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ४९

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर, आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या बताते हुए कहते हैं :

चैत्यादिपूजापुरःसरं भोजनम् ॥ ७५ ॥

मध्याह्नकाल में, भोजन करने के पहले तीन कार्य करने के होते हैं –

१. जिनप्रतिमा की पूजा,

२. साधु–साध्वी को सुपात्रदान, और

३. साधर्मिक भाई–बहनों की भक्ति ।

जिनप्रतिमा की पूजा :

पहली बात तो यह है कि वर्तमान समय में आप लोग परमात्म–पूजा प्रायः प्रभात काल में ही करते हैं, मध्याह्नकाल में, भोजन के पूर्व परमात्म–पूजा नहीं करते हो। संयोगवश, परिस्थितिवश कभी मध्याह्नकाल में करते होंगे, परंतु दैनिक कार्यक्रम में, पूजा करनेवाले लोग प्रभात में ही करते हैं । यहाँ ग्रंथकार महर्षि ने भोजन के पहले परमात्म–पूजा वगैरह तीन पवित्र कार्य करने का निर्देश किया है । भोजन के साथ तीन बातों को जोड़ दी है । 'चैत्यादिपूजापुरस्सरं भोजनम्' कहा है । केवल भोजन का निर्देश कर सकते थे । नहीं किया वैसा निर्देश । परंतु कहा :

– पुष्प, धूप, दीपक आदि से जिनप्रतिमा की पूजा करें,

– साधु–साध्वी की पूजा, उनको उचित भिक्षा, पानी देकर करें,

– साधर्मिक भाई–बहनों को उचित भोजन प्रदान करने रूप पूजा करें, और बाद में आप भोजन करें । इस प्रकार यदि आप लोग भोजन करें तो भोजन करते समय भी आपके विचार भोजन के नहीं होंगे, विचार होंगे परमात्मा के, साधुपुरुषों के अथवा साधर्मिकों के पवित्र विचारों के साथ किया हुआ भोजन तन–मन को निरोगी बनाता है और "आहारसंज्ञा" से बचा लेता है, भोजन करते समय जो भोजन के विचार नहीं करते हैं, देव–गुरु के विचार करते हैं, वे भोजन करते हुए भी उपवासी कहलाते हैं । वे अशुभ कर्म नहीं बाँधते, शुभ कर्म का बंधन करते हैं ।

क्या ये तीन बातें आप लोगों के जीवन में संभवित हैं ? आप लोगों की दिनचर्या ही बदल गई है । व्यवसाय का समय बदल गया है ।

वर्तमानकाल की समस्याएँ :

ये तीन बातें तभी संभव हो सकती है जब जिनमंदिर पास में ही हो अथवा आपके घर में ही मंदिर हो । यदि आपके आसपास ही उपाश्रय हो और वहाँ साधु–मुनिराजों का आना–जाना रहता हो । यदि आपके आसपास ऐसे साधर्मिक बसते हों कि जो आपके घर आकर भोजन ग्रहण करनेवाले हों । महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भोजन के समय आप निवृत्त हों । उतना समय हो आपके पास कि आप ये तीन काम कर सको । ये तीन काम करने की भावना भी होनी चाहिए न ? आपकी भावना होनी चाहिए, साथ में आपकी श्रीमतीजी की भी भावना होनी चाहिए । रोजाना साधु को भिक्षा देना और साधर्मिक को भोजन करवाना, सुपात्रदान की उत्कृष्ट भावना के बिना संभव नहीं है ।

– जो महानुभाव मंदिर से दूर रहते हैं, पास में मंदिर नहीं होता है, उनके लिए भोजन के पूर्व जिनपूजा करना मुश्किल होता है । प्रायः नहीं कर सकते पूजा ।

– जहाँ पास में उपाश्रय नहीं होता है वहाँ साधु–साध्वी का आना–जाना नहीं होता है । ऐसी जगह में रहने से सुपात्रदान का लाभ नहीं मिलता है । कभी–कभार साधु भिक्षा लेने आ जायं.....वह अलग बात है ।

– जहाँ सुखी–संपन्न जैन परिवार बसते हैं, वहाँ यदि आप रहते हो, तो रोजाना आपको साधर्मिक भक्ति का लाभ नहीं मिल सकता है । रोजाना कौन आयेगा आपके वहाँ भोजन करने ?

– जिनकी दुकान अथवा ओफिस घर से बहुत दूर होती है, वे लोग तो सुबह ही नौ या दस बजे चले जाते हैं घर से, दोपहर में वे भोजन करने घर भी नहीं आते ! उनका 'टीफीन' दुकान या ओफिस में पहुँच जाता है अथवा वे लोग स्वयं टीफीन लेकर ही घर से निकलते हैं । ऐसे लोग भोजन के पूर्व जिनपूजा वगैरह तीन धर्मकृत्य कैसे कर पायेंगे ?

– बंबई जैसे बड़े शहरों में इस प्रकार धर्मकार्य करना बड़ा मुश्किल होता है । हाँ, जो लोग निवृत्त होते हैं, जिनको घर में ही रहना होता है, पास में जिनमंदिर होता है, पास में ही उपाश्रय होता है और उपाश्रय में साधु–साध्वी का आना–जाना रहता है, आसपास दुःखी साधर्मिक रहते हैं, तब तो इन कर्तव्यों का पालन हो सकता है ।

सभा में से : निवृत्त पुरुषों की भावना होनी चाहिए न इस प्रकार भोजन करने की ? ज्यादातर निवृत्त पुरुषों को धर्मकार्यों में रस नहीं होता है ।

महाराजश्री : भावना तो प्रमुख तत्त्व है । सानुकूल संयोग मिलने पर भी यदि भावना नहीं होती है तो मनुष्य सानुकूल संयोगों का लाभ नहीं उठा सकता है । धर्मकार्य करने की शक्ति होने पर भी, यदि भावना नहीं होती है तो मनुष्य धर्मकार्य नहीं करता है । देखते हैं प्रत्यक्ष ऐसे लोगों को ।

प्राचीन ऋषि–मुनियों ने कहा है कि भोजन करते समय आपका मन शान्त होना चाहिए । रहता है आपका मन शान्त ? नहीं, व्यग्रता उग्रता और क्लेश–संताप स्वाभाविक बन गया है न ? आपको शायद यह पसंद भी नहीं होगा । परंतु इस व्यग्रता वगैरह से बचने का आपका संकल्प भी नहीं है न ? यदि संकल्प होता तो आप उपाय खोजते ! 'मुझे भोजन करते समय शान्ति चाहिए । मन शान्त चाहिए, वाणी भी शान्त चाहिए और दूसरों के साथ व्यवहार भी मधुर चाहिए ।' ऐसा संकल्प होना आवश्यक है । और, यदि आप लोग ऐसा संकल्प कर, भोजन के पूर्व जिनपूजा करना शुरू करें, साधुपुरुषों को भिक्षा देना शुरू करें और कम से कम एक साधर्मिक को भी आदरसहित भोजन कराना शुरू कर दें ! आपका संकल्प पूर्ण होगा । भोजन करते समय आपको शान्ति का अनुभव होगा ।

तीन कर्तव्यों का पालन आनंद से करें :

परंतु जिनपूजा करते समय आपका चित्त आनन्दित, शरीर रोमांचित और वाणी स्नेह–सिंचित होनी चाहिए । 'भोजन का समय हो गया है, जल्दी जल्दी पूजा कर लूँ.....भोजन करके जल्दी मुझे बाहर जाना है ।' इस प्रकार पूजा करने से शान्ति नहीं मिल सकती है । परमात्मा के प्रति आन्तर–प्रीति चाहिए । प्रीति से पूजा होनी चाहिए । पूजा करते समय 'भोजन' याद नहीं रहना चाहिए । पूजा करते समय – 'मुझे साधु–मुनिराज को भिक्षा के लिए बुलाने जाना है' यह बात भी स्मृति में नहीं आनी चाहिए । मुझे एक साधर्मिक को भोजन के लिए निमंत्रित करना है,' यह बात भी नहीं सोचनी चाहिए । सिवाय परमात्मा, दूसरा कोई विचार नहीं करना है ।

सभा में से : हमें तो अशुभ विचार भी आ जाते हैं, मंदिर में !

महाराजश्री : अशुभ विचारों को रोकने के उपाय किये ? परमात्मा के अलावा शुभ विचार भी नहीं करने हैं, तो फिर अशुभ विचार कैसे करते हो ? कहते हो, 'आ जाते हैं' तो रोकने के उपाय करने चाहिए। घर में कुत्ता आ जाता है तो रोकते हो न ? वैसे अशुभ विचारों को रोकने का उपाय करें। श्रेष्ठ उपाय है परमात्म–प्रीति ! परमात्मतत्त्व के प्रति स्नेह बाँध लेना चाहिए। स्नेह बन जायेगा तब पूजा में, भक्ति में आनंद आयेगा। वह आनन्द आपकी मानसिक व्यग्रता, उग्रता वगैरह विकृतियों को मिटा देगा।

वैसे ही मुनिराज को भिक्षा देते समय आपका चित्त उल्लसित होना चाहिए। चित्त तभी उल्लसित होगा, जब मुनिराज के प्रति आपके हृदय में स्नेह होगा, प्रीति होगी। 'साधुता' आपको प्रिय होगी। 'साधुता' आपका आदर्श होगा। साधु से प्रीति होगी तो साधु को भिक्षा देने में आनन्द का अनुभव होगा ही।

साधु से प्रीति होनी चाहिए गुणों के माध्यम से। दूसरा कोई माध्यम नहीं होना चाहिए। साधु का दर्शन भी गुणों के माध्यम से किया करो। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र....., इन गुणों के माध्यम से साधुओं का दर्शन करते रहो। मान लो कि ये गुण किसी साधु में नहीं हैं, अल्प प्रमाण में हैं, तो भी उसमें आप गुणों का आरोप कर, दर्शन करते रहो।

पाषाण की मूर्ति में हम गुणों का आरोप कर, उसको परमात्मा मान सकते हैं, गुरु मान सकते हैं, तो जीवंत व्यक्ति में, जीवंत मनुष्य में गुणों का आरोप कर, उसके प्रेम से दर्शन नहीं कर सकते क्या ? और, गुण जो होते हैं, आँखों से देखे नहीं जाते हैं ! गुण देखने के लिए दिव्य दृष्टि चाहिए। गुणदृष्टि चाहिए। दोषदृष्टिवाले लोग, गुणवान् पुरुषों में भी दोषदर्शन करते हैं। दोषों का आरोप करते है।

गुणों का आरोप करें :

मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि यदि आप मनुष्य में दोष का आरोप कर उसका तिरस्कार कर सकते हैं, तो फिर मनुष्य में गुण का आरोप कर, उससे मैत्रीपूर्ण व्यवहार क्या नहीं कर सकते ? अवश्य कर सकते हैं। परंतु आपके दिमाग में यह बात ही नहीं आयी है। साधुपुरुषों में २७ गुणों का आरोप कर, उनका दर्शन करें, उनको भिक्षा दें। जिनमूर्ति में तीर्थंकर के १२ गुणों का आरोप करते हैं वैसे साधुपुरुषों में २७ गुणों का आरोप करें। यदि आपको २७ गुणों के नाम मालुम नहीं हैं तो कोई बात नहीं, १७ गुणों का आरोप करें।

– साधुपुरुष पाँच आश्रवों से विरत हैं।

– साधुपुरुष पाँच इन्द्रियों के विजेता हैं।

– साधुपुरुष चार कषाय के निग्रह करनेवाले हैं, और

– साधुपुरुष मन–वचन–काया के तीन दंड से विरत हैं।

समझे न ?

सभा में से : 'आश्रव' क्या होते हैं ?

महाराजश्री : मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद – ये पाँच आश्रव होते हैं। कर्मबंध के ये प्रमुख कारण हैं। इसलिए इन पाँचों को 'आश्रव' कहते हैं। साधु–मुनिराज आश्रवों से मुक्त होते हैं। अल्प आश्रव होते हुए भी वे आश्रवमुक्त कहलाते हैं। वैसे वे पाँचों इन्द्रियों को संयम में रखनेवाले होते हैं। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श – इन्द्रियों के ये विषय हैं। किस विषय को ग्रहण करना, किस विषय को नहीं ग्रहण करना, यह विवेक उनमें होता है। क्रोध–मान–माया और लोभ – ये चार कषाय हैं। साधुपुरुष कषायों के वश नहीं होते। कषाय हो जाने पर वे शीघ्र उपशान्त हो सकते हैं। अशुभ विचार, अशुभ वाणी एवं अशुभ शरीरप्रवृत्ति वे नहीं करते हैं। इसलिए वे तीन दंड से विरत माने गये हैं। आप साधुओं में आरोप करें इन १७ गुणों का और उनको भाव से, सद्भाव से भिक्षा दिया करो।

सभा में से : हम लोग तो दोष ही देखते हैं साधुपुरुषों के।

महाराजश्री : इससे नुकसान आपको हो रहा है, साधुओं को नहीं। साधुओं के ही नहीं, गृहस्थों के भी दोष नहीं देखने के हैं। दोषदर्शन से पापकर्मों का बंधन होता है। दोषदर्शन से मन में द्वेष पैदा होता है। साधुओं के दोष देखनेवालों के मन में साधुओं के प्रति द्वेष रहता है, सद्भाव–प्रेम–भक्ति नहीं रहती है। साधु–मुनिराज भिक्षा लेने उनके घर चले भी जायेंगे, तो वे लोग या तो भिक्षा देंगे नहीं, अथवा देंगे तो दुर्भाव से देंगे।

दोषदर्शन में बुद्धिमत्ता नहीं :

कुछ लोग जो कि अपने आपको बुद्धिमान् समझते हैं, वे साधु–पुरुषों के दोष देखते रहते हैं, दोषानुवाद करते रहते हैं एवं अखबारों में दोषालेखन करते रहते हैं। कौन समझाये उनको ? ऐसा करने से वे कैसे–कैसे पापकर्म बाँधते रहते हैं और अपने मन को दूषित करते हैं.....। दूसरे लोगों को ये बुद्धिमान्

साधुपुरुषों के प्रति दुर्भावनावाले बनाने का प्रयत्न करते हैं । ऐसे साधुनिंदक, साधु समालोचक लोग तीव्र पापकर्म बाँधकर, इसी जन्म में घोर दुःख पाते हैं ।

गुजरात के एक बड़े शहर में ऐसा ही साधुद्वेषी श्रीमंत रहता था । मिलमालिक था । पैसे का बड़ा अभिमान था । पैसे का अभिमान ही साधुनिंदा करवाता है ज्यादातर ! गरीब मनुष्य साधुनिंदा प्रायः नहीं करेगा । हाँ, यदि गरीब श्रीमंत का चमचा होगा और श्रीमंत यदि साधुद्वेषी होगा तो वह गरीब हाँ में हाँ करनेवाला होगा । वह भी साधुनिन्दा करनेवाला बनेगा ।

वह श्रीमंत घर में और बाहर साधुनिन्दा करता ही रहता था । उसके मन में साधुओं के प्रति द्वेष हो गया था । परंतु जब मैंने उनको उनकी उत्तरावस्था में.....वृद्धावस्था में देखा था तब उसको जीभ का लकवा हो गया था । वह बोल नहीं सकता था । क्या पता, उसको अपनी बड़ी भूल का खयाल आ गया होगा.....उसकी आँखों में से आँसू बहने लगे थे । दो हाथ जोड़कर जैसे कि वह क्षमायाचना कर रहा था । कभी कभी उग्र पाप का फल इसी जन्म में भी प्राप्त होता है । इसलिए तीव्र भाव से पाप नहीं करने का तीर्थंकरों ने उपदेश दिया है ।

सभा में से : हमने दोष प्रत्यक्ष देखा हो, फिर भी नहीं बोलने का ?

महाराजश्री : हाँ, फिर भी नहीं बोलने का । कभी आँखें भी धोखा देती है । केवल बाह्य आचरण देखकर 'यह अच्छा है,' यह बुरा है, निर्णय नहीं करना चाहिए । मनुष्य की अच्छाई या बुराई केवल उसके बाह्य आचरण से मापी नहीं जा सकती है । और अपन कौन होते हैं दूसरों की अच्छाई-बुराई का निर्णय करनेवाले ? दुनिया के काजी बनने से पूर्व अपन अपना स्वयं का आंतर निरीक्षण करें । अपन कहाँ हैं ? Where we are ? अपन कैसे हैं ? जो स्वयं दोषों से भरे हुए हैं, उनको दूसरों के दोष बोलने का कोई नैतिक अधिकार नहीं होता है ।

साधुनिंदक स्वयं कैसे हैं ? :

आज-कल वाणी-स्वातंत्र्य के युग में, जिस मनुष्य को जो बोलना होता है बोल देता है । प्लेटफार्म मिलना चाहिए उसको । बोलने की कला होनी चाहिए, बस, फिर दोषानुवाद शुरू हो जाता है । साधुनिन्दा करनेवालों को कौन रोकता है ? मैंने एक बड़े शहर में सुना था कि एक श्रीमंत ने जाहिर सभा में साधुओं की कड़ी आलोचना की है । उस श्रीमंत का

एक मित्र मेरा परिचित था। एक दिन जब वह मिलने आया, वंदन कर विनय से बैठा। मैंने उसको उसके मित्र के विषय में पूछा, 'उसका जीवन कैसा है ? वह जैन है न ?' उसने मुझे कहा : 'महाराजश्री, मेरा वह मित्र है, परंतु मैं उसको जैन नहीं मानता, श्रावक नहीं मानता। वह रात्रिभोजन करता है, अभक्ष्य खाता है, रात्रि में सोने से पहले थोड़ा पीता है। पत्नी है और उसकी प्रेयसी भी है। ज्यादा क्या कहूँ ? धनवान् है, इसलिए लोग उसको मान देते हैं....।'

आप लोग समझ गये ना ? जो स्वयं दुराचारी, अनाचारी, व्यभिचारी होते हैं, वे प्लेटफार्म के ऊपर चढ़कर साधुपुरुषों की कटु आलोचना करते हैं। कैसे बेशर्म लोग होते हैं ? क्या समझते होंगे वे अपने आपको ? इसलिए मैं आप लोगों को कहता हूँ कि आप लोग कभी भी साधुनिन्दा नहीं करें। जहाँ साधुनिन्दा होती हो वहाँ बैठो भी नहीं। साधुनिंदा में अनुमति भी नहीं दें।

निन्दा करनी हो तो स्वयं की करो। दोष बोलने हों तो स्वयं के बोलो। दूसरों की निन्दा करनेवालों को आप अच्छा नहीं समझे। निन्दक लोगों को सद्‌गृहस्थ नहीं समझे। जो सद्‌गृहस्थ होगा, श्रावक होगा, वह कभी परनिन्दा नहीं करेगा। साधुनिन्दा तो नहीं, गृहस्थनिन्दा भी नहीं करेगा। पापी के पाप भी नहीं बोलेगा।

साधर्मिक प्रेम से साधर्मिक भक्ति :

श्रावक, जो उद्‌बुद्ध होता है वह समझता है कि सभी छद्‌मस्थ जीव अनंत दोषों से भरे हुए होते हैं। जब तक आत्मा सर्वज्ञ वीतराग नहीं बनती है तब तक अनन्त कर्म और अनन्त दोष आत्मा में होते ही हैं। फिर भी तीर्थंकरों ने दोषदर्शन नहीं करने का उपदेश दिया है। दूसरों के दोष नहीं, गुण देखने का उपदेश दिया है। दोष स्वयं के देखने को कहा है।

यदि साधर्मिक वैसे श्रावक–श्राविका की भक्ति करना है तो उनके भी दोष नहीं देखना है। दोष देखने से उनके प्रति प्रेम–वात्सल्य का भाव नहीं जगेगा। और यदि साधर्मिक के प्रति प्रेम–वात्सल्य नहीं होगा तो उसकी भक्ति कैसे करोगे ? प्रेम....स्नेहभाव के बिना भक्ति नहीं हो सकती है। आपके हृदय में साधर्मिकों के प्रति स्नेहभाव है क्या ? मैत्रीभाव है क्या ? साधर्मिकों का हित करने की भावना है क्या ? जरा भीतर में देखो। अपने आपको टटोलो। भोजन के पूर्व, साधुओं को भिक्षा देना है, साधर्मिकों को भोजन देना है, तब ये सारी बातें सोचनी पड़ेगी।

मेरा तो आप लोगों से अनुरोध है कि आप भले ही साधुओं को भिक्षा नहीं

दे सकें और साधर्मिकों को भोजन नहीं दे सकें, परंतु उनकी निन्दा तो कभी नहीं करें। उनके दोष नहीं देखें और दोषानुवाद नहीं करें। धर्म और अध्यात्म के मार्ग में जीवद्वेष, जीवनिन्दा...जीवतिरस्कार जैसे पापों को स्थान ही नहीं हैं।

हितदृष्टि से, किसी परिचित व्यक्ति को उसके दोष बता कर, उसको सुधारना है तो उस व्यक्ति को एकान्त में, प्रेमभाव से उसका दोष बताइए। दोष दूर करने का उपदेश दीजिए। मान लो कि उसने आपका उपदेश नहीं ग्रहण किया और पुनः पुनः उस दोष का सेवन करता रहता है, तो आप अपने मन में उपेक्षा-भाव धारण कीजिए, उसकी निन्दा नहीं करें।

सभा में से : हमारी हितशिक्षा नहीं माननेवाले की निन्दा तो हम करते ही हैं.....

महाराजश्री : इसलिए तो मैं आप लोगों को समझा रहा हूँ। हमारे सामने भी निन्दा करते हो न ? 'लड़के को बहुत समझाया.....परंतु वह दुष्ट मित्रों का संग नहीं छोड़ता है, नाइट-क्लबों में जाना बंद नहीं करता है.....' वगैरह बातें करते हो न ? किसकी निन्दा नहीं करते हो ? माता की ? पिता की ? भाई की ? बहन की ? मित्र की ? साधुओं की ? सभी की निन्दा करते हो न ? केवल स्वयं की निन्दा नहीं करते ! चूँकि स्वयं तो सर्वगुणसंपन्न हो !

धर्मस्थानों में जीवद्वेष-जीवनिन्दा :

इसलिए घर में तो लोगों की निन्दा करते हो, धर्मस्थानों में भी निन्दा करते हो। धर्मस्थानों में कि जहाँ पापकर्म तोड़ने के होते हैं, वहाँ जा कर आप पापकर्म बाँधते हो न ? फिर कहाँ जाओगे पापकर्म तोड़ने ?

सभा में से : कुछ साधु-मुनिराज भी.....

महाराजश्री : निन्दा करते हैं न ? दोषानुवाद करते हैं न ? करने दो, आप उनके पास जा कर मत बैठो। गृहस्थ हो या साधु हो..... जो भी परनिन्दा एवं दोषानुवाद करते हैं, बड़ा पाप करते हैं। संघ-समाज में ऐसे लोग ही दोषों का प्रचार-प्रसार करते हैं। स्वयं पापाचरण करते हैं, दूसरों से पाप करवाते हैं। इस प्रकार ही समाज में बुराइयाँ फैलती हैं। धर्मस्थानों में साधु-मुनि यदि निन्दा करते हुए जीव-द्वेष बढ़ाते हैं तो वे अज्ञानी हैं। भले ही वे धर्मशास्त्र पढ़े हुए हों, वे आत्मज्ञानी नहीं होते हैं। आत्महित की चिन्ता करनेवाले नहीं होते हैं। और, जो आत्महित नहीं जानता है वह जिनशासन का हित क्या करेगा? वह तो

जिनशासन का अहित ही करता है । परंतु उन लोगों को सुधार नहीं सकते हैं। वे अपने आपको सुधरे हुए मानते हैं, दोषित मनुष्य से भी ज्यादा पापी दोषानुवाद करनेवाला होता है । जो मनुष्य कोई पाप करता है, दोष–सेवन करता है, वह स्वयं का ही अहित करता है, परंतु जो मनुष्य दोषानुवाद करता है, परनिन्दा करता है, वह दूसरों का भी अहित करता है । इसलिए कहता हूँ कि दोषानुवाद नहीं करें, गुणानुवाद करते रहें ।

संसार ही दोषों से भरा हुआ है :

भोजन के पूर्व जब आपको सुपात्र दान देना है एवं साधर्मिक–भक्ति करना है, तब यह बात सोचना अनिवार्य बनता है । जिनको सुपात्र दान देना है, उनके गुण ही देखने हैं, जिनकी भक्ति करना है, उनके भी गुण ही देखने हैं । हाँ, उन लोगों में दोष होंगे, बहुत दोष होंगे, फिर भी हमें दोषदर्शन नहीं करना है, हमें तो गुणदर्शन ही करना है । दोषदर्शन करने में बुद्धिमत्ता नहीं है, चूँकि संसार दोषों से ही भरा हुआ है । बुद्धिमत्ता गुणदर्शन मे रही हुई है ।

हजारों वर्षों से ऋषि–मुनि कहते रहे हैं :

– दोष अपने देखो,

– गुण दूसरों के देखो ।

– दूसरों का छोटा गुण भी बड़ा देखो ।

– अपना छोटा दोष भी बड़ा देखो ।

जीवन जीने की यह कला है । इस प्रकार यदि आप जीते हो, तो आप सच्चे अर्थ में कलाकार हो !

सभा में से : हम लोग तो इससे बिलकुल उलटा ही करते हैं ।

महाराजश्री : अनादिकाल से उलटे ही चल रहे हैं न ?

– दोष दूसरों के देखते हो,

– गुण अपने गाते हो ।

– दूसरों के छोटे दोष को बड़ा बना कर बोलते हो ।

– अपना छोटा गुण बड़ा बना कर गाते रहते हो ।

अब छोड़ दो, ये सारी बातें आपके मन को अशुद्ध और चंचल बनाती है । कभी कभी उत्तम जीवों की भी निन्दा हो जाती है । साधु–मुनिवरों में एवं श्रावक–श्राविकाओं में, क्या पता कौन तीर्थंकर की आत्मा होगी ? कौन गणधर की आत्मा

होगी ? कौन सर्वज्ञ की आत्मा होगी ? अरे, जो साधु नहीं है, जो श्रावक नहीं है, जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, ऐसे लोगों में भी उत्तम आत्माएँ होती हैं। इसलिए ज्ञानी पुरुषों ने किसी भी जीव की निन्दा नहीं करने की प्रेरणा दी है।

जीव मात्र में गुणदर्शन करना है और उनकी उचित सेवा–भक्ति करना है। सत्कार्य कर, भोजन करना है। रोजाना भोजन करते हो, इसलिए उचित सेवा–भक्ति का सत्कार्य भी रोजाना करना है।

कुछ विशेष बातें :

'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के टीकाकार आचार्यश्री ने इस विषय की चर्चा करते हुए दूसरी बातें भी कही हैं। एक श्लोक का उद्धरण दिया है –

जिणपूओचियदाणं, परियणसंभालणा उचियकिच्चं।
टाणुववेसो य तहा पच्चक्खाणस्स संभरणं ॥

१. जिनपूजा,
२. उचित दान,
३. परिजन–स्मरण,
४. उचित कृत्य,
५. स्थानोपवेशन,
६. प्रत्याख्यान की स्मृति,

भोजन के पूर्व इन छः बातों का ख्याल करने का है।

– जिनेश्वर भगवंत की और द्रव्यपूजा, भावपूजा, भावोल्लास के साथ करना है।

– साधुओं को सुपात्र मान कर, पूज्य मान कर उनको पानी और भोजन की भिक्षा देने की है। वैसे साधर्मिकों को भी सुपात्र मान कर भावपूर्वक भोजन कराना है। अपने साथ बिठा कर प्रेम से भोजन कराना है और जो दीन–हीन–गरीब लोग होते हैं उनको करुणा से अनुकंपा–दान देना है। यह सब 'उचित दान' कहा जाता है। उस व्यक्ति की योग्यतानुसार दान देना, उचित दान होता है।

– तीसरी बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण कही है। परिजनों का स्मरण करना है भोजन करते समय। घर के अन्य सदस्यों को यानी माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र–पुत्री वगैरह को याद करना है। उन्होंने भोजन किया या नहीं – पूछना है।

सभा में से : हम तो किसी को याद नहीं करते भोजन के समय.....

महाराजश्री : अभी मैं आप लोगों की बात नहीं करता हूँ, ज्ञानी पुरुषों ने आपके लिए जो बातें कही हैं, वे बातें समझा रहा हूँ। इन बातों को सुन कर आप शायद ही इन बातों का पालन करोगे, यह भी मैं जानता हूँ। क्या मैं आप लोगों पर विश्वास कर सकता हूँ कि आप इन बातों का पालन करेंगे ? नहीं न ? अब आप नहीं बोलेंगे।

भोजन के समय स्वजन-परिजनों को याद करने से उन सबका आपके प्रति प्रेम बढ़ जायेगा। घर में यदि नौकर रहते हों तो उनको भी याद करो भोजन के समय। घर में परस्पर प्रेम बढ़ाने का यह भी एक अच्छा उपाय है। मनुष्य के मन का यह भी एक स्वभाव है कि कोई हमें भोजन वगैरह के समय याद करता है, प्रेम से याद करता है, तो हमारा मन प्रसन्न होता है। हालाँकि दूसरे समय में स्वजन-परिजनों के साथ आपका व्यवहार अच्छा होना चाहिए। आपके साथ बैठ कर भोजन करने में उनको आनन्द-खुशी होनी चाहिए। दूसरों को भोजन कराने की भी एक कला होती है। अकेले अकेले भोजन करना और दूसरों के साथ भोजन करना, बहुत अन्तर होता है दोनों बातों में। हम साधु, जितने भी साथ में होते हैं, प्रायः साथ में ही भोजन करते हैं। सभी साधुओं को याद करते हैं। कोई साधु गोचरी करने नहीं आया हो तो हम याद करते हैं, पूछते हैं : 'वे मुनि क्यों गोचरी करने नहीं आये ?' कभी उसके पास जाकर पूछते हैं। वह मुनि खुश होता है। हमारा कर्तव्यपालन होता है।

– चौथी बात कही है उचित कृत्य की। उचित कृत्य यानी जो साधर्मिक भोजन के लिए आमंत्रित हो, उसको यदि स्नानादि करना है तो सुविधा देना। उनके साथ अच्छा व्यवहार करना। अथवा भोजन के पूर्व यदि बाजार से कोई वस्तु-खाद्य पदार्थ लाना है तो ले आना। घर में नौकर नहीं हो और पत्नी भोजन बनाने में व्यस्त हो तब पाटा लगाना, थाली रखना, पानी रखना....वगैरह उचित कृत्य करने चाहिए।

– पाँचवी बात है भोजन करने उचित स्थान पर बैठना। भोजन के लिए जगह अपने-अपने घर के हिसाब से होती है। आजकल तो 'डाइनिंग होल' होते हैं, परंतु बड़े घरों में हैं। एक-दो कमरे के घर में अलग 'डाइनिंग होल' नहीं होता है। वहाँ भोजन की जगह बाथरूम-संडास के पास नहीं होनी चाहिए।

इतना खयाल रखने का होता है। जगह स्वच्छ होनी चाहिए और भोजन के बरतन भी स्वच्छ होने चाहिए।

– छट्ठी बात है प्रत्याख्यान की स्मृति करने की। श्रावक–श्राविका को कोई भी प्रत्याख्यान–पच्चक्खाण होता ही है। विविध प्रकार के पच्चक्खाण होते हैं जैसे कि

– नवकारशी
– पोरिसी
– साढ़पोरिसी
– बेसणा
– एकासणा
– आयंबिल.....

भोजन के पूर्व याद करें कि आज मुझे कौन–सा पच्चक्खाण है ताकि पच्चक्खाण का मूल से भंग न हो जाय! कितनी सावधानियाँ बताई है एक भोजन की क्रिया के विषय में ?

भोजन, जीवन की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इसके बिना न आपको चलता है, न हमें चलता है। भोजन सभी को करना होता है। जो मनुष्य विधिवत् भोजन करता है, वह चित्तशान्ति पाता है। भोजन करते हुए भी वह उपवासी कहलाता है। विधिवत् भोजन करने में आसक्ति नहीं रहती है न।

यदि आप लोगों को ये बातें पसंद आये तो समय का 'एडजस्टमेंट' करना। भोजन के पूर्व जिनपूजा, साधुभिक्षा और साधर्मिक–भक्ति के कर्तव्यों का पालन करना।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ५०

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर, आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक धर्म का विशद वर्णन किया है। श्रावक की दिनचर्या बताते हुए उन्होंने कहा है :

तदन्वेव प्रत्याख्यानक्रिया ।। ७६ ।।

भोजन करने के बाद श्रावक को 'प्रत्याख्यान' करना चाहिए। यानी उसको चार प्रकार के आहार में से कुछ आहारों का त्याग करना चाहिए। हालाँकि प्रवचन ३० में 'सम्यक् प्रत्याख्यान क्रिया' सूत्र के विवेचन में पच्चक्खाण के विषय में विस्तृत जानकारी दी हुई है, फिर भी आज इस सूत्र के विवेचन में पुनः वे बातें दोहराता हूँ। ताकि वे बातें याद आ जायेंगी।

'प्रत्याख्यान' यानी पच्चक्खाण। अपने समाज में 'पच्चक्खाण' शब्द ज्यादा प्रचलित है। 'प्रत्याख्यान' इतना प्रचलित शब्द नहीं है।

भोजन के बाद जो पच्चक्खाण करने का कहा गया है, वह श्रावक को स्वयं पच्चक्खाण करने का हे। वैसे सामान्य नियम यह है कि श्रावक विनयपूर्वक गुरुदेव के पास जाकर पच्चक्खाण करें। इस विषय में 'चतुर्भंगी' बनती है। पच्चक्खाण लेना होता है, पच्चक्खाण देना होता है। लेनेवाला और देनेवाला – दोनों ज्ञानी होने चाहिए। यानी दोनों को पच्चक्खाण के स्वरूप एवं प्रकारों का ज्ञान होना चाहिए। यह श्रेष्ठ मार्ग है।

– पच्चक्खाण लेनेवाला अज्ञानी हो, यानी पच्चक्खाण का स्वरूप नहीं जानता हो, प्रकार एवं 'आगार' का भी ज्ञान हो, परंतु पच्चक्खाण देनेवाले गुरु ज्ञानी हो, तो यह मध्यम मार्ग है।

– पच्चक्खाण लेनेवाला ज्ञानी हो, परंतु देनेवाला अज्ञानी हो, तो यह निकृष्ट मार्ग है।

– पच्चक्खाण लेनेवाला अज्ञानी हो और देनेवाला भी अज्ञानी हो, तो यह निषिद्ध मार्ग है, संपूर्ण अशुद्ध मार्ग है।

कुछ प्रचलित पच्चक्खाण :

आज पहले मैं आपको कुछ प्रचलित पच्चक्खाण के विषय में बातें

करूँगा। ताकि आप भी पच्चक्खाण के विषय में ज्ञानी बन सकें। पच्चक्खाण एक विशिष्ट धर्म है। इस धर्म का ज्ञान आपको होना चाहिए।

पहला पच्चक्खाण नवकारशी :

प्रतिदिन कई छोटे–बड़े श्रावक–श्राविका, यह पच्चक्खाण लेने हमारे पास आते हैं। इस पच्चक्खाण का संबंध दो बातों से हैं : सूर्योदय के बाद दो घड़ी (४८ मिनट) व्यतीत होनी चाहिए, यह पहली बात है। दूसरी बात है श्री नवकार मंत्र के स्मरण की ! सूर्योदय के बाद ४८ मिनट पसार हो जाने के बाद, श्री नवकार मंत्र का स्मरण कर, मुँह में पानी डालना...भोजन करना, यह नवकारशी का पच्चक्खाण है।

इस पच्चक्खाण का खास 'सूत्र' होता है। पच्चक्खाण देनेवाले यह सूत्र बोलते हैं। लेनेवाला नतमस्तक हो, दो हाथ जोड़ कर खड़ा–खड़ा वह सूत्र सुनता है। जब सूत्र में गुरु 'पच्चक्खाई' बोलें तब लेनेवाला 'पच्चक्खामि' बोलता है।

सभा में से : हम तो नहीं बोलते हैं !

महाराजश्री : यही तो अज्ञान है ! अब बोलना ! बोलना चाहिए। और, जब गुरू 'वोसिरई' बोलें तब आपको 'वोसिरामि' बोलना चाहिए।

जब तक सूर्योदय के बाद ४८ मिनट नहीं बीते, तब तक आपको मुँह में आहार (अशन), पान, खादिम और स्वादिम – ये वस्तुएँ नहीं डालनी चाहिए। हाँ, पच्चक्खाण की अत्यंत विस्मृति हो जाने पर और अति प्रवृत्ति में व्यस्त होने पर सहसा कुछ भी मुँह में डाल दिया, तो पच्चक्खाण का भंग नहीं होता है।

सभा में से : अशन, पान, खादिम और स्वादिम – ये चार बातें समझायेंगे ?

महाराजश्री : अवश्य समझाऊँगा। समझाना आवश्यक है। पच्चक्खाण का स्वरूप समझने के लिए ये चार शब्द समझने ही पड़ते हैं ! साधुपुरुषों के प्रवचनों में ये चार शब्द सुनते ही होंगे। अब अच्छी तरह समझ लो !

१. अशन : चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा वगैरह धान्य अशन कहलाता है। सभी प्रकार के पकवान भी अशन कहलाते हैं। सभी प्रकार के दलहन द्विदल (मूंग, चना वगैरह) भी अशन ही हैं।

२. पान : पान यानी पीने की वस्तु। कूप का पानी, सरोवर का पानी, सभी प्रकार के फलों का धोया हुआ पानी, चावल वगैरह धान्यों का धोया हुआ पानी, ककड़ी का एवं आरिये के भीतर का पानी, नदी–झरने का पानी.....यह सब 'पान' कहलाता है।

३. खादिम : खादिम यानी खाने योग्य पदार्थ । परंतु जो खाने से पूर्ण तृप्ति नहीं होती है, कुछ संतोष होता है, उसको 'खादिम' कहा गया है । जैसे कि – चना (भूने हुए), भूने हुए गेहूँ, शर्करा, साकर, बादाम, द्राक्ष, ककड़ी, आम, कदली इत्यादि फल, नारियल वगैरह यह सब खादिम है ।

४. स्वादिम : जो पदार्थ स्वाद के लिए खाये जाते हैं, कभी औषध के रूप में भी खाये जाते हैं । जैसे कि – सभी प्रकार के मुखवास, सुपारी, जीरा, हरितकी, पीपर, सूंठ, गुड, मरी (काली मिर्च), अजमा, आमला, दातून..... वगैरह का समावेश स्वादिम में होता है ।

अशनादि का व्युत्पत्ति–अर्थ :

अशनादि चारों का विभागीकरण आपको संक्षेप में बताया है । इस विषय में नयी जिज्ञासा मन में पैदा हो तो मेरे पास आकर पूछना । अथवा दूसरे भी इस विषय के ज्ञाता को पूछ कर समाधान पाना । इन चारों बातों के जो नाम हैं, उन नामों के आधार पर 'शब्द' को तोड़ कर, जो अर्थ शास्त्रों में बताये गये हैं, वे अर्थ भी समझने जैसे हैं !

– आशु क्षुधां शमयति इति अशनम् !
  जो शीघ्र क्षुधा को शान्त करता है वह 'अशन' कहलाता है ।
– प्राणानां उपकारे वर्तते इति पानम् ।
  जो इन्द्रियादि प्राणों पर उपकार करता है वह 'पान' कहलाता है ।
– खाद्यते इति खादिमम् ।
  जो खाया जाता है वह 'खादिम' कहलाता है ।
– स्वादयति रसादि गुणान् (गुड़ादि दव्यं) इति स्वादिमम् ।

जिससे रसादि का स्वाद किया जाता है वह 'स्वादिम' कहलाता है । इसकी दूसरी व्युत्पत्ति भी अच्छी है –

– सादयति–विनाशयति स्वकीय गुणान् माधुर्यादीन् स्वाद्यमानमति स्वादिमम् ।

माधुर्यादि का स्वाद करने से आत्मगुणों का जो नाश करता है वह 'स्वादिम' है ।

कितनी अच्छी व्युत्पत्ति की गयी है ? संस्कृत भाषा की यह विशेषता है । ज्ञानी पुरुष शब्दों में से अर्थ निकालते हैं !

मेरे ख्याल से अशनादि चारों आहार के विषय में आपको पर्याप्त ज्ञान मिल गया होगा।

दूसरा पच्चक्खाण पौरुषी :

अब आप लोग दूसरा पच्चक्खाण समझ लें। दूसरा पच्चक्खाण है पौरुषी। वर्तमान में लोग इसको 'पोरसी.....' 'पोरिसी' बोलते हैं। सूर्योदय के बाद एक प्रहर–तीन घंटा समय जाने के बाद मुँह में अशनादि डाला जाता है। पहले जब घड़ी (घडियाल) नहीं थी, उस जमाने में जब पुरुष प्रमाण छाया (सूर्य के प्रकाश में) पृथ्वी पर पड़ती थी, तब यह पच्चक्खाण पूर्ण होता था।

– उस जमाने में जब घनतर बादलों से सूर्य ढ़ँक जाता था, आकाश रज से छाया हुआ रहता था, मनुष्य और सूर्य के बीच पहाड़ होता था, सूर्य दिखता नहीं था, उस समय कभी, पोरिसी का समय पूर्ण नहीं होने पर भी 'समय हो गया है' – ऐसा समझ कर पच्चक्खाण पूर्ण कर लेते थे। ऐसी स्थिति में पच्चक्खाण का भंग नहीं होता था। आज–कल तो हर स्त्री–पुरुष अपने हाथ पर घड़ी बाँधते हैं। हर घर में, उपाश्रय में, मंदिर में सर्वत्र प्रायः घड़ी रखी जाती है। घड़ी के आधार पर ही पच्चक्खाण का समय देखा जाता है ! सूर्य के आधार पर नहीं। हालाँकि घड़ी सूर्य के आधार पर बनी है। और आज दुनिया घड़ी के आधार पर चलती है।

जब लोगों के पास घड़ी नहीं थी, तब लोग दिशाओं के आधार पर पच्चक्खाण को पूर्ण करते थे। जब पूर्व दिशा को पश्चिम दिशा मान लेते थे, तब उनसे भूल हो जाती थी। पोरिसी का समय पूर्ण न होने पर भी वे पूर्ण समझ लेते थे और मुँह में अशनादि डाल देते थे। ऐसी स्थिति में उसका पच्चक्खाण भंग नहीं होता था।

पोरिसी का समय नहीं आया हो, उस समय किसी श्रद्धेय व्यक्ति ने बोल दिया कि 'पोरिसी का समय आ गया है,' और सुननेवाला मुँह में पानी वगैरह डाल देता है, तो उसका पच्चक्खाण–भंग नहीं होता है। चूँकि उसका भाव पच्चक्खाण भंग करने का नहीं है !

वैसे किसी व्यक्ति ने पोरिसी पच्चक्खाण कर लिया है, बाद में उसके शरीर में तीव्र वेदना पैदा होती है, उसके मन में आर्तध्यान अथवा रौद्रध्यान पैदा होता

है, तो उस ध्यान से (दुर्ध्यान से) बचने के लिए, यदि उसको औषध–अनुपानादि, पोरिसी का समय आने से पूर्व दिया जाता है, अथवा वह स्वयं लेता है तो पच्चक्खाण का भंग नहीं होता है ।

इस प्रकार यदि पूर्व दिशा को पश्चिम दिशा समझ लेता है, (घड़ी नहीं है....) और पोरिसी का समय आने से पूर्व मुँह में अशनादि डाल देता है, तो उसका पच्चक्खाण–भंग नहीं होता है । चूँकि उसका भाव पच्चक्खाण खंडित करने का नहीं है ।

एक विशिष्ट अपवाद बताता हूँ । कोई वैद्य अथवा डॉक्टर है, उसने पोरिसी का पच्चक्खाण लिया हो, परंतु किसी विशेष दर्दी की समता के लिए जाना आवश्यक हो, बिना भोजन किये वह जा नहीं सकता हो तो पोरिसी के समय के पूर्व ही वह भोजन कर लेता है, फिर भी पच्चक्खाण–भंग नहीं माना गया है । दूसरे जीवों को समाधि–समता देने का धर्म महान् है । हेतु–प्रयोजन शुद्ध होने पर समय के पूर्व पच्चक्खाण पारना, दोषयुक्त नहीं माना है ! आशयशुद्धि की यहाँ प्रधानता मानी गई है । परंतु एक बात है ! वह वैद्य अथवा डॉक्टर भोजन करता हो और मालुम हो जाय कि 'वह दर्दी मर गया है,' तो उसी समय उसको भोजन छोड़ देना चाहिए । परंतु वह भोजन चालू ही रखता है तो पच्चक्खाण का भंग हो जाता है । सारी बात व्यक्ति के विवेक पर निर्भर बतायी गई है ।

'सार्ध पौरुषी' के विषय में :

कई स्त्री–पुरुष 'सार्ध पौरुषी' का पच्चक्खाण करते हैं । चालू भाषा में 'साढ़ पोरिसी' भी कहते हैं । कुछ प्रदेश में 'डेढ़ पोरिसी' भी कहते हैं ! यह पच्चक्खाण सूर्योदय के बाद डेढ़ प्रहर (४–३० घंटे) बीतने पर आता है । जैसे कि सूर्योदय सात बजे होता है, तो साढ़ पोरिसी का पच्चक्खाण ११–३० मिनट होने पर आता है । सूर्योदय कब होता है, यह मालुम होना चाहिए । अलग–अलग प्रदेशों में सूर्योदय का समय अलग–अलग होता है । हालाँकि आज–कल प्रादेशिक अखबारों में सूर्योदय–सूर्यास्त का समय छपता है ।

'पुरिमार्द्ध' पच्चक्खाण :

इस पच्चक्खाण को 'पुरिमड्ढ' भी कहते हैं । दिन के दो प्रहर, यानी दिन का पूर्वार्ध पूर्ण होने पर पच्चक्खाण पारने का होता है । परंतु इस पच्चक्खाण को करनेवाले महानुभाव को यदि कोई महत्त्वपूर्ण कार्य आ गया और वह कार्य

दूसरा कोई नहीं कर सकता है, एवं वह स्वयं भोजन किये बिना वह कार्य करने में शक्तिमान नहीं हो, तो वह पच्चक्खाण के समय से पूर्व भी भोजन कर सकता है। पच्चक्खाण करने से जो कर्मनिर्जरा होती है, उससे ज्यादा कर्मनिर्जरा करानेवाला कार्य होना चाहिए। ज्ञानी पुरुष ही यह निर्णय कर सकते हैं। शास्त्रों में ऐसे कुछ महत्तर कार्यों की सूचि मिलती है –

– रास्ते में अथवा कोई गाँव में कोई साधु बीमार हो गया हो, उसकी सेवा करनेवाला वहाँ कोई नहीं हो, तत्काल उसकी सेवा करने जाना अनिवार्य हो और जो सेवाकुशल हो वह भूखा नहीं जा सकता हो....तो वह पच्चक्खाण के पूर्व भी भोजन कर सकता है।

– कोई अनार्य मनुष्य जिनमंदिर को तोड़ रहा हो अथवा बड़ी आशातना कर रहा हो, उसको रोकने के लिए समर्थ व्यक्ति यदि भोजन किये बिना नहीं जा सकता हो, तो पच्चक्खाण आने से पूर्व भी वह भोजन कर, मंदिरादि की रक्षा के लिए जा सकता है। उसका पच्चक्खाण टूटता नहीं है।

– साधु, साध्वी, श्रावक–श्राविका पर कोई बड़ी आपत्ति आयी हो, उसको दूर करने की क्षमतावाला साधु या श्रावक भोजन किये बिना नहीं जा सकता है, तो वह पच्चक्खाण (पुरिमड्ढादि) के पहले भी भोजन कर सकता है।

प्रयोजन का निर्णय शास्त्रदृष्टि से करना चाहिए। विशेष कर्मनिर्जरा करानेवाला प्रयोजन होना चाहिए। यह निर्णय आचार्यादि गीतार्थ पुरुष ही कर सकते हैं। कोई साधु या श्रावक स्वयं निर्णय नहीं करता है। यदि वह शास्त्रज्ञ और पापभीरु है तो निर्णय कर सकता है।

'एकासण' आदि पच्चक्खाण :

एकासणा–बियासणे के पच्चक्खाण भी प्रचलित पच्चक्खाण हैं। पंचमी, अष्टमी आदि पर्वतिथि के दिनों में ज्यादातर श्रावक–श्राविकाएँ यह पच्चक्खाण करते हैं। इस पच्चक्खाण में एक जगह बैठ कर भोजन करना होता है। दिन में एक बार ही भोजन किया जाता है। भोजन शुरू करने के बाद, जब तक मुखशुद्धि नहीं हो तब तक निष्प्रयोजन खड़ा होने का नहीं है। खड़े हो जाने के बाद पुनः भोजन नहीं किया जा सकता है। इस बात में दो अपवाद हैं, दो कारण से आप भोजन करते करते खड़े हो सकते हो और पुनः बैठ कर भोजन कर सकते हो।

पहला कारण – आप एकासन करने बैठे हो और आपके पास कोई ऐसा

मनुष्य आ कर खड़ा रहा अथवा बैठा रहा कि जिसकी नजर अच्छी नहीं हो। नजर लग जाती हो ! तो आप थाली समेत खड़े होकर, दूसरी जगह जाकर बैठ सकते हो और अधूरा भोजन पूरा कर सकते हो !

सभा में से : नजर लगने की बात अपन मानते हैं क्या ?

महाराजश्री : अवश्य ! मानना ही पड़ता है ! दृष्टि में, मनुष्य की दृष्टि में कई गुण–दोष होते हैं। दृष्टि में अमृत होता है, दृष्टि में जहर–विष भी हो सकता है। दृष्टि से पुनर्जीवन प्राप्त होता है, दृष्टि से मौत भी हो जाती है। आपको मालुम हो जाय कि 'इस व्यक्ति की दृष्टि अच्छी नहीं है, विषैली है, तो उसके सामने खाना नहीं, पीना नहीं। ज्ञानी पुरुषों ने, ऐसे लोगों से बचने के लिए 'एकासन' जैसे व्रत में भी खड़े होकर अधूरा भोजन पूर्ण करने को कहा है, तो इस बात की सत्यता में संदेह करने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरा कारण – आप एकासन करने बैठे हो, भोजन प्रारंभ कर दिया है, और आपके घर में, जहाँ आप बैठे हो, वहाँ साधु–मुनिराज आ जाय, तो मुँह पानी से साफ कर खडे हो सकते हो। आपका व्रत टूटेगा नहीं ! मुँह साफ कर 'मत्थएण वंदामि' बोलना चाहिए। यह विनय है। धर्म का मूल विनय है। विनय–धर्म का पालन विवेक के साथ सर्वत्र करना है।

हमारे साधुओं के लिए तो गृहस्थ के सामने भोजन करना निषिद्ध ही है। हम गोचरी–भोजन करते हो और वहाँ कोई गृहस्थ आ गया, वह जाता नहीं है और उसको हम जाने के लिए कह भी नहीं सकते हों, तो हम लोग पात्र लेकर, दूसरी जगह जाकर भोजन करेंगे। भले ही हम लोगों को एकासन हो या आयंबिल हो ! हमारा व्रत–पच्चक्खाण टूटता नहीं है, व्रत–भंग नहीं होता है। कहिए, यह समझदारी है आप लोगों को ? नहीं है, इसलिए कुछ गलत धारणाएँ समाज में रुढ़ हो गई हैं।

'आयंबिल' का तप :

आयंबिल का मूल शास्त्रीय नाम 'आचाम्ल' है। आचाम्ल का आयंबिल हो गया और कुछ प्रदेशों में 'आंबेल' भी हो गया है ! अंतिम ५० साल में इस तप का प्रचार–प्रसार बहुत हुआ है। भारत में गाँव–गाँव और नगर–नगर, जैन प्रजा आयंबिल का तप करती है। चैत्र सुद में और आसोज सुद में आयंबिल हजारों नहीं, लाखों की तादाद में होते हैं।

इस तप में घी–दूध–तैल–दहीं–मिष्टान्न इत्यादि नहीं खाया जाता है । मेवा और फल भी त्याज्य होते हैं । केवल उबाला हुआ धान्य और द्विदल का उपयोग किया जाता है । मसालों में से नमक, काली मिर्च, सूंठ, हिंग, इत्यादि ले सकते हैं । वैसे आयंबिल तीन प्रकार के बताये गए हैं – उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य । उत्कृष्ट आयंबिल केवल उबाले–पकाये हुए चावल का होता है । उसमें कोई मसाला नहीं लिया जाता है । मध्यम आयंबिल में सभी वस्तुएँ एक बरतन में इकट्ठा कर खाने की होती है । जघन्य आयंबिल में मसाले ले सकते हैं । यह तप मंगलरूप माना गया है । विघ्ननाश करनेवाला माना गया है ।

साधु–साध्वी के लिए इस तप में दो अपवाद बताये गये हैं । उस समय जैन संघों में 'आयंबिल खाते' नहीं होते थे । गृहस्थ लोग अपने–अपने घर में ही आयंबिल करते थे । साधु–साध्वी गृहस्थों के घर में से ही भिक्षा लाते थे, इस दृष्टि से ये दो अपवाद बताये हैं ।

पहला अपवाद : साधु–साध्वी भिक्षा लेने (आयंबिल की) आपके घर आये । आपने घी या तेल से लिप्त कटोरी में चावल, दाल, वगैरह लेकर भिक्षा दी । चावल वगैरह में घी या तेल के कुछ अंश आये, तो भी उससे हम लोग आयंबिल कर सकते हैं । घर में गुड़ अथवा सक्कर पर रुक्ष रोटी पड़ी हुई है, आपने रोटियाँ उठाकर दे दी साधु–साध्वी को । रोटियों के ऊपर गुड़ के या सक्कर के कुछ अंश लगे हुए हैं, फिर भी हम उसको आयंबिल में खा सकते हैं । इस अपवाद–आगार का नाम है 'लेवालेवेण' ।

दूसरा अपवाद : आप लोगों के घर में कभी कभी अकल्प्य–अभोक्तव्य पदार्थ भी होते हैं ! कल्पनीय–भोक्तव्य वस्तु के साथ वे पदार्थ पड़े हुए होते हैं । आप उसमें से कल्पनीय वस्तु उठाकर साधु–साध्वी को देते हो, तो साधु ले सकते हैं । कल्प्य के साथ अकल्प्य वस्तु ज्यादा प्रमाण में लिप्त नहीं होनी चाहिए ।

परंतु यह बात तो जब आयंबिल खाते नहीं थे तब की है ! आजकल ज्यादातर साधु–साध्वी आयंबिल खाते में से ही आयंबिल की भिक्षा लेते हैं । वहाँ तो आयंबिल की शुद्ध भिक्षा मिल जाती है ।

उपवास का पच्चक्खाण :

जिस प्रकार एकासन–आयंबिल का पच्चक्खाण होता है, वैसे पर्व दिनों में उपवास का भी पच्चक्खाण श्रावक–श्राविका एवं साधु–साध्वी करते हैं । अंतिम

२५ वर्ष में क्रमशः उपवास की तपश्चर्या बढ़ती रही है । एक, दो, तीन, चार, पाँच, आठ.....३०, ३१, ४०.....५०....६८ वगैरह उपवास लगातार करते हैं । एक साथ १२० उपवास करनेवाले महातपस्वी इस कलियुग में भी हैं ।

उपवास को शास्त्रीय भाषा में 'अभक्तार्थ' कहते हैं । 'भक्त' का अर्थ है भोजन । अभक्तार्थ यानी भोजन नहीं करना ।

आप लोग जानते ही हैं कि उपवास में पानी (बोइल्ड वॉटर) पी सकते हैं । उसको **तिविहार उपवास** कहते हैं । उपवास में पानी भी नहीं पीते हैं, उसको **चोविहार उपवास** कहते हैं ।

उपवास में ५ बातों को लेकर उपवास का भंग नहीं होता है । ये पाँच बातें मैं आपको बताता हूँ ।

– पहली बात है अनाभोग की । उपवास के पच्चक्खाण की अत्यंत विस्मृति हो गई और आपने मुँह में कुछ डाल दिया ।

– दूसरी बात है सहसाकार की । अति प्रवृत्ति में व्यस्त हो और अचानक मुँह में कुछ डाल दिया ।

– तीसरी बात है महत्तर कार्य की । उपवास का पच्चक्खाण कर लिया हो और बाद में संघ–धर्मशासन का महत्तर कार्य आ गया । तुम्हारे बिना दूसरों का वह काम न हो, आपको ही वह कार्य करना अनिवार्य हो, और आप भोजन किये बिना वह कार्य नहीं कर सकते हो, तो गुरुदेव की (ज्ञानी, उत्सर्ग–अपवाद के ज्ञाता) आज्ञा से भोजन कर सकते हैं ।

– चौथी बात है समाधि की । चित्त की समाधि का महत्त्व तीर्थंकरों ने बहुत बताया है । चित्त की समाधि ही धर्मध्यान है । सद्गति का मुख्य हेतु धर्म ध्यान है । इसलिए समाधि को टिकाना बहुत महत्त्व रखता है । आपने उपवास किया, बाद में बहुत क्षुधा लगी । क्षुधा की वेदना असह्य बनती जाती है । मन विचलित, चंचल और भोजन करने लालायित बन जाता है । उस समय गुरुदेव की आज्ञा से यदि भोजन करते हो ।

– पाँचवी बात है हम साधु–साध्वी के लिए । वह है पारिष्ठापनिका ! साधु–समुदाय हो, भिक्षा ले आये हैं । भिक्षा ज्यादा आ गयी हैं । एक–दो साधुओं को तिविहार उपवास है, वह बची हुई भिक्षा, उनको गुरुदेव दे देते हैं और वे खा लेते हैं, उनका उपवास अखंड रहता है ।

यह है उपवास के पच्चक्खाण का स्वरूप । समझ गये न ?

'पच्चक्खाण' के विषय में ६ विशिष्ट बातें :

आज मैंने आप लोगों को विशेष प्रचलित पच्चक्खाणों के विषय में, वह भी संक्षेप में बताया है। विशेष कर, ये बातें अध्ययन योग्य हैं। आपको 'पच्चक्खाण भाष्य' 'प्रवचन सारोद्धार' आदि ग्रंथों के अध्ययन से इन बातों को जाननी चाहिए। परंतु प्रस्तुत में 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के रचयिता आचार्यदेव ने 'पच्चक्खाण' करने की बात कह दी है, इसलिए आज इतना विस्तार किया है।

अब पच्चक्खाण पारते समय जो ६ बातें सूत्र में बोली जाती हैं, वे बातें बताकर प्रवचन पूर्ण करूँगा।

– पहली बात है पच्चक्खाण को स्पर्श करने की। **पच्चक्खाण स्पृष्ट = 'फासियं'** होना चाहिए। इस विषय में 'प्रवचन सारोद्धार' ग्रंथ में कहा गया है –

साधुः श्रावको वा प्रत्याख्यान सूत्रार्थं सम्यगवबुध्यमानो वा स्वयं प्रतिपन्नविवक्षित प्रत्याख्यानः पश्चाच्चारित्रपवित्रगात्रस्य गुरोः समीपे सूत्रोक्त–विधिना कृतिकर्मादि–विनयं विधाय, राग–द्वेषादिविकथादिरहितः सर्वत्रोपयुक्तः प्रांजलिपुटो लघुतरशब्देन गुरुवचनमुच्चरन् (अनुवदन्) यदा प्रत्याख्यानं प्रतिपद्यते तदा स्पृष्टं भवति।

इसका अर्थ सुन लो – साधु हो या श्रावक, उसको पच्चक्खाण–सूत्र का सम्यग् अवबोध होना चाहिए। अथवा, जो पच्चक्खाण उसको करना है, उसके मन में धारणा कर ली हो। चारित्रवंत गुरुदेव के पास जाकर, सूत्रोक्त विधि से वंदनादि करना चाहिए। राग–द्वेष और विकथा से मुक्त बन, अप्रमत्त होकर, मस्तक पर अंजलि जोड़कर, गुरुदेव से पच्चक्खाण–सूत्र सुनना चाहिए, और बहुत धीरे स्वर से वह सूत्र बोलना चाहिए–इस प्रकार पच्चक्खाण लेना – **स्पृष्ट** कहा जाता है। **'फासियं'** कहा जाता है।

– दूसरी बात है पच्चक्खाण का **पालन** करने की। पच्चक्खाण का जाग्रत उपयोग से पालन करना होता है, रक्षा करने की होती है।

– तीसरी बात है पच्चक्खाण को शोभाने की। विशेष कर, यह तीसरी बात हम साधु–साध्वी के लिए हैं। हमारे साधुजीवन के नियमानुसार, जब भिक्षा हमारे उपाश्रय में आ जाती है। भिक्षा लानेवाले साधु, गुरुदेव के सामने सारे भिक्षा पात्र रख देते हैं। आचार्य, उपाध्याय, ग्लान, बाल साधु को भिक्षा देने के बाद जो भिक्षा शेष रहती है, वह भिक्षा साधुओं को देते हैं। साधु वह बिना राग–

द्वेष ग्रहण करते हैं। गुरु की अधीनता से साधु का पच्चक्खाण शोभायमान होता है। गृहस्थ जीवन में भी विवेक से यदि भोजन करते हैं तो शोभा बढ़ती है पच्चक्खाण की।

– चौथी बात है पच्चक्खाण को तीराने की। पच्चक्खाण का समय पूर्ण होने पर भी, जो मनुष्य कुछ समय पसार होने देता है, वह पच्चक्खाण को तीराता है। जैसे कि नवकारशी का पच्चक्खाण सुबह ८ बजे आता है, परंतु जो चार–पाँच मिनट के बाद ही पच्चक्खाण पारता है, वह पच्चक्खाण को तीराता है। वैसे तो नवकारशी का पच्चक्खाण स्वयं, रात्रि के 'चोविहार' के पच्चक्खाण को तीराने रूप ही है। फिर भी आपको समझाने के लिए उदाहरण के रूप में कहा है।

– पाँचवी बात है पच्चक्खाण के कीर्तन की। यानी भोजन के प्रारंभ में बोलना चाहिए कि 'मैंने जो पच्चक्खाण किया था वह पूर्ण हुआ है, अब मैं भोजन करूँगा।'

– छट्ठी बात है पच्चक्खाण की आराधना की। 'उपर्युक्त पाँचों प्रकार से मैंने पच्चक्खाण को पूर्ण किया, अप्रमत्त भाव से जिनाज्ञा का पालन किया। इस प्रकार पच्चक्खाण की आराधना करने से महान् कर्मक्षय होता है। इसलिए मैं सदा पच्चक्खाण की आराधना में प्रयत्न करूँगा।'

पच्चक्खाण : अप्रमादवृद्धि :

तीर्थंकर भगवंत ने 'पच्चक्खाण' को अप्रमाद की वृद्धि का, अप्रमत्त भाव की वृद्धि का असाधारण कारण बताया है। पच्चक्खाण सम्यग् आचार स्वरूप है। इसलिए प्रमाद का दोष नष्ट होता है और अप्रमाद की गुणवृद्धि होती है।

बड़ी महत्त्वपूर्ण यह बात है।

– प्रमाद जीव को संसार में भटकाता है।
– अप्रमाद जीव को संसार से तीरा देता है।
– प्रमाद क्लिष्ट कर्मों का बंधन करवाता है।
– अप्रमाद अनंत कर्मों का क्षय करवाता है।

'साकेत' पच्चक्खाण :

अब खास गृहस्थों के लिए आठ प्रकार के जो पच्चक्खाण बताये गये हैं,

जिसको 'साकेत' पच्चक्खाण कहते हैं, उनके मात्र नामनिर्देश कर, प्रवचन पूर्ण करता हूँ :

१. अंगुष्ठ सहित ।
२. ग्रंथि सहित ।
३. गृह सहित ।
४. स्वेद सहित ।
५. मुष्टि सहित ।
६. उच्छ्वास सहित ।
७. स्तिबुक सहित ।
८. ज्योति सहित ।

इस विषय में आगे बात करूँगा ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

प्रवचन : ५१

परम उपकारी, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावकधर्म बता रहे हैं। श्रावकधर्म की दिनचर्या का वर्णन करते हुए उन्होंने भोजन के बाद 'पच्चक्खाण' करने को कहा है। इसलिए कल आपको पच्चक्खाण के विषय में कुछ बातें समझायी थीं। उसके बाद उन्होंने लिखा है –

'शरीरस्थितौ प्रयत्नः ।। ७७ ।।'

शरीर–स्वास्थ्य का आदरपूर्वक खयाल करना चाहिए। शरीर के स्वास्थ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। चूँकि धर्म–अर्थ–काम और मोक्ष – चार पुरुषार्थ शरीर पर निर्भर होते हैं! 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के टीकाकार आचार्यदेव ने कहा है –

धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं कारणं यतः ।
ततो यत्नेन तद्रक्ष्यं, यथोक्तैरनुवर्तनैः ।।

– आपको धर्म करना है ? शरीर–स्वास्थ्य बनाये रखो।
– आपको धनप्राप्ति करना है ? शरीर–स्वास्थ्य का खयाल करो।
– आपको वैषयिक सुख भोगने हैं ? शरीर–स्वास्थ्य आवश्यक है।
– आपको मोक्ष पाना है ? शरीर–स्वास्थ्य प्रथम चाहिएगा!

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए :

ग्रंथकार ने तो इतना ही कहा : 'शरीरस्थितौ प्रयत्नः।' टीकाकार आचार्यश्री ने इसका तात्पर्यार्थ बताते हुआ कहा : औचित्यपूर्वक स्नान करें, मालिश करें, यानी तैल से शरीर का मर्दन करें। उचित वस्त्र धारण करें। उचित परिश्रम करें। यत्न का अर्थ किया है आदर! यानी स्नानादि आदरपूर्वक करना है! तिरस्कारपूर्वक नहीं करना है। चूँकि धर्म–अर्थ इत्यादि पुरुषार्थ आपको शरीर से ही करना है। शरीर ही श्रेष्ठ साधन है। साधन के रूप में आपको शरीर का स्वास्थ्य बनाये रखना है।

आप गृहस्थ हैं, आपको चारों पुरुषार्थ की समतुला बनाये रखनी है। आप आपका लक्ष्य निर्धारित करें। उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, साधन के रूप में शरीर को स्वस्थ, तंदुरुस्त और बलवान् बनाने का प्रयत्न करें।

स्वास्थ्य के लिए व्यायाम :

शरीर के स्वास्थ्य के लिए अनेक ऐसे व्यायाम हैं, जिन्हें सरलता से करके आप बेहतर जिंदगी जी सकते हैं। विशेष कर, ढलती आयु में होनेवाले तमाम विकारों को या तो व्यायाम कम करता है, या होने नहीं देता है।

आज-कल लाखों लोग महसूस करते हैं कि चिकित्सा पर खर्च करने या चिकित्सकों के हाथों में अपना स्वास्थ्य सौंपने से कहीं अच्छा है अपने स्वयं पर निर्भर रहना। परंतु आपको ज्ञान होना चाहिए कि शरीर की तंदुरुस्ती क्या है और इसे कैसे पाया जा सकता है ?

कोई जरूरी नहीं कि आप व्यायामशाला में घंटों कसरत करें, मिलों तक जौगिंग करें या व्यायामशाला में घंटों तक स्थिर साइकिल के पैडल मारें ! आप मात्र २० से ३० मिनट व्यायाम करते रहें।

यह बात सदियों से मानी हुई है कि व्यायाम से शरीर को फायदा होता है। ई. पू. ६०० वर्ष पहले एक भारतीय वैद्य व्यायाम से मधुमेह का इलाज करता था। इन दिनों भी व्यायाम से कई बीमारियों का इलाज संभव है। उन पर काबू पा लिया जाता है। जैसे हृदयरोग, उच्च रक्तचाप (B.P.), गठिया, ऐसा रोग है कि जिससे हड्डियों में कैल्शियम की कमी हो जाती है और हड्डी सरलता से टूट जाती है (ऑस्टियोपोरोसिस), अवसाद, रक्तसंचार की परेशानियाँ, स्तनकैंसर और सर्वसाधारण बीमारी मोटापा ! एक ताजा शोध का विवरण सुनें –

व्यायाम से अनेक लाभ :

व्यायाम हृदय को बढ़िया पंप बना सकता है। जिससे ज्यादा श्रम करने पर भी धड़कन की गति सामान्य रहती है। क्योंकि हर संकुचन में हृदय ज्यादा खून पंप करता है।

– व्यायाम से "ट्राइग्लीसराइड" नामक कम घनत्ववाला 'कोलेस्टेरोल' या तो कम हो जाता है या उसका स्तर बिलकुल खत्म हो जाता है। मगर सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह धमनियों को क्षति पहुँचानेवाले कोलेस्टेरोल को हटानेवाले एच. डी. एल. कोलेस्टेरोल की मात्रा बढ़ाता है।

– **हारवर्ड विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज मासाचुसेट्स के डॉ. राल्फ एस पाफ्रन बार्जर जूनियर** ने १७,००० छात्रों का अध्ययन करके पता लगाया है कि टहलने, उछलने, सीढ़ी चढ़ने या दूसरे सक्रिय खेलों में प्रति सप्ताह २००० कैलरी खर्च

करने से हृदयरोगों से मरने का खतरा एक तिहाई घट जाता है और आयु भी बढ़ जाती है ।

– व्यायाम से शरीर की 'इन्स्युलिन' संवेदना बढ़ जाती है । यह हार्मोन, खून में शर्करा की अधिक मात्रा को हटाता है । अधिक वजनवाले ७५ प्रतिशत वयस्क लोगों की, व्यायाम करने से शरीर की चर्बी घटती है ।

– टहलना, दौड़ना आदि व्यायामों से हड्डियों का कैल्शियम बढ़ता है । इससे "ऑस्टियो पोरोसिस" नामक रोग नहीं होता है । इससे जीवन की संध्या में हड्डियों की दुर्बलता या उनके टूटने का डर भी नहीं रहता है ।

– **विस्कांसिन विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला की निर्देशक इवरेट एल. स्मिथ** ने पाया कि ६९ से ९५ वर्ष की जो महिलाएँ तीन साल तक सप्ताह में तीन दिन ३० मिनट तक व्यायाम करती हैं, उनकी हड्डी में लवणों की मात्रा २.३ प्रतिशत बढ़ी । जबकि व्यायाम नहीं करनेवाली महिलाओं में ३.३ प्रतिशत घट गई ।

– व्यायाम करनेवाली महिलाओं को स्तन–कैंसर और प्रजनन–अंगों के कैंसर होने का खतरा बहुत कम होता है । यह तथ्य, कॉलेज की ५००० पूर्व खिलाड़ी महिलाओं की जाँच से पता चला । इस अध्ययन की निर्देशक **'हारवर्ड स्कूल ऑफ पब्लिक हेल्थ' की प्रजनन जीवविज्ञानी 'रोज फ्रेश' और जैव–सांख्यिकीविद् 'ग्रेस वायशाक'** का विश्वास है कि खिलाड़ी महिलाओं में 'एस्ट्रीजन' की मात्रा कम होने से उन्हें कैंसर नहीं होता ।

– व्यायाम से उम्र के साथ कड़ी होती मुलायम मांसपेशियों में चर्बी की बढ़ी हुई मात्रा घटती है और शारीरिक काम करने की क्षमता बढ़ती है ।

– **टेक्सास विश्वविद्यालय** की एक शोध–टीम के अनुसार, ६० साल के बूढ़े जो जौगिंग करते हैं या टेनिस २० वर्ष तक खेलते हैं, वे २० वर्षीय निष्क्रिय लोगों से ज्यादा तंदुरुस्त रहते हैं ।

– वजन–नियंत्रण–विशेषज्ञों का खयाल है कि व्यायाम से फालतू वजन जरूर घटता है । इससे शरीर की चयापचय दर बढ़ती है । शरीर के कमजोर अवयव मजबूत होते हैं ।

– हपते में कम से कम तीन या चार बार १५ से ३० मिनट तक बिना रूके व्यायाम करें । अब मैं आपको कुछ सावधानियाँ बताता हूँ, व्यायाम के विषय में ।

व्यायाम में कुछ सावधानियाँ :

– ३५ वर्ष के ऊपर के लोग, जिन्हें कोई पुरानी बीमारी हो या जिनके परिवार में हृदयरोग खानदानी रोग रहा हो, वे व्यायाम करने से पूर्व, अपनी शारीरिक जाँच करवा लें और चिकित्सक की सलाह लेने के बाद ही व्यायाम करें ।

– लेकलेंड–फ्लोरिडा के हृदयरोग–विशेषज्ञ डॉ. हेनरी डी. मैकिंटोश सावधान करते हैं कि 'थकनेवाला ऐसा कोई काम नहीं करें, जिससे दर्द हो या पूरी सांस लेने में दिक्कत हो, अथवा कमजोरी महसूस हो ।'

– व्यायाम करने की क्षमता को धीरे धीरे कई महीनों में बढ़ाना चाहिए । बीच में ७/८ दिन व्यायाम करना छोड़ देने से मामला गड़बड़ा जाता है ।

– व्यायाम करते वक्त शरीर की लचक की सुरक्षा पर ध्यान देना आवश्यक है । अचानक लचक तन जाने पर, कड़े उतकों के टूटने का खतरा रहता है । इसलिए व्यायाम के बाद पाँच मिनट फैल कर लेट जाया करें । 'शवासन' करें ।

– नियमित व्यायाम (योगासन भी) करनेवाले लोगों में आत्मविश्वास बढ़ता है और सर्जनात्मक शक्ति भी बढ़ती है ।

स्वास्थ्य के लिए भोजन–नियंत्रण :

बंबई के एक प्रसिद्ध वैद्य कहते हैं कि 'दवाइयों से शारीरिक स्वास्थ्य–लाभ नहीं होता है । स्वास्थ्य–लाभ के लिए योग्य खाना–पीना आवश्यक है । मनुष्य को ज्ञान होना चाहिए कि उसकी शारीरिक प्रकृति के अनुकूल कौन–सा आहार है और प्रकृति के प्रतिकूल कौन–सा आहार है । जो प्रतिकूल हो उसका त्याग करना चाहिए, जो अनुकूल हो उसका स्वीकार करना चाहिए । इस बात में एक सावधानी बताता हूँ – अनुकूल आहार हो, परंतु अभक्ष्य हो, तो उसका त्याग करना चाहिए । अभक्ष्य पदार्थ स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल होने पर भी नहीं खाने चाहिए । नहीं पीने चाहिए । अभक्ष्य और अपेय पदार्थों का आज ही दृढ़ संकल्प के साथ त्याग कर दें । स्वस्थ और सुखी बन जाओगे ।

आज–कल अज्ञानी मनुष्य न खाने की चीजें खा रहा है । न पीने के पेय पी रहा है । बिना भूख खा रहा है । भूख से ज्यादा खा रहा है । रात्रि में भी खा रहा है । अनुभवी देशी–विदेशी डॉक्टरों ने एक सर्वेक्षण से पता लगाया है कि 'आज मनुष्य ने खाने–पीने में भयंकर भूल की है ।'

जीभ की लोलुपता के कारण आज–कल लोग बासी पाऊँ, अंडे के रस से मिश्रित आमलेट, केक, टीनपेक फुड, रसायन–फ्लेवर युक्त आइसक्रीम, कोल्ड्रींक्स आदि अखाद्य–अपेय पदार्थ खा–पीकर, आरोग्य, तेज, बल–शक्ति–ओज और आयुष्य को शीघ्र क्षीण करते जा रहे हैं। आप लोग खाते–पीते जाते हो और पेट के बूरे हाल करते जाते हो। स्वास्थ्य एवं आरोग्य को तहस–नहस कर, पेट को बिगाड़ते जाते हो। याद रखना, आखिर जीवन से हाथ धो बैठोगे। इसलिए सावधान हो जाओ। कोई भी वस्तु पेट में डालने से पहिले, अभक्ष्य, अपेय, अशुद्ध, स्वास्थ्य घातक पदार्थों को दूर से सलाम कर दो।

अपने जैनधर्म में खाने–पीने के विषय में बहुत ही सतर्कता रखी गई है। इस दृष्टि से तपश्चर्या का, बाह्य तप का विशेष महत्त्व है।

– महीने में कम से कम १ या २ उपवास करते रहें,

– भूख से कुछ कम खाया करें,

– घी–दूध–दहीं–तेल का उपयोग बहुत कम करें,

– तले हुए पदार्थ और मिष्टान्न बहुत कम खाया करें। हो सके तो त्याग कर दें।

– बहुत कम खाद्य पदार्थों का उपयोग करें।

स्वास्थ्य के लिए दवा के पास नहीं जायें :

जब स्वास्थ्य बिगड़ता है आप लोग डॉक्टरों के पास, चिकित्सकों के पास जाते हो। डॉक्टर आपको प्रिस्क्रीप्शन लिख देता है। तीन–चार दवाइयों के नाम.... पेटंट, इंजेक्शन, विटामिन की टेबलेट्स वगैरह लिख देता है। एक विदुषी विदेशी महिला डॉक्टर ने, डॉक्टरों की कोन्फरन्स के अध्यक्षीय भाषण में कहा था – 'अपन प्रिस्क्रीप्शन लिखने की कला खोते जा रहे हैं। अपन जानते–अनजानते विदेशी दवाओं की कंपनी के एजंट बन गये हैं।' कितनी मार्मिक बात कह दी है उस महिला डॉक्टर ने ? दूसरे एक प्रसिद्ध डॉक्टर ने कहा था – 'आज–कल की सभी पेटंटों को इकट्ठी कर, समुद्र में फेंक दी जायं तो मानव–सृष्टि पर महान उपकार होगा।'

वर्तमानकालीन तबीबी चिकित्सा–पद्धति ज्यादा खर्चीली तो है ही, साथ साथ भयानक भी है। उन दवाओं में ज्यादातर जहर का उपयोग किया जाता है। उन दवाओं से फायदे कम है, नुकसान ज्यादा है।

जिस प्रकार एलोपथी भयजनक है, नुकसान करनेवाली है, उसी प्रकार आयुर्वेदिक दवाइयाँ भी अब उतना लाभ नहीं करती, जितना करना चाहिए। प्राचीन काल के जानकर वैद्य लुप्त हो गये हैं। देशी दवाइयों की अनेक फार्मसी बढ़ रही हैं, औषधालय बढ़ रहे हैं, रसशालाएँ बढ़ रही हैं। मशीनों में त्वरा से दवाइयाँ बनायी जा रही हैं। दवाइयों में मिलावट होती है।

कस्तुरी में मिलावट, अंबर बनावटी–नकली, केशर भी नकली, भस्में विधिपूर्वक नहीं बनायी जाती। सच्चा शिलाजित मिलना मुश्किल है। जायफल, जावंत्री, लोंग, इलायची वगैरह के बाजार महंगे हैं। दवाओं में बड़ी धूर्तता हो रही है।

हालाँकि आयुर्वेद में हजारों सादे–सरल प्रयोग हैं। चरक, भावप्रकाश, शारंगधर इत्यादि ग्रंथों में अनेक सरल औषध बताये गये हैं। जैसे कि –

- अजीर्ण हो जाय तो सूंठ व गुड़ खाना चाहिए।
- बुखार आ जाय तो उपवास करना चाहिए।
- मंदाग्नि हो जाय तो 'पीपर' का उपयोग करना चाहिए।
- अपच हो तो अजमायन लेना चाहिए.... इत्यादि।

वैसे अपने देश में ४०/५० वर्षों से 'निसर्गोपचार' भी होते हैं। इस चिकित्सा–पद्धति में पानी और मिट्टी के प्रयोग से स्वास्थ्य–लाभ कराया जाता है। परंतु इस पद्धति में 'उपवास' का ज्यादा महत्त्व है। खान–पान का कड़ा नियंत्रण होता है। कोई दवा नहीं, कोई इंजेक्शन नहीं। वैसे यह चिकित्सा–पद्धति बहुत अच्छी है, परंतु आत्मसंयम, इन्द्रियसंयम बहुत ही अपेक्षित होता है। आजकल इसके भी केन्द्र खुलते जा रहे हैं।

प्राकृतिक उपचार और स्वास्थ्य :

एक सत्य घटना :

अभी अभी मैंने सानफ्रांसिस्को में रहनेवाले पत्रकार एवं लेखक ज्यां पॉटर शेलनोव की लिखी हुई सत्य घटना पढी। आपको सुनाता हूँ वह घटना।

शेलनोव बिलकुल निर्जन राजमार्ग पर जा रहे थे। आगे दूर धुंध में विषम ऊँची–नीची पहाड़ियाँ दिखाई दे रही थी। शेलनोव एक ऐसे मार्ग पर मुड़े, जो तेज ढलानोंवाले पहाड़ की तराई में से घूमता हुआ निकल जाता था। आगे एक संकीर्ण कच्चे मार्ग पर झटका खाकर उनकी गति धीमी हो गई और इस तरह

वे एक पर्वतीय विश्राम स्थल पर पहुँच गये। यह देखकर शेलनोव को आश्चर्य हुआ कि यहाँ रहकर एक दिल के दौरे के रोगी ने किस प्रकार अपने रोग का उपचार किया और फिर अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त किया।

जिस व्यक्ति से शेलनोव की भेंट हुई वह दुबला और सुंदर था और उसकी त्वचा का रंग धूप से कुछ गहरा हो गया था। वह था ७४ वर्षीय ब्रूनो पिरेदा। वह एक सादा और सामान्य दोमंजिले केबिन में रहता था। वैसे पिरेदा कोई जागीरदार जैसा लग रहा था। उसने स्वयं वहाँ बाग लगाया था और फलोद्यान भी लगाया था। उसने शेलनोव को कहा : 'जब मैं यहाँ १९७४ में रहने आया था, यह भूमि खाली पड़ी थी। यहाँ आने का कोई मार्ग भी न था। आरंभ में मैं एक पेड़ में शरण-स्थल बना कर सोता था। जो भी हो, इस पर्वतीय क्षेत्र ने मेरे लिए अस्पताल का काम किया है। यहाँ की निस्तब्धता मेरे लिए श्रेष्ठ औषधि सिद्ध हुई है।'

दोपहर के भोजन में उसके बाग की हरी सब्जियाँ और शहद का मिला हुआ सलाद दोनों ने खाया। पिरेदा स्वयं शराब नहीं पीता था। वह मद्यपान से दूर रहता और जान-बूझकर खूब बोलता और पैदल घूमता था। पिरेदा में जीवनभर प्रकृति का अध्ययन करते रहने का उत्साह था। बचपन से ही वह कीड़ों-मकोड़ों के बारे में, वयस्कों के लिए लिखी गई पुस्तकें पढ़ता था।

पिरेदा, ऊँची ऊँची पहाड़ियों पर बकरी की तरह चढ़ जाता था। वह किशोर था तब 'टेलीस्कोप' लेकर, आकाश के तारों का अध्ययन करने के लिए रात-रातभर घर से बाहर रहता था। द्वितीय विश्वयुद्ध में वह अफ्रीका में पकड़ा गया था और उसे अमरीका में दो वर्ष तक नजरबंद कर दिया गया था। युद्ध समाप्त होने के बाद वह 'नूओरों' लौटा था। उसने १९४७ में शादी की, उसके पाँच पुत्र है। उसने नूओरो के पर्यटक कार्यालय में नौकरी कर ली, जहाँ वह १९७४ तक कार्यरत रहा। अपने खाली समय में वह सारडीनिया की गुफाओं में घूमता रहता था और वह गुफा-विज्ञान का विशेषज्ञ बन गया। उसने एक स्वैच्छिक संगठन का गठन किया, जो उसकी भूमिगत कठोर साहसिक यात्राओं के लिए संसारभर में प्रसिद्ध है। वह १९५६ में इस संगठन का अध्यक्ष बना। उस संगठन ने जलस्त्रोतों की और ऐसी सामग्री की खोज की है जो भू-विज्ञान, पुराजीव-विज्ञान, पुरातत्त्व-विज्ञान तथा अन्य क्षेत्रों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

१९७४ में एक दिन दोपहर बाद, जब ६० वर्षीय पिरेदा, संग्रहालय में प्रदर्शनी के लिए गुफाओं के अवशेष तैयार कर रहा था, अचानक उसके कंधे और छाती में जोर का दर्द हुआ। उसको उस समय अपने भीतर मृत्यु की सनसनी सी अनुभव हुई। उसका चेहरा नीलवर्णीय हो गया। यह देखकर उसका सहायक घबरा गया और उसे फौरन अस्पताल ले गया। पिरेदा को चार दिन तक 'इंटेंसिव केयर यूनिट' में रखा गया। उस दौरे से उसके दिल को बेहद क्षति पहुंची थी। डॉक्टर ने उसे चेतावनी दी कि वह अपनी गतिविधियों को सीमित करें और अपने ऊपर किसी भी प्रकार का तनाव या दबाव नहीं पड़ने दे। उसको वहाँ इंटेंसिव केयर यूनिट में कुछ दिन रहने का परामर्श दिया गया, लेकिन पिरेदा ने अस्पताल छोड़ने का निर्णय किया। कुछ औषधियाँ उसने ले ली।

पिरेदा ने शेलनोव को बताया कि "मैं जानता था कि अपने चिंतित परिवार और संवेदना प्रदर्शित करनेवाले मित्रों के जमघट के बीच मैं अधिक समय जीवित नहीं रह सकूँगा। दबाव और तनाव रहित जीवन के लिए डॉक्टर ने मुझे आदेश दिया था कि जहाँ तक हो सके, मैं अकेला रहूँ।' पिरेदा ने अपनी पर्यटन कार्यालय की नौकरी से रिटायर होने के कुछ माह पूर्व, १९७३ में नूओरो से लगभग १० मील दूर, माऊंट ओटो बेने के समीप मोंट्रीकोस के जंगल में जमीन खरीदी थी। इस संताप के समय में उसको वह जमीन याद आ गयी।

अपनी पत्नी और सबसे छोटे दो पुत्रों से अलग रहना तथा गुफा-विज्ञान के अपने संसार को छोड़ देना, पिरेदा के लिए बड़ा कष्टकर था। 'लेकिन मेरा जीवन दाँव पर लगा हुआ था,' उसने शेलनोव को कहा। उसने अपने परिवार को कहा : 'मेरे पेंशन पर तुम लोग आराम से रह सकोगे।' स्वास्थ्य के खातिर पिरेदा ने परिवार से अलग उस जंगल में अपनी भूमि पर रहना आरंभ किया। उसका स्वास्थ्य काफी खराब था। वह बेहद कमजोर था और दवा की नौ गोलियाँ प्रतिदिन खाता था। वह उदास रहता था। 'बिना सिगरेट और टेलीफोन, मेरा जीवन कैसे चलेगा ?' यह विचार उसको सताता था। अधिकांश समय उसका ध्यान अपने दिल की धड़कनों पर लगा रहता था। उसने शेलनोव को कहा : 'एक अजीब सी सनसनाहट होती थी और ऐसा लगता था जैसे मेरे शरीर में एक कांटा गहरा चुभता जा रहा है। कई रातों में मेरी हृदय की गति इतनी धीमी और अनियमित

हो जाती थी कि मैं सोचने लगता था कि मैं सुबह तक बच पाऊँगा या नहीं । अकसर पिरेदा उदासी और घबराहट महसूस करता था । औषधियों से उसकी पाचनक्रिया बिगड़ गई थी । उसकी बुद्धि भी मंद पड़ गई थी । वह ज्यादा समय निद्राधीन रहता था ।

लेकिन इस अवस्था में पिरेदा को शारीरिक काम करने से बड़ी राहत मिलती थी । उसने ऊँचे पेड़ में अपना शरणालय, रात में आनेवाले भेडियों, जंगली सुअरों और बिल्लियों से सुरक्षित बना लिया था । उसे यह स्थान बड़ा पसंद था । अपनी शारीरिक कमजोरी के बावजूद, अपने स्थान को साफ करने का श्रमपूर्ण कार्य उसने स्वयं किया था । उसने शेलनोव को कहा : 'भूमि को साफ करने की आवश्यकता थी और मुझे घूमने फिरने के लिए स्थान की जरूरत थी । मैंने अनुभव किया कि अगर मुझे अपने शरीर को स्वस्थ और सुदृढ़ बनाना है तो मुझे हलका व्यायाम करना होगा । अगर मैं यहाँ शान्ति से रह सकूँ तो निश्चय ही उससे मेरे दिल को अधिक मजबूत बनाने में सहायता मिलेगी ।'

शारीरिक दृष्टि से सबसे पहले पिरेदा ने आत्मविश्लेषण किया और वह स्वयं अपना चिकित्सक बन गया था । उसने पाया कि हरी सब्जियों, हलका पनीर, बेर और दूसरे फलों से बना हलका भोजन करने पर, उसका दिल अच्छी तरह काम करता था । उसने अनुभव किया कि शराब पीना छोड़ने के बाद वह अधिक बेहतर महसूस करता था । वह चक्कर आने पर लेट जाता था और आराम करने से वह बेहोश होने से बच जाता था ।

पिरेदा ने, शेलनोव से कहा : 'इसके बाद मैंने एक और भव्य रहस्य पा लिया था । अच्छा होने के लिए, रोग के बारे में न सोचना अधिक हितकर है । धीरे धीरे मैंने यह भी सीख लिया कि मैं कब और क्या करना चाहता हूँ । मैं तो कुछ कर सकता हूँ या नहीं कर सकता हूँ, उसके बारे में भी सोचना मैंने सीख लिया था । एक दिन मैंने अनुभव किया कि मेरे हृदय की गति फिर से सामान्य हो गई है ।'

पिरेदा अपने आपको इतना अच्छा अनुभव करने लगे थे कि उन्होंने शीघ्र ही औषधि खाना बिलकुल छोड़ दिया । उन पर्वतों के बीच पिरेदा अपने मूल्यों में फिर से अपनी आस्था स्थापित करने में समर्थ हो गया । अपनी भूमि को कृषियोग्य बनाने, क्यारियाँ और मार्ग बनाने तथा पौधे लगाने का काम उसको बड़ा उत्साहवर्धक लगता था । वह शरीर और मस्तिष्क के स्वास्थ्य–निर्माण का यह एक उपाय मानता था । उसने शेलनोव से कहा : 'मेरे मित्र, एक पौधा

लगा कर उसके खिलने की आशा और प्रतीक्षा करना, अपने अस्तित्व को बचाए रखने की आशा तथा बीमार व्यक्ति के ठीक होने की लालसा के समान है।'

वहाँ पहली ग्रीष्म ऋतु के दौरान रात को वह बुलबुल का गीत सुना करता था, और पूर्ण चन्द्रमा की चांदनी में वृक्षों के बीच एक प्रकार का नृत्य करते हुए आकाश में उड़ते उल्लुओं को निहारा करता था।

पिरेदा ने १९७६ में अपने परिवार और प्रियजनों को मिलने की स्वीकृति देनी आरंभ कर दी थी। जैसे ही उसके शारीरिक अस्वस्थता के लक्षण मिटते गए वैसे ही दिल के दूसरे दौरे का भी भय मन से निकल गया। उसे शान्ति की स्वाभाविक अवस्था प्राप्त हो गई थी।

धीरे धीरे पिरेदा ने पर्वतीय उद्यान में सब्जियाँ, जड़ी बूटियाँ उगानी शुरू कर दीं। इसके अतिरिक्त उसके पास अंगूर का खेत और फलोद्यान भी था। उसने शेलनोव से कहा : 'जब मैंने अपने उद्यान का पहला फल चखा तो आनंद के मारे मैं उछल पड़ा था। मैंने अपने आपसे कहा कि मैंने अपने को बचा लिया है। वास्तव में मुझे इतने समय तक अपने जीवित रहने की आशा नहीं थी।' उसने कहा : 'बोरियत से बढ़कर स्वास्थ्य के लिए और कोई खतरनाक चीज नहीं है।'

पिरेदा ने जंगली पौधों की खोज शुरू कर दी। जिन्हें आम तौर पर घास-पात कहा जाता है। विभिन्न मानवीय रोगों के उपचार में इन पौधों की उपयोगिता के बारे में वनस्पतिशास्त्रियों को पूरी जानकारी होती है। पिरेदा देर रात तक संदर्भ पुस्तकें पढ़ता और ऐसे पौधों को एकत्र करने के लिए जंगल में घूमता रहता था। अपने इस प्रयास में उसे दर्जनों पौधे मिले, जिसमें एक सामान्य पहाड़ी जड़ी थी, जो दिल की अनियमित धड़कन को सामान्य करने में प्रयुक्त की जाती है।

पिरोदा ने पौधों द्वारा उपचार के लिए अपने केबिन में एक छोटी प्रयोगशाला स्थापित की। पिरेदा का अनुमान है कि पौधों के द्वारा सौ से अधिक मानवीय रोगों का उपचार किया जा सकता है। अभी तक वह लगभग एक हजार लोगों को अपनी औषधियाँ भेंट कर चुका है। जिनसे अनेक को लाभ हुआ है।

नुओरो सानफ्रांसिस्को अस्पताल के हृदयरोग विभाग के प्रमुख चिकित्सक 'मार्को पितालिस' का कथन है कि 'प्रकृति की गोद में लौट आने का पिरेदा का निर्णय निश्चय ही बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।'

'मारीसा कुआल्बु' का मत है कि 'पिरेदा के शाकाहारी भोजन और शान्त बाहरी जीवन ने उसके रोग–निवारण में आश्चर्यजनक भूमिका अदा की है।'

आज पिरेदा को सारडीनिया की जड़ी बूटियों और औषधि–पौधों का विशेषज्ञ माना जाता है। उसने स्थानीय स्कूलों में इस विषय की शिक्षा दी और एक पाठ्यक्रम के द्वारा पर्यटन–गाइडों को भी इन पौधों की जानकारी दी। अपने ज्ञानभंडार को वह अपने सबसे बड़े पुत्र माइकेल को और उसकी पत्नी लूसियाना को भी सौंप रहा है। उसने इस पर्वतीय क्षेत्र में एक पारिवारिक फार्म स्थापित किया है।

पिरेदा ने शेलनोव को कहा : 'मैं यहाँ अपने पीछे एक आदर्श ही नहीं, वरन् मानव–स्वास्थ्य के लिए उपयोगी ज्ञान भी छोड़ जाऊँगा।'

इन दिनों पिरेदा से बहुत लोग मिलने आते हैं। पिरेदा कहता है – 'मैं अभी भी इस स्थान को एक आश्रम मानता हूँ। ऐसा आश्रम कि जिसमें हमेशा मित्रों का स्वागत करने में मुझे हर्ष होता है।'

इस घटना को लिखनेवाले शेलनोव अंत में कहते हैं – जिस समय मैं वहाँ से लौटने की तैयारी कर रहा था, तब पिरेदा बोले – 'जब शारीरिक तौर पर असमर्थ व्यक्ति के रूप में पहली बार मैं यहाँ आया था, तब मुझे अपनी मृत्यु बड़ी निकट लगती थी, लेकिन शीघ्र ही मेरे मन में यह विश्वास पनपता गया कि मैं जीवित रहूँगा। आज मैं चौदह वर्ष का हूँ और मृत्यु अभी भी मुझसे बहुत दूर है।'

फिर गंभीरतापूर्वक अपनी बात आगे बढ़ाते हुए पिरेदा बोले : 'एक शान्त और श्रमपूर्ण जीवन, रोग के उपचार के लिए, एक शक्तिशाली औषधि है।'

शेलनोव कहते हैं – पिरेदा की अपनी मृत्यु पर विजय की यह बात मेरे विचार में यह थी कि यह विजय उसको धीरे धीरे और स्वतः मिली थी। परंतु पिरेदा इस बात को बेहतर ढंग से यों व्यक्त करेगा – 'वह विजय मुझे प्राकृतिक रूप से मिली है।'

उपसंहार :

ग्रंथकार ने 'शरीर–रक्षा' करने की बात कही है, इसलिए मैंने यह घटना सुनायी है। शरीर–रक्षा के कुछ उपाय टीकाकार ने बताये हैं। 'स्नानादि' कह कर 'आदि' शब्द से दूसरे भी उपाय करने का संकेत किया है।

दूसरे उपाय आपको पहले ही बता दिये हैं। धर्मपुरुषार्थ करनेवालों को भी शरीर–रक्षा करनी ही पड़ेगी ।

ज्यादातर लोग शरीर की चिंता नहीं करते हैं। उपवासादि तप करते हैं परंतु उपवास का पारणा करना नहीं आता है। पारणे में बहुत खा–पी लेते हैं और स्वास्थ्य बिगड़ता है। पेट बिगड़ते बिगड़ते ऐसा हो जाता है कि पानी भी पेट में टिकता नहीं है।

तपश्चर्या भी आप गृहस्थों को उतनी ही करनी चाहिए कि आपका स्वास्थ्य बिगड़े नहीं। स्वास्थ्य अच्छा होगा तो आप स्वाध्याय–ध्यान में अपने मन को स्थिर कर सकोगे। स्वास्थ्य अच्छा नहीं होगा तो मन स्वाध्याय–ध्यान में स्थिर नहीं बनेगा।

अपने धर्म में मुक्ति की प्राप्ति में शरीर का श्रेष्ठ संघयण महत्त्वपूर्ण बताया है। श्रेष्ठ संघयण का संबंध शरीर से हैं। वह संघयण आज अपने शरीर का नहीं है, इसलिए अपनी मुक्ति नहीं हो रही है। मुक्ति नहीं होने के अनेक कारणों में यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है। इसलिए शरीर की उपेक्षा नहीं करें। शरीर सशक्त होना आवश्यक हैं। तभी धर्मपुरुषार्थ में प्रगति होगी। विशिष्ट कष्टसाध्य धर्मआराधना कर सकोगे।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ५२

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या बता रहे हैं। ग्रंथकार की दृष्टि विशाल है। जीवन की एक-एक बात को उन्होंने स्पर्श किया है। एक-एक बात पर अपना विशद मार्गदर्शन दिया है। उन्होंने आत्मा और मन को जैसे महत्त्व दिया है वैसे शरीर को भी महत्त्व दिया है। शरीर, सभी पुरुषार्थों का एक असामान्य साधन है। उसकी रक्षा करना कर्तव्य बताया है। उसकी किस प्रकार रक्षा की जाय, वह बात कल विस्तार से बता दी है। आज एक नयी बात बताना है। ग्रंथकार आचार्यदेव कहते हैं :

'तदुत्तरकार्य चिन्ता ।। ७८ ।।'

वे चिन्ता करने को कहते हैं। आप गृहस्थ सामाजिक प्राणी है, समाज के कार्यों की चिंता करनी पड़ती है गृहस्थ को।

वैसे, गृहस्थ परिवार के साथ रहता है, पारिवारिक प्राणी है वह। उसको पारिवारिक कार्यों की चिंता करनी पड़ती है।

यदि आप नगर में, राज्य में, देश में अधिकारी-पद पर हैं, आप जिम्मेदार मनुष्य हैं, तो आपको अनेक कार्यों की चिंता करनी पड़ती हैं।

आप निश्चिंत नहीं रह सकते संसार में। असंख्य व्यवहार होते हैं इस दुनिया में। जो मनुष्य अच्छी तरह व्यवहारों को निभाता है, वह घर में, समाज में और सर्वत्र यश पाता है। जो आलसी बन कर, व्यवहारों की उपेक्षा कर देता है उसको सर्वत्र अपयश मिलता है।

सही निर्णय कैसे लेते हो ? :

व्यवहारों को निभाने में शीघ्र निर्णय लेने की आप में क्षमता होनी चाहिए। प्रतिदिन गृहस्थों को सैकड़ों निर्णय लेने पड़ते हैं। 'ओहायो विश्वविद्यालय' के मनोवैज्ञानिक रिचर्ड पेटी के अनुसार, ये निर्णय छोटे भी हो सकते हैं – 'जैसे कि भोजन में कौन-सी सब्जी बनाना ? भींडी की या ककड़ी की ?' वैसे बड़े गंभीर निर्णय भी करने पड़ते हैं – 'लड़के की शादी किसकी लड़की से करना ? एक लड़की श्रीमंत घर की है, दूसरी मध्यम घर की हैं' वगैरह निर्णय

लेने में आपको परेशानी होती होगी। लेकिन एक बात निश्चित है कि कोई भी व्यक्ति हर बार सफल निर्णय नहीं कर सकता है। बात इतनी ही है – हम अपनी कमियों को सुधार सकते हैं।

सही निर्णय करने के छः उपाय :

पारिवारिक, सामाजिक और राजकीय व्यवहारों में सही निर्णय का बड़ा महत्त्व रहता है। इसलिए यहाँ आज मैं आपको छः उपाय बता रहा हूँ। उसमें पहला उपाय है –

१. प्रश्नों की रूपरेखा बनाएँ : एक दृष्टांत से समझाता हूँ। कोई फोटो के विषय में प्रश्न उठाया गया कि 'यह फोटो कैसा है ?' निर्णय करते समय आपको सोचना चाहिए कि फोटो किस कोण से लिया गया है। किसने लिया है और कहाँ लिया है। विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना महत्त्वपूर्ण होता है। दूसरा उपाय पहले उपाय का पूरक है।

२. पूरी जानकारी प्राप्त करें : प्रश्नों की रूपरेखा के अनुसार आपको पूरी जानकारी प्राप्त करके ही निर्णय करना चाहिए। मामुली दैनिक निर्णयों में दोबारा सोचने की जरूरत नहीं पड़ती है, जैसे कि सुबह नाश्ते में तीखी सेव रखना या तीखी बुंदी रखना। कोई द्विदल रखना या हरी सब्जी रखनी पड़ेगी। लेकिन नया मकान चुनना है, तो काफी सोचना पड़ेगा। पास–पड़ोस देखना पड़ेगा। विभिन्न सेवाओं और स्कूल आदि की सुविधाएँ देखनी पड़ेगी। उस क्षेत्र में स्थावर संपत्ति के मूल्य बढ़ रहे हैं या गिर रहे हैं ? मकान की सुरक्षा की व्यवस्था क्या है ? इत्यादि। प्रमुख निर्णय लेने से पहले पूरी महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ हासिल करें। जो भी गुत्थियाँ सामने आये, उनको सुलझाने के बाद ही आगे बढ़ें। अन्यथा निर्णय में भूल होगी। हम प्रायः सहज उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर ही निष्कर्षों पर पहुँचने की हड़बड़ी करते हैं। अथवा तथ्यों को ही नजर अंदाज कर जाते हैं।

३. तीसरा उपाय है विकल्प तलाशने का : किसी भी समस्या के अक्सर कई संभावित हल होते हैं। जिनमें से कुछ तो तत्काल सूझते ही नहीं। उस समय आप अपनी कल्पनाओं को स्वतंत्र छोड़ दें। दृष्टांत के रूप में बताता हूँ कि आपके पास २५ हजार रुपये थे। मकान की मरम्मत में २० हजार खर्च हो गये। डॉक्टर के चिकित्सा–बिल में तीन हजार चले गये। अब आपके पास २ हजार ही बचे हैं। आपकी पूर्वयोजना किसी दूर के पर्वतीय प्रदेश में जाने

की थी । अब दो हजार रुपयों में आप वहाँ नहीं जा सकते हैं, तो निराश नहीं होना । 'तुमने मकान की मरम्मत में ज्यादा खर्च कर दिया,' ऐसा दूसरे पर आरोप नहीं मढ़ना, लेकिन दूसरा विकल्प खोज निकालना । 'अपन पासवाले हील–स्टेशन पर जा कर आये अथवा अपने गाँव के पास ही पिकनिक पर जायेंगे.... ' वगैरह । यह हुआ विकल्प तलाशना ।

४. चौथा उपाय है अंतरात्मा की आवाज सुनना । टेक्सास विश्वविद्यालय में जन–प्रशासन (पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन) विभाग के **प्रोफेसर वेस्टन एच.** एगार कहते हैं 'सहज ज्ञान (अंतरात्मा की आवाज) ऐसी अनुभूति है, जिस पर हम, बिना निश्चित ज्ञान हुए भी विश्वास करते हैं ।' फिर भी एगार, केवल सहज ज्ञान के आधार पर किए गए निर्णयों के प्रति सतर्क करते हैं । 'सहज ज्ञान और कल्पना दो भिन्न तथ्य हैं । कल्पना को सहज ज्ञान मान लेने की भूल नहीं करना ।'

५. पाँचवा उपाय है छोटे छोटे कदम बढ़ाएँ : यदि किसी निर्णय को लागू करना है तो कई चरणों में लागू करें । ऐसा करने पर यदि बीच में ही आपको कुछ ऐसी नई सूचनाएँ मिलती हैं, जिससे आपको अपने निर्णय पर संदेह होता है, तो आप न्यूनतम हानि में अपना निर्णय बदल सकते हैं ।

एक दंपती ने देश के एक भाग से अपना घर, अपनी दुकान बेचकर, दूसरे छोटे शहर में नया कारोबार चालू किया । उन्होंने घर खरीदने के बजाय किराये पर ही लिया । हालाँकि उन्होंने सौदा पूरा कर लिया था । परंतु निर्णय में परिवर्तन किया । इससे उन्हें विचार करने का समय मिल गया कि यह बदलाव वाकई उनकी पसंद का है या नहीं । फ्लेट अथवा फार्महाऊस – दो में से क्या चुनना है – यह सोचने का भी समय मिल गया ।

निर्णयों को पलट देने का मतलब यह नहीं कि आपमें दृढ़ता का अभाव है । बल्कि इसका अर्थ यह है कि आपमें अच्छी समझ है । अपने निर्णयों को भविष्य में होनेवाले लाभ और लागत के पैमाने पर आंकिए ।

६. छट्ठा उपाय है समय–सीमा निर्धारित करने का । निर्णय लेने के लिए आप यदि समय की सीमा नहीं निश्चित करते तो संभव है कि आप निर्णय को टालते जायेंगे । हालाँकि कभी–कभी अंतरिम निर्णयों से भी काम चलाना पड़ता है । व्यवहार चलना चाहिए । कभी दूसरों के निर्णयों को भी मान्य करने पड़ते हैं, अपनी इच्छा नहीं होते हुए भी !

निर्णयों में विवाद पड़ने से :

परिवार में और समाज में कभी आपका–स्वयं का निर्णय दूसरे मान्य नहीं करते हैं। दूसरों के साथ परामर्श कर, निर्णय करना पड़ता है। उस समय आपको अपने दृष्टिबिंदु दूसरों को समझाने पड़ते हैं। उस समय एक भयस्थान आता है। आपका ही स्वजन–परिजन आपके साथ तर्क–विवाद पर उतर आए। सभी दंपती या सभी पिता–पुत्र... समान विचार के नहीं होते हैं। विचारों की भिन्नता बनी रहती है। इससे कभी कलह उत्पन्न हो जाता है। छोटी–छोटी बातों पर कलह हो जाता है।

मेरे एक परिचित भाई ने मुझे बताया कि 'कल रात को कमरे की खिड़की को खोलने की बात को ही लेकर हम पति–पत्नी बहुत लड़े। वह खिड़की खोलती और मैं बंद कर देता। लेकिन वह फिर उसे खोल देती। मुझे दमा है। मैं ठंडी हवा सहन नहीं कर सकता। मैंने पत्नी से पूछा कि वह आखिर खिड़की क्यों खुली रखना चाहती थी। उसने बताया कि उसे ताजी हवा का शौक है। उसे घुटन बिलकुल नहीं सुहाती।'

ऐसे तो अनेक युगल होते हैं दुनिया में। जो अपने आपको ऐसी स्थिति में पाते हैं, जहाँ समझौते की कोई गुंजाइश नहीं दिखाई पड़ती। वे केवल अपनी बात को तर्कसंगत और अपने साथी की बात को असंगत मानकर, अपनी बात पर अड़ जाते हैं।

बाद में बहस चल पड़ती है। दोनों ही जीतने की कोशिश करते हैं। कौन जीतता है, वह महत्त्वपूर्ण नहीं होता, मुख्य बात यह है कि इस सारे तर्क–वितर्क के बीच पड़कर, वास्तविक प्रश्न कभी हल नहीं हो पाता है। क्योंकि वाद–विवाद में एक–दूसरे पर व्यंग्य करने और अपने स्वार्थ पर अड़े रहने के दुष्चक्र में आप फँस जाते हैं।

व्यवहार में समाधान खोजें :

मान लो कि आपका साथी–स्नेही गलती पर है, स्वार्थी है और जिद्दी है, तो आप चार बातें सोचें –

१. आप दोनों क्या चाहते हैं।

२. मतभेद क्यों और कहाँ पैदा होता है।

३. संभावित समाधानों पर खुल कर विचार करें।

४. वह हल स्वीकार करें, जिससे दोनों को अधिक से अधिक संतोष मिले।

पहली बात मुझे आपसे यह कहनी है कि आपके संवाद का ढंग व्यंग्यभरा नहीं होना चाहिए और उकसानेवाला नहीं होना चाहिए। इस व्यंग्यभरी शैली में आपका वास्तविक मंतव्य खो जायेगा।

एक उदाहरण से यह बात समझाता हूँ।

पत्नी ने पति को कहा : 'क्या आज रात बहन के वहाँ चलोगे ?'

पति ने कहा : 'ठीक है....'

पत्नी ने पूछा : 'क्या तुम सचमुच चलना चाहते हो ?'

पति ने कहा : (झुंझला कर) 'मैंने कहा न, ठीक है।'

पत्नी ने कहा : 'अगर तुम वाकई नहीं चलना चाहते हो तो घर पर ठीक है।'

पति ने रोष में कहा : 'मुझे क्यों परेशान कर रही हो ?'

पत्नी ने गुस्से में बोला : 'मैं तो केवल तुम्हारे लिए कह रही थी और तुम हो कि झगड़ने पर तुले हो।'

पत्नी पति से तर्क नहीं चाहती थी। परंतु अपनी अनुभूतियों को वह परोक्ष एवं अस्पष्ट शब्दों में व्यक्त करती थी। पत्नी सीधे प्रश्न कर के इस संघर्ष से बच सकती थी, जैसे – 'आज रात का क्या कार्यक्रम है ?' अगर पति कहता – 'मैंने नहीं सोचा।' तो पत्नी सुझाव दे सकती थी – 'क्या घर में रहने का इरादा है या बाहर चलना पसंद करोगे ?' अगर पति बाहर जाना ही चाहता था तो वह पूछ सकती थी – 'किसी के घर चलोगे या हम दोनों अकेले ही घूमेंगे ?' इस तरह वह अपनी सद्भावना व्यक्त कर सकती थी, तो परस्पर झगड़ा नहीं होता। वास्तव में स्नेही से, स्वजन से, मित्र से तर्क–वितर्क नहीं करना चाहिए।

झगड़े के स्त्रोत को खोजें :

आपस के व्यवहारों को निभाने के लिए, व्यवहारों की शुद्धि बनाये रखने के लिए, परस्पर संवाद द्वारा संबंधों को शान्तिमय बनाए रखने चाहिए। वैसे परिवार में, बच्चों के पालन–पोषण के विषय में, धन कमाने के विषय में, काम के बँटवारे के विषय में, अवकाश पाने के विषय में.... सेक्स को लेकर झगड़े होते रहते हैं। समझौता कठिन हो सकता है लेकिन असंभव नहीं।

इसका सबसे बढ़िया तरीका है झगड़े के स्त्रोत को खोज कर, उसको दूर करना। आपस में बहस करने की बजाय यह तरीका कारगर सिद्ध होगा। अनेक

दंपती गुस्से को भड़काने के बजाए नियमित रूप से परस्पर संवाद द्वारा अपने दांपत्य को सुखमय बनाए रखते हैं। कुछ दंपती सप्ताह में एक बार बाहर निकलते हैं और कहीं शान्ति से बैठकर अपने मामलों पर विचार करते हैं। इस विषय में कुछ सुझाव सुन लें :

१. जो भी बात करें संक्षेप में करें। एक–दो वाक्यों में ही अपनी बात कह दीजिए। इसमें तर्क नहीं होगा और चुभती हुई बात हो नहीं सकेगी।

२. जो भी बात करें, स्पष्ट शब्दों में करें। शिकायत नहीं करें। स्पष्ट कहें कि – **'मैं चाहता हूँ कि तुम धीरे से बोला करो, मैं आराम करूँ तब मौन रहो।'**

३. अपमान नहीं करें, आरोप नहीं मढ़ें और दोषारोपण से दूर रहें। खुल कर बात करें। कहें – 'माना कि समस्या है, देखते हैं कि हम इसे कैसे हल कर सकते हैं ?'

४. चौथी बात है कि आप चुभनेवाले विशेषणों का प्रयोग न करें। 'आलसी', 'स्वार्थी', 'झूठा...' 'चोर' जैसे शब्द–प्रयोग करने का अर्थ है कि सच्चाई जाने बिना आप बात बढ़ा रहे हैं। ऐसे शब्द दूसरे को भड़का सकते हैं, क्रोधित कर सकते हैं और बनती बात को बिगाड़ सकते हैं।

५. अंतिम बात नहीं कहें। क्योंकि ऐसी बात का कड़ा उत्तर ही मिलता है। याद रखना कि ऐसे दंपती कम ही होते हैं जो कभी ठीक बात नहीं करते या हमेशा गलत बात करते हैं।

६. छट्ठी बात है रचनात्मक ढंग से बात करने की। 'तुम काम में मदद नहीं करते हो', ऐसी शिकायत करने के बजाय कहिए कि 'यदि तुम थोड़ा हाथ बँटा दो तो कितना अच्छा हो।' इस प्रकार शब्द–प्रयोग कर देखना।

७. सातवी बात है मंतव्यों के विश्लेषण से बचने की। आपका विश्लेषण गलत होने की पूरी संभावना है। इसलिए मंतव्यों का विश्लेषण करना ही नहीं।

८. आठवी बात है नकारात्मक बातों की उपेक्षा करें। दुःख या गुस्से में आपका साथी समस्या को बढ़ा–चढ़ाकर देखता है। अथवा उसका दोष अन्य पर मढ़ता है, उस समय उसके क्रोध के कारण पर ध्यान देना। दोषारोपण संबंधी बातों की उपेक्षा करना।

९. नौवीं बात है अपने साथी की शिकायत को समझने का प्रयास करना। शिकायत का सार क्या है, उसका विश्लेषण कीजिए। जैसे आपने कहा : 'मैं

समझता हूँ कि तुम मुझसे कह रही हो कि तुम मेरी माँ के साथ अब ज्यादा समय रहना नहीं चाहती.... ?' तो आपको पत्नी का स्पष्ट उत्तर मिल जायेगा। कभी आपका साथी अस्पष्ट और सामान्य बात कहता हो तो उससे स्पष्ट और असली बात बताने को कहें।

१०. **दसवीं बात है समझौते के आधार खोजें**। अगर आपको अपने साथी की शिकायत सही लगती हो तो उसका स्वीकार करें – 'मैं जानता हूँ मेरा देरी से घर आना तुम्हें अच्छा नहीं लगता। अब मैं प्रयत्न करूँगा समय पर घर आने का।'

११. **ग्यारहवीं बात है अपने मंतव्य को स्पष्ट करें**। अगर आपके साथी ने आपकी बात को गलत समझा है तो अपनी बात, बिना बहाना बनाए बेझिझक कहिए।

१२. **बारहवा और अंतिम सुझाव यह है कि आप खेद व्यक्त करने से मत हिचकें**। आपकी किसी बात से या काम से आपका साथी दुःखी होता है तो खेद प्रकट करने में संकोच नहीं करना। क्योंकि यह अभिव्यक्ति भी प्यार का ही एक अंग होती है।

समाधान की ओर प्रगति करें :

जैसे जैसे समस्या–समाधान संबंधी आपका विचार–विमर्श बढ़ता जाएगा, समाधान की ओर अधिक प्रगति होगी : एक सावधानी रखना। आप अपने साथी की गलतियों पर बल मत देना। अपने मन चाहे लक्ष्य को प्राप्त करने पर अधिक जोर देना। सर्वप्रथम बात यह है कि आपका बोलने का तरीका बदल दो।

'तुम अब मुझसे बात नहीं करते हो,' ऐसा कहने की जगह यह कहना अच्छा होगा कि 'हम अपने लिए कुछ समय अलग से निकालें। अथवा आप चाहें तो अपने लिए कुछ समय अलग से निकालें। अथवा आप चाहें तो अपन शाम को किसी अच्छी जगह घूमने चलें।'

– दूसरी बात यह है कि दूसरे को नीचा दिखाने का या उसकी आलोचना करने से बचते रहें।

– समस्या का हल खोजने में कुछ अच्छी बातों की चर्चा के लिए भी समय रखिए।

– एक परिचित पुरुष ने कहा : 'जब मैं दफ्तर में किसी काम से परेशान

हो कर, घर लौटता हूँ तो मेरी पत्नी आवश्यकता से अधिक सहानुभूतिपूर्ण होती है और यह बताने की कभी कोशिश नहीं करती कि मुझे क्या करना चाहिए!' यह एक सफल दंपती की बात है। सफल दंपती बनने के लिए एक–दूसरे की विशिष्टताओं का या विशेष आदतों का स्वीकार करना सीख लेना चाहिए। लंबे संबंधों में वस्तुतः एक–दूसरे की आदतों में साम्य पैदा कर लेना चाहिए। पारिवारिक व्यवहारों में, कर्तव्यपालन में ये बातें बहुत महत्त्व रखती हैं।

संतानों की भी चिंता करें :

यदि आप बच्चों के माता–पिता हैं तो आपको अपने बच्चों की भी चिंता करनी चाहिए। विशेष कर, जो किशोर–किशोरियाँ हैं, स्कूल–कॉलेज जाते हैं, उनका खयाल करना बहुत आवश्यक हैं।

एक पिता के हाथ में अपनी बारह वर्षीय पुत्री के हाथ का लिखा हुआ पत्र आ गया। वह उस पत्र को अपनी प्रिय पत्रिका में भेजनेवाली थी। पत्रिका के स्वास्थ्य कॉलम को संबोधित उस पत्र में लिखा था – 'मैं बारह वर्ष की लड़की हूँ। पिछले दो महीनों से अपने पुरुष–मित्र के साथ मेरे शारीरिक संबंध हैं, क्या मैं गर्भवती हो सकती हूँ ?'

आज के अधिकांश युवा और किशोर यौन–संबंध का अनुभव करते हैं। गर्भनिरोधकों का प्रयोग न करने की समस्याओं से जूझते हैं। समय से पूर्व शारीरिक संबंधों में केवल गर्भ–धारण ही एक समस्या नहीं है, इसके अतिरिक्त यौनरोगों की चपेट में आने का भी खतरा होता है। जिसका परिणाम, महिलाओं में बांझपन भी हो सकता हैं।

चिकित्सकों ने, मनोवैज्ञानिकों ने और शिक्षाविदों ने सेक्स की ओर प्रवृत्त किशोरों की कुछ विशेषताओं का संकलन किया है।

– अधिकांश किशोर सेक्स से अनभिज्ञ होते हैं।

– १३ वर्षीय एक लड़की ने कहा : पड़ोस के १६ वर्षीय लड़के के संसर्ग से मैं गर्भवती बनी हूँ। मुझे पता नहीं था कि एक बार भी ऐसा कर लेने से इतनी छोटी उम्र में मैं गर्भवती हो जाऊँगी।

– सानफ्रांसिस्को में कैंसर चिकित्सा केन्द्र में किशोर विभाग के प्रमुख चार्ल्स दिबेल्समेन ने कहा है : किशोर और किशोरियाँ अपनी शारीरिक संरचना से पूरी तरह अनभिज्ञ होते हैं और वे अपने अभिभावकों से इस विषय में बात करने से डरते हैं।

– कुछ अनुभवी व्यक्ति कहते हैं : ये किशोर लड़के–लड़कियाँ सेक्स के बारे में उनसे कहीं अधिक जानते हैं। जितना कि उन्हें अपनी युवावस्था में मालूम नहीं था।

– सेक्सी वासनावाले किशोर, सेक्सी मित्रों के साथ अकेले घूमने लगते हैं। वे केवल किशोरों की पार्टियों में जाते हैं जहाँ कोई भी बड़ा व्यक्ति नहीं होता। साथ ही साथ शराब और नशीली दवाइयों के प्रति उनकी ललक, उन्हें आकर्षित करने लगती है।

– सेक्स के प्रति आकृष्ट लड़कियाँ अपने से बड़े उम्रवाले लड़कों के साथ घूमना और समय बिताना चाहती हैं। लड़कियाँ कभी समान उम्र के लड़के से संपर्क करना पसंद नहीं करती!

– सेक्स की ओर प्रवृत्त लड़कियाँ यह अनुभव करती हैं कि लोग उन्हें पसंद नहीं करते हैं।

– अधिकांश लड़कियों के लिए पुरुष–मित्र होना उनके आत्म–सम्मान के लिए आवश्यक मानती हैं और बहुत–सी लड़कियाँ सोचती हैं कि यौन–संबंधों द्वारा ही मैत्री का मूल्य चुकाया जा सकता है।

– एक मोनिका नाम की लड़की कहती है – स्कूल में सब बच्चे ऐसी बात करते थे जैसे वे सेक्स के बारे में (स्त्री–पुरुष के संभोग के विषय में) सब कुछ जानते हों! मुझे ऐसा लगता था कि केवल मैं ही एक ऐसी लड़की हूँ जो अभी तक अछूती हूँ! बाद में मुझे पता चला कि जो बच्चे हमेशा सेक्स के बारे में बातें करते थे, वे सेक्स से अनजान थे।

– लड़के भी अपने हमउम्र साथियों के बीच धाक जमाने के लिए सेक्स का प्रयोग कर सकते हैं। १४ वर्ष की ही उम्र में संभोग का प्रथम अनुभव करनेवाला पंकज नाम का लड़का कहता है – मेरे स्कूल के लड़कों की यह धारणा थी कि अगर तुम्हारे, लड़कियों के साथ संबंध (संभोग का) नहीं है तो तुम कमजोर, निष्प्रभावी और नीरस हो। परंतु सेक्स ने न तो मुझे अधिक प्रसिद्ध किया और नहीं अपने को मैंने कुछ अधिक अच्छा समझा। मुझे लगा कि मैं इस चक्कर में फँसने के बजाय यदि मैं वाद–विवाद (डिबेट) दल में अपना स्थान बना लेता अथवा खेल–कूद में आगे प्रगति करता तो शायद मुझे अधिक प्रसन्नता होती।

किशोर–किशोरियों को यौन–संबंध से रोकें :

आप अपने लड़के–लड़कियों को, जब तक वे यौवन में प्रवेश कर, शादी नहीं कर लेते हैं, तब तक अपरिपक्व संभोग–संबंध बाँधने पर रोक लगा दें। अन्यथा आपके बेटे–बेटियों के शील का भंग तो होगा ही, शरीर का भी नाश हो जायेगा। अनेक गुप्त एवं प्रगट रोगों से वे आक्रान्त हो जायेंगे। यदि आपके हृदय में बच्चों का हित बसा है तो बात है।

सभा में से : हम कहते हैं, परंतु लड़के–लड़कियाँ मानते नहीं।

महाराजश्री : आप खुलकर बच्चों से बात ही नहीं करते। उनसे इन विषय पर बात करने में संकोच न करें। यह चर्चा, संभव है आपको अरुचिकर लगे, लेकिन सामान्य बातचीत के दौरान या बच्चे द्वारा पूछे गए प्रश्न के समय, अथवा किसी ऐसे दृश्य देखने पर आप अपने विचार बच्चों के सामने प्रस्तुत करें। बच्चों को प्रेम से समझाना होगा कि शादी के पूर्व संभोग करने से कितने शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक और सामाजिक नुकसान होते हैं।

– तुम्हारे शरीर में अनेक रोग पैदा होंगे।

– तुम्हारा मन अभ्यास–अध्ययन में नहीं लगेगा।

– घर में तुम 'आवारा' माने जाओगे, तुम्हारे प्रति आदर की भावना नहीं रहेगी।

– समाज में तुम 'बदचलन' माने जाओगे। तुमसे कोई शादी करने तैयार नहीं होगा। बदचलन लड़कियों के माता–पिता कितने चिंताग्रस्त होते हैं, कितने 'हाइपर टेंशन' में होते हैं, जानना है ? ऐसे माता–पिताओं को ही आप पूछना।

– कुछ पिता अपने लड़के–लड़कियों को संभोगविषयक पुस्तक देते हैं। परंतु यह गलत है। सेक्स–संबंधी पुस्तक देना नहीं है और न ही यह अपेक्षा करना कि सेक्स–संबंधी उसकी सारी जिज्ञासाओं को वह पुस्तक शांत कर सकेगी! मेरी राय में तो ऐसे पुस्तक सेक्सी भावनाओं को उत्तेजित करती हैं।

बच्चों के प्रश्नों को सुनों :

आपको घर की चिन्ता करना है, पत्नी की चिंता करना है वैसे बच्चों की भी चिन्ता करना है। उनको उन्मार्ग पर जाने से रोकने के लिए और सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए एक उपाय जान लें – **आप अपने बच्चों के प्रश्नों को मत टालिए।**

यदि बच्चे को इस बात का विश्वास हो कि 'आप आलोचना न कर, उनकी

बात को सुनेंगे और उन्हें एहसास करायेंगे कि आप उनकी हर तरह की बात शान्ति से सुनेंगे !' तो बच्चे आपके निकट आयेंगे । आपसे प्रेम करेंगे। उस प्रेम के माध्यम से आप उनको गलत कार्य करने से रोक सकेंगे ।

कैरीटोस, कालेज–अस्पताल में युवा सेवाओं के वरिष्ठ परामर्श दाता **डॉ. चार्ल्स टी. क्लैग** ने कहा है – 'क्रोध और गुस्से पर काबू रखते हुए अपने बच्चे के प्रश्नों को समझने की कोशिश करें। गुस्से के कारण बातचीत बंद नहीं होनी चाहिए ।'

डॉ. ड्यूक डंकन ने कहा है – बच्चे का आत्म–सम्मान बढ़ाने में आप बच्चे की मदद करें । बच्चा विशेष सुरुचि में और कलाओं में निपुणता प्राप्त करें, इसलिए उसको प्रेरित करें । बच्चे को समझायें कि वह अपनी ही नजर में ऊँचा उठे । वह आत्मतृप्ति प्राप्त करे । आत्मतृप्ति, वस्तुतः सेक्स से प्राप्त क्षणिक तृप्ति से कहीं अधिक प्रभावी होती है । अपने बच्चों को धार्मिक दैनिक क्रियाओं के साथ–साथ संगीत, खेल, नृत्य आदि कलाओं के प्रति आकर्षित करें ।

गोर्डन कहता है – 'दूसरों के लिए अच्छे कार्य कर के कोई भी संवेदनशील किशोर अपने आत्म–सम्मान को बढ़ा सकता है ।' आगे चल कर यही चिंतक कहता है कि 'माता–पिता के बीच परस्पर प्रेम और देखभाल की भावना, बच्चों के लिए प्रेरणादायी बनती है ।'

पुत्री के पिता को प्रेरणा :

यदि आप पुत्री के पिता हैं तो अपनी बेटी की भावनाओं का ध्यान रखें । पुत्री की किशोरावस्था में यदि उसका पिता उसको स्नेह नहीं देता है तो वह दुःखी और अपमानित महसूस करती है । इसलिए, प्यार पाने के लिए उसके समवयस्क लड़कों की ओर आकृष्ट होने की पूरी संभावना रहती है । १३ वर्षीया एक लड़की का पत्र मिला था – जब से मेरे पिता ने मुझे गले लगाकर दुलारना बंद किया तो मेरे मन में आया कि मैं उस सुंदर किताब को फाड़ डालूँ जो मेरे जन्म–दिन के उपलक्ष्य में पिताजी ने मुझे उपहार में दी थी ! अथवा मैं आत्महत्या ही कर लूँ ! अथवा किसी और से प्यार पाना शुरू कर दूँ ।... बाद में मैंने एक लड़के के साथ संभोग करना शुरू किया... वह मेरी हार थी... मैंने हार कर ही उस पुरुष को मित्र बनाने का फैसला किया था । आपका प्रवचन सुनने के बाद मैंने वह सेक्सी–संबंध तोड़ दिया है, परंतु जो बड़ी भूल हो गई है, उसका मुझे क्या प्रायश्चित्त मिलेगा ? मैं शुद्ध बन सकूँगी ? मुझे मार्गदर्शन देने की कृपा करें... ।'

न तो आप अपनी लड़कियों को ताले में बंद कर सकते हैं और न लड़के को १८ वर्ष का हो जाने तक घर में छुपा सकते हैं। वास्तव में किशोरों पर अत्यधिक प्रतिबंध लगाना, उनको और भी अधिक विद्रोही बना सकता है।

कुछ माता-पिता अपने बच्चों पर प्रतिबंध लगा कर उनकी यौन भावनाओं को दबाने की चेष्टा करते हैं। परंतु अधिकांश ऐसी घटनाएँ (सेक्सी) माता-पिता घर में नहीं होते हैं तभी घटती हैं! ऐसे अवसरों को रोकने के लिए माता-पिता अपने बच्चों को यह साफ साफ बता दें कि जब तक घर पर कोई बड़ा व्यक्ति उपस्थित न हो, तब तक विजातीय मित्र को घर पर न बुलाएं।

माता-पिता को इस बात पर भी बल देना होगा कि बच्चों की पार्टियों में बड़े व्यक्ति भी हों और शराब आदि का प्रयोग न हो। किशोरों को समूह में ही घूमने की आज्ञा दें।

बच्चों को ऐसे प्रतिबंधों से शिकायत हो सकती है। परंतु अधिकांश बच्चों का विचार है कि यह कठिन परिस्थितियों से उबरने में उनके लिए सहायक होते हैं ऐसे प्रतिबंध।

आप अपने बच्चों को पास में बिठा कर कहें : 'तुम्हारे आगे उज्ज्वल भविष्य है। ऐसा भविष्य, जो अपरिपक्व यौन-संबंधों के कारण आसानी से नष्ट हो सकता है।'

- अपने बच्चे की बातों को ध्यान से सुनें।
- उसकी अच्छी महत्त्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित करें।
- उसके साथ बैठकर, उसके भविष्य की नई संभावनाओं की खोज करें।
- किशोरों को स्वयं समझने दें कि युवावस्था की ओर धीरे धीरे बढ़ना है, अच्छी दोस्ती बढ़ाना है, एक-दूसरे का हाथ पकड़ना है, अपनी आत्मा को समझना है.... आत्म-सम्मान को बढ़ाना है, परमार्थ - परोपकार करना है, व्यसनों से बचना है, परमात्मा की ओर धीरे-धीरे आगे बढ़ना है!

किशोरों की, किशोरियों की इस प्रकार चिंता करना। करोगे न? संतानों का योगक्षेम करने की आपको चिंता होनी ही चाहिए।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ५३

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरि–विरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक धर्म का निरूपण किया गया है। उसमें श्रावक की दिनचर्या बताते हुए कहा गया है :

'तदुत्तरकार्य चिन्ता ।। ७८ ।।'

भोजन के बाद शरीर–रक्षा के लिए स्नान–अभ्यंगनादि करने को कहा, उसके बाद यह बात कही, जीवन में आवश्यक दूसरे कार्यों की चिन्ता करने की। जीवन में आवश्यक दूसरे कार्यों की सूची लंबी है। महत्त्वपूर्ण बात है अपने दायित्वों का गरिमापूर्ण निर्वाह करने की। ग्रंथकार ने इस बात का स्पष्ट निर्देश दिया है।

मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह केवल पेट से प्रजनन तक की चिन्ताएँ करने तक सीमित नहीं है। उसके साथ अनेक जिम्मेदारियाँ जुड़ी हुई हैं। यह दायित्व बहुमुखी होता है। इसलिए मनुष्य की समझदारी भी विशाल होनी चाहिए। जिससे मनुष्य स्वयं लाभान्वित होता रहे और दूसरों के अभ्युदय में सहयोग देता रहे।

पशु और मनुष्य में अंतर :

पशु–पक्षियों का दायित्व अपने आप तक ही सीमित रहता है। ज्यादा से ज्यादा अपने परिवार तक। पेट से प्रजनन तक। वे अपनी परिधि में रहते हैं। वे प्रकृति के अनुशासन में जीते हैं। उनमें चिन्तन करने की कोई मौलिक क्षमता नहीं होती है। वे अपने स्वभाव से अपना काम करते हैं और निर्वाह चलाते रहते हैं। वे आहार खोजने और उदरस्थ करने में ही अपना ज्यादा समय लगा देते हैं। शेष समय निद्रा और मैथुनक्रिया में चला जाता है। एक–दूसरे पर आक्रमण भी करते रहते हैं। इसके अलावा उन्हें अतिरिक्त जिम्मेदारी नहीं उठानी पड़ती है। न उनको सोच–विचार करने के तंत्र का विकास करना पड़ता है।

परंतु मनुष्य की स्थिति उनसे भिन्न है। उसकी शरीर–संरचना ही ऐसी है कि जिनके कारण उसे आहार, वस्त्र, भवन, आच्छादन, परिवार–निर्वाह आदि जरूरतें पूरी करनी पड़ती हैं। उसका निर्वाह सामाजिक लोकव्यवहार के सहारे होता रहता है। प्रगति का आधार भी इसी माध्यम से होता है।

प्रथाएँ, परिपाटियाँ, रीति–नीति, कानून–व्यवस्था आदि का सिलसिला भी इसी कारण शुरू हुआ है। मनुष्य के जिम्मे बहुत से उत्तरदायित्व रहे हुए हैं। उन उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए उसमें मौलिक सूझ–बूझ होनी चाहिए।

मनुष्य की मौलिक सूझ–बूझ :

मौलिक सूझ–बूझ में पहली बात है इन्द्रिय–संयम की। उसको :

– जिह्वेन्द्रिय पर संयम रखना होगा। स्वाद की लोलुपता नहीं चाहिए। भूख से अधिक मात्रा में प्रिय भोजन भी नहीं करना चाहिए। प्रीतिभोजों में पेट की सीमा का खयाल करना चाहिए। करते हो खयाल ? शरीर की आवश्यकता का दायित्व समझना चाहिए। नहीं समझते न ? अभक्ष्य भी खा लेते हो न ? नशा भी करते होंगे ? परिणाम क्या आता है ? बीमारी और अकाल मृत्यु ! इसलिए आपका पहला दायित्व है अपनी जीभ पर संयम रखने का।

– जननेन्द्रिय पर भी संयम रखना, उत्तेजनाओं पर नियंत्रण रखना, उतना ही आवश्यक है। सेक्सी उत्तेजनाएँ अनेक अनर्थ पैदा करती हैं। पति–पत्नी को भी मर्यादा में रहना है। बच्चों के देखते प्रेमचेष्टाएँ नहीं करनी हैं।

– वस्त्रों की सीमा–मर्यादा का पालन होना चाहिए। आज–कल कुछ वर्षों से वस्त्रों की न सीमा रही है, न मर्योदा रही हैं। जिन श्रीमंतों के पास अपार संपत्ति है, उनकी बात जाने दें, उनकी तो अलमारियाँ भरी होती हैं सुंदर और मूल्यवान् वस्त्रों से। लेकिन जो मध्यम वर्गीय गृहस्थ हैं वे भी वस्त्रों की मर्यादा भूल गये हैं। उनके पास भी अनेक ड्रेस होते हैं। वस्त्रों का प्रयोजन शरीर–रक्षा का था, अब प्रयोजन बदल गया है। शरीर–सौन्दर्य बन गया है प्रयोजन। इस विषय में मनुष्य बुद्धिहीन और विवेकशून्य दिखता है। मौलिक सूझ–बूझ नहीं रही इस विषय में।

– मनुष्य के अनेक दायित्वों में मुख्य दायित्व होता है अपने परिवार का पालन–पोषण का और घर पर आये–गये लोगों के आतिथ्य का। इसलिए उसको पैसे कमाने पड़ते हैं, धनार्जन करना पड़ता है। अर्थपुरुषार्थ बड़ा महत्त्व रखता है गृहस्थ जीवन में। इस युग में मनुष्यों के पास पैसे बढ़े हैं। महंगाई बढ़ी है, कबूल है, लेकिन पैसे भी बढ़े हैं। अन्याय–अनीति से धन कमा कर कई श्रीमंत भी बने हैं। ऐसे ज्यादातर श्रीमंत अपने धन का दुर्व्यसनों में खर्च करते हैं। बड़ी बड़ी होटलों में जाते हैं, शराब पीते हैं, जुआ खेलते हैं.... व्यभिचार सेवन करते हैं। अनाप–सनाप रुपये खर्च कर देते हैं। पैसे का सदुपयोग वे

जानते ही नहीं हैं। न वे पारिवारिक दायित्वों को जानते हैं, न सामाजिक जिम्मेदारियों का उनको भान होता है। परिणाम स्वरूप वे विविध दुःखों में फँस जाते हैं। शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजकीय दुःखों की शृंखला में बंध जाते हैं।

बच्चों की शिक्षा की चिंता करें :

अनेक दायित्वों की चिन्ता में यह शिक्षा के दायित्व की चिंता प्रमुख चिंता है। यदि आपके घर में लड़के हैं, लड़कियाँ हैं, तो उनको उत्तम शिक्षा मिलनी चाहिए। उनको दो प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिए –

१. व्यावहारिक और

२. धार्मिक।

व्यावहारिक शिक्षा आजकल हर गाँव की स्कूल में मिलती है। प्राथमिक शालाएँ सरकार ने हर गाँव में प्रायः बना दी हैं। बड़े गाँवों में हाईस्कूलें खूल गई हैं, शहरों में कॉलेजें भी खुल गई हैं। आप आपके बच्चों को उन शाला–महाशालाओं में भेजते हो और व्यावहारिक शिक्षा दिलाते हो। परंतु शिक्षा भी आजकल बहुत महँगी हो गई है। स्कूलों में प्रवेश पाने के लिए स्कूलवाले "डॉनेशन" माँगते हैं। जिन बच्चों के माता–पिता 'डॉनेशन' – दान नहीं दे सकते हैं, वे बच्चें स्कूल में प्रवेश नहीं पाते हैं।

कुछ लोग व्यसनों में पैसे खर्च कर देते हैं, बच्चों की शिक्षा के लिए पैसे नहीं देते हैं। बिना शिक्षा पाये बच्चे सड़कों पर आवारा घूमते हैं, अथवा मजदूरी करते हैं, अपराधी बनते हैं या दुष्टों के हाथों बिक जाते हैं।

याद रहे, आप श्रावक–श्राविका हैं, यहाँ प्रवचन सुनने नहीं आनेवाले भी हजारों श्रावक–श्राविकाएँ इस नगर में हैं। वे अपने आपको "जैन" मानते हैं। परंतु जैनप्रजा के दायित्वों का उनको ज्ञान है क्या ? नहीं जानते वे अपने कर्तव्यों को, दायित्वों को। इसलिए ज्यादातर जैनप्रजा अपने बच्चों को कॉन्वेन्ट स्कूलों में प्रवेश करवाते हैं। ज्यादातर उन स्कूलों में ईसाई धर्म के ही संस्कार और प्रभाव पड़ते हैं। ईसाई धर्म में मांसाहार त्याज्य नहीं माना है, जैनधर्म शुद्ध निरामिष आहारी है। अहिंसा उसका आदर्श है। वैसे जैनधर्म से विपरीत अनेक बातें ईसाई धर्म की हैं। कॉन्वेन्ट स्कूलों में ज्यादातर ईसाई धर्म के 'फाधर' (साधु) और नन्स (साध्वी) ही पढ़ाते हैं। वे ईसाई धर्म के ही गुणगान करते रहते हैं। आपके बच्चे उस धर्म से ज्यादा प्रभावित होते हैं। अंडा, मछली वगैरह

खाने लगते हैं। अंग्रेजी भाषा का ज्ञान होता है, वे अंग्रेजी में बोलते भी हैं, परंतु कोन्वेन्टिया अंग्रेजी कैसा अशुद्ध होता है, आप जानते हो ?

बच्चे स्कूल में से आने के बाद, उनके साथ पढ़ाई के विषय में आधा घंटा भी बात करते हो ? आप को चिन्ता होनी चाहिए कि बच्चों को अच्छी शिक्षा मिले। इसलिए, बच्चे क्या पढ़ते हैं, कैसा पढ़ते हैं... साथ साथ उसकी सारी प्रवृत्तियों के विषय में आपको जानकारी रहनी चाहिए। उसमें भी खास मित्रों के विषय में। आपके बच्चों के कौन मित्र हैं, कैसे मित्र हैं, इसकी जानकारी रहनी चाहिए।

कोन्वेन्ट स्कूलों का मोह छोड़ना चाहिए :

सभा में से : अपनी जैन स्कूलें, हाईस्कूलें नहीं हैं इस शहर में... ।

महाराजश्री : जैन स्कूलें नहीं हैं तो आप लोग शुरू कर सकते हैं। आपका वह काम है। आपके बच्चों को अच्छी शिक्षा, अच्छे संस्कार देने हैं, तो आपकी स्कूल भी होनी चाहिए। बहुत ही श्रेष्ठ कक्षा की शिक्षा दे सकते हो स्कूल में। परंतु यह विचार आपको आया ही नहीं है। दूसरे कार्यों में लाखों रुपये खर्च करते हो, शिक्षा के क्षेत्र में नहीं। दुर्भाग्य है समाज का। जब तक जैन समाज की स्कूल न बनें वहाँ तक हिन्दुधर्म की स्कूलों में अथवा सरकारी स्कूलों में बच्चों को भेजें। परंतु कोन्वेन्ट स्कूलों में नहीं भेजे।

दूसरी है धार्मिक शिक्षा :

जैन संघ में धार्मिक शिक्षा देनेवाली पाठशाला होनी चाहिए। वहाँ अच्छा ज्ञानी और सच्चरित्री शिक्षक रखना चाहिए। बच्चों को उस पाठशाला में एक-दो घंटा भेजने चाहिए।

सभा में से : बच्चे स्कूल से आते हैं, भोजन करते हैं और ट्यूशन के लिए जाते हैं, वहाँ से आते हैं तो T.V. देखने बैठ जाते हैं। पाठशाला कब जायें ?

महाराजश्री : ट्यूशन क्यों रखते हो ? आप ट्यूशन लेकर पढ़े थे ? नहीं न ? तो फिर बच्चों को ट्यूशन क्यों दिलवाते हो ? घर पर पढ़ाया करो। धार्मिक पाठशाला तो अवश्य बच्चों को भेजा करो। जैन संघ में पाठशाला होनी ही चाहिए। शिक्षक या शिक्षिका को अच्छा पुरस्कार मिलना चाहिए। ताकि उनके परिवार-पालन में तकलीफ न हो।

पाठशाला में केवल धार्मिक क्रियाओं के सूत्र ही नहीं सिखाये जाते, बच्चों

को वहाँ धार्मिक वातावरण मिलता है, अच्छी कहानियाँ सुनने को मिलती है और जैनत्व के संस्कार मिलते हैं। मानो कि गाँव में पाठशाला नहीं है, तो धार्मिक शिक्षा देने का कर्तव्य माता को निभाना चाहिए। यदि माता को धार्मिक ज्ञान नहीं हो और पिता को है धार्मिक ज्ञान, तो पिता, समय निकाल कर बच्चों को धार्मिक ज्ञान दे सकता है। कुछ भी करें, बच्चों को धार्मिक ज्ञान मिलना चाहिए। यह चिंता आपको करनी ही चाहिए। आपका दायित्व है यह। निभाना होगा इस दायित्व को।

मनुष्य के शरीर में जितना महत्त्व मस्तिष्क का है, उससे ज्यादा महत्त्व मनुष्य के जीवन में शिक्षा का है। दोनों प्रकार की शिक्षा संतानों को अच्छी तरह मिलनी चाहिए। अब दूसरा दायित्व बताता हूँ –

परिवार को सात्त्विक भोजन मिलना चाहिए :

यदि आपका परिवार है और आप परिवार के मुखिया हो, तो आपका यह दायित्व है कि परिवार को सात्त्विक भोजन मिलना चाहिए।

– भोजन अभक्ष्य नहीं होना चाहिए।

– रात्रिभोजन नहीं होना चाहिए।

– घर में वृद्ध माता–पिता हैं तो उनके लिए उचित भोजन होना चाहिए।

– घर में छोटे बच्चे हैं तो उनको प्रिय एवं सात्त्विक भोजन मिलना चाहिए।

– घर पर आये हुए अतिथियों को भोजन मिलना चाहिए।

आपको भोजन के विषय में भी ध्यान देना चाहिए। घर की स्त्री भोजन के लिए जो सामग्री आपसे मँगवाये, आपको समय पर लाकर, मंगवा कर देनी चाहिए। एक धार्मिक परिवार में इसलिए झगड़ा हुआ करता था, कि पतिदेव पत्नी जो भोजन–सामग्री मंगवाती थी, लाकर नहीं देते थे।

– मैं आज भूल गया... कल लाकर दूँगा।'

– 'आज बाजार गया था, परंतु वस्तु जैसी चाहिए, वैसी नहीं मिल रही थी, दो दिन के बाद नयी सामग्री आनेवाली है, वह लाकर दूँगा।'

– 'आज पैसे ही जेब में नहीं थे।'

पत्नी हेरान हो जाती थी। वह आक्रोश करती थी, पति प्रतिआक्रोश करता था। झगड़ा होता था। कभी घर में घी नहीं होता था, कभी तैल नहीं होता था.... कभी आटा नहीं होता था। पुरुष अपना दायित्व ही नहीं समझता था। भोजन

तो घर का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है। समाज में इज्जत भी भोजन के आधार पर बनती है। आपके घर आये हुए अतिथियों को, मेहमानों को आप कैसा भोजन देते हो, उस पर आपके घर की निंदा या प्रशंसा होती है।

महत्त्वपूर्ण बात आज के समय में अभक्ष्य भोजन की बन गई है। ज्यादातर घरों में, जैन परिवारों में जमीनकंद का प्रवेश हो गया है। जो नहीं होना चाहिए। द्विदल के साथ दहीं–छाछ खाना भी शुरू हो गया है। बिना गरम किये दहीं–छाछ के साथ द्विदल नहीं खाना चाहिए। वैसे बासी रोटी.... बासी सब्जी वगैरह बासी भोजन होने लगा है, जो नहीं होना चाहिए।

और बाजार में, हॉटल में जाकर भोजन करने की फैशन शुरू हो गई है। वहाँ टेस्टी भोजन मिलता है न ? परंतु स्वास्थ्य के लिए वह भोजन हानिकारक होता है, यह बात आप भूल गये हो। अनिवार्य संयोग को छोड़कर, आपको हॉटल का भोजन छोड़ देना चाहिए। क्या मानोगे यह बात ?

परिवार के स्वास्थ्य की चिंता करें :

जिस प्रकार भोजन की चिंता करने की है वैसे परिवार के लोगों के स्वास्थ्य की भी चिन्ता करते रहें।

घर में माता, पिता, पुत्र, पत्नी.... कोई भी बीमार हो गये हों तो –

१. उनके पास शान्ति से बैठकर, सहानुभूति बताते हुए उनकी सुखशाता पूछे। 'अभी तुम्हें कैसा है ? चिन्ता नहीं करना, शीघ्र अच्छा हो जायेगा,' वगैरह आश्वासन देना।

२. डॉक्टर को घर पर बुलाना आवश्यक हो तो प्रमाद–विलंब किये बिना डॉक्टर को बुलाना चाहिए। डॉक्टर के कहे अनुसार दवा देनी चाहिए।

३. दर्दी को समय पर दवा दी जाती है न ? आपको जानकारी प्राप्त करनी चाहिए।

४. जब घर में स्वजन बीमार हो, तब उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। दुकान या ऑफिस जाने की जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। दूसरे कामों को गौण करने चाहिए।

एक परिवार की बात है, जो मेरे पास आयी थी।

घर में पत्नी बीमार थी और पति ने घर में पार्टी का आयोजन किया। पार्टी जिस खंड में चल रही थी, पासवाले कमरे में ही पत्नी सोयी हुई थी। पार्टी

में जोर जोर से हँसना, मजाक करना.... और भोजन चल रहा था। पत्नी के पास कोई नहीं था। उसका मन खिन्न हो गया था। इस घटना के बाद पति–पत्नी के संबंध में गहरी दरार पड़ गयी... जीवन अशान्त बन गया।

सभा में से : ऐसा तो श्रीमंत घरों में होता ही रहता है।

महाराजश्री : इसलिए तो कहता हूँ कि ऐसा नहीं होना चाहिए। पत्नी बीमार हो या माता बीमार हो, पुत्र–पुत्री बीमार हो या बहन बीमार हो। उनके मन को उद्विग्न.... अशान्त करनेवाली बातें नहीं होनी चाहिए। वैसे प्रसंग उपस्थित नहीं करने चाहिए।

बीमार की बाह्य सेवा के साथ–साथ उसके मन की समता–समाधि बनाये रखने के उपाय करने चाहिए।

सभा में से : हम क्या समता–समाधि दें ? हम दुकान जाते हैं और श्रीमतीजी मंडल में जाती हैं ! नौकर बाहर बैठ कर गप्पे मारते हैं....

महाराजश्री : आप स्वयं बीमार होते हैं न ? तब आपकी मनःस्थिति कैसी रहती है ? यदि आप दूसरों की सेवा करोगे तो दूसरे आपकी सेवा करेंगे। आप दूसरों को समता–समाधि दोगे, तो आपको कोई समता–समाधि देनेवाला मिलेगा !

लड़के–लड़कियों की शादी :

लड़के–लड़कियों की शादी के विषय में भी आपका दायित्व है। जो पुरुष यह दायित्व नहीं समझते हैं, उनको पत्नी की ओर से उपालंभ सुनने पड़ते हैं। बाद में झगड़े होते हैं।

'आप लड़के के लिए कुछ सोचते नहीं हैं... लड़का अब बड़ा हुआ है...।'

'आप लड़की के लिए भी कुछ सोचते नहीं है, लड़की बड़ी हुई है। फिर लड़की कुछ भी गलत कदम उठा लेगी, तो मुझ पर आरोप मत लगाना। बड़ी लड़की को घर में रखना, उसकी रक्षा करना आसान नहीं है....' इत्यादि सुनना पड़ता है न ?

सभा में से : इतना ही नहीं, बहुत कठोर वचन सुनने पड़ते हैं।

महाराजश्री : यदि आप अपनी जिम्मेदारियों के प्रति सजग रहें तो नहीं सुनने पड़ेंगे कठोर वचन। और संतानों का भी प्रेम आपको मिलेगा। 'हमारे पिताजी हमारी कितनी चिंता करते हैं ? हमारे लिये कितना प्रयत्न करते हैं ?'

हालाँकि यह बात पूर्णतया भाग्याधीन होती है। अपने अपने कर्मों के अनुसार

ही पति मिलता है, पत्नी मिलती है, परंतु संतानों की एवं परिवार की अपेक्षा रहती है कि आप प्रयत्न करें, पुरुषार्थ करें।

शादी करने में बहुत सी बातें देखनी पड़ती हैं। केवल रूप और रुपया देखकर शादी नहीं करनी चाहिए। शिक्षा, स्वभाव और गुणों को भी देखने चाहिए।

कुछ वर्षों से आंतरजातीय विवाह भी होने लगे हैं। हिंदु लड़के मुसलमान बनकर, मुसलमान लड़की से भी शादी करने लगे हैं; हिन्दु लड़कियाँ मुसलमान बनकर मुसलमान लड़कों से शादी करती हैं। ज्यादातर ऐसी शादियाँ ज्यादा समय टिकती नहीं है....। बहुत से पति-पत्नी बाद में तल्लाक ले लेते हैं। अथवा आपस में बनती नहीं है। झगड़े होते रहते हैं और जीवन क्लेशमय, अशान्तिमय बन जाता है। ज्यादातर ऐसी शादियाँ माता-पिता की अनुमति से नहीं होती है, परंतु माता-पिता की लापरवाही कारण बन जाती है।

संतानों को आपने जन्म दिया है तो उनके प्रति जो भी आपके दायित्व हैं, उनको निभाने चाहिए। परिवार को सुविकसित और समुन्नत बनाने के लिए तत्पर रहना चाहिए। जैसे कुशल माली मालिक के बगीचे को फला-फूला बनाने के लए तत्परतापूर्वक संलग्न रहता है।

और, आपके दूसरे भी दायित्व हैं। देश के प्रति, धर्म के प्रति, समाज के प्रति और संस्कृति के प्रति कुछ कर्तव्य होते हैं।

आय और व्यय की चिन्ता करें :

यदि अपने कर्तव्यों का, दायित्वों का पालन नहीं किया और केवल स्वार्थ संजोने में ही जिन्दगी के दिन गुजर गये तो अंत समय आपका ही अंतःकरण कहेगा - 'मानवी गरिमा के दायित्वों को जिस प्रकार निभाना था, मैंने नहीं निभाया, और उस संबंध में जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था, उतना मैंने नहीं दिया।' अफसोस होगा। ऐसा अफसोस नहीं हो इसलिए आपके कर्तव्यों के प्रति जाग्रत करता हूँ।

गृहस्थ जीवन में एक महत्त्वपूर्ण चिंता आय और व्यय की करने की होती है। आपको आय के अनुसार व्यय करना चाहिए। व्यय-खर्च करते समय आपको, आपकी पत्नी को और आपके पुत्र-पुत्री को, आपकी आय का - इन्कम का खयाल रहना चाहिए। यदि आप महीने में दो हजार रुपये कमाते हो तो आपके घर का खर्च दो हजार से ज्यादा नहीं होना चाहिए। आपकी इन्कम महीने पाँच हजार है, तो खर्च पाँच हजार से ज्यादा नहीं होना चाहिए।

कुछ रुपये आपको बचाकर भी रखने चाहिए। बीमारी में, शादी में और ऐसे विशेष प्रसंगों में जब रुपये की जरूरत पड़े, तब किसी से कर्जा नहीं लेना पड़े, किसी से सहायता नहीं लेनी पड़ें। यदि आपके पास रुपयों की बचत होगी तो आप अपने मित्रों को कभी सहायता भी कर सकते हो। जितना कमाते हो, उतना खर्च मत करो, कुछ रुपये बचाने का खयाल करो।

यदि इन्कम से ज्यादा खर्च करते हो तो आप बुद्धिमान् नहीं कहलाओगे। क्योंकि ऐसे लोग कर्जदार बन जाते हैं। कर्जा करना एक बड़ा अनर्थ है, बड़ी भूल है। कम खाना, कपड़े कम रखना, मौज–मजा नहीं करना, परंतु कर्जा तो लेना ही मत। आप यदि सावधानी से जीवन जीते हैं तो कर्जा करने की नौबत नहीं आयेगी।

सभा में से : कभी बचत कम होती है और खर्च बड़ा आ जाता है, तब कर्जा लेना, जब दूसरा उपाय नहीं दिखता हो। जैसे हृदयरोग की, कीडनी की.... वगैरह बीमारी में बहुत ज्यादा खर्च करना पड़ता है।

महाराजश्री : ऐसी अनिवार्य स्थिति में, अच्छे, करुणावंत व्यक्ति से कर्ज लेना। परंतु बाद में शीघ्र उसके पैसे लौटा देने की चिन्ता रखना। कुछ सेवा–भावी संस्थाएँ सेवाभाव से सहायता करती हैं, उनसे संपर्क कर, आप सहायता प्राप्त कर सकते हैं।

आय के अनुसार व्यय की यह बात, परिवार के सभी सदस्यों को समझने की है। सभी की सतर्कता रहनी चाहिए।

इज्जत की चिंता करें :

समाज में रहना है तो इज्जत होनी ही चाहिए। आप श्रावक हैं, आपकी इज्जत सामाजिक स्तर पर सुरक्षित रहनी चाहिए। इसलिए यह चिंता आवश्यक है। इज्जत सद्‌गुणी की होती है। सद्‌गुणी दो प्रभाव बताते हैं : सम्मान दिलाते हैं और धनोपार्जन में सहायता करते हैं। सद्‌गुणी मनुष्य अपना तो अभ्युदय उत्कर्ष करते ही हैं, साथ ही अनेकानेक मनुष्यों को ऊँचा उठाते हैं एवं आगे बढ़ाने का दायित्व भी संभालते हैं। परंतु ये सारी बातें कठोर परिश्रम के द्वारा ही संभव होती है। सद्‌गुणों के फलस्वरूप ही समृद्धियाँ, सफलताएँ और विभूतियाँ हस्तगत होती हैं। आलसी मनुष्य, विक्षिप्त एवं मूर्च्छित मनुष्य तो सुध–बुध गँवा कर बेसुध पड़े रहते हैं। अपने दायित्वों को वे कभी निभा नहीं सकते हैं। नहीं होती है उनको अपनी इज्जत की चिंता और नहीं होती है कमाने की चिंता। धन कमाये

बिना उनका गुजारा कैसे चलेगा ? वे लोग परावलम्बी बन जाते हैं। स्वजन-संबंधी जो भी सहारा देते हैं, उतने से ही किसी प्रकार काम चल जाता है। ऐसे लोगों की समाज में इज्जत नहीं रहती है। घरवाले भी उसकी इज्जत नहीं करते हैं।

इज्जत बनाये रखने के कुछ उपाय बताता हूँ –

– इज्जतवाले लोगों से संबंध स्थापित करें।
– मद्यपान... जुआ... परस्त्रीगमन जैसे व्यसनों से दूर रहें।
– स्मगलींग जैसे धंधे नहीं करें।
– हो सके वहाँ तक गुस्सा नहीं करें।
– दूसरों को अच्छी राय दिया करें।
– हो सके वहाँ तक वचन-पालन में तत्पर रहें।
– भूल होने पर क्षमा माँग लें।
– दृष्टिदोष से बचते रहें।
– माया-कुटिलता का कभी आश्रय नहीं लें....

बस, आपकी इज्जत बन जायेगी और सुरक्षित रहेगी। आपकी धर्म-आराधना भी उज्ज्वल होगी। आपको जीवन जीने में आनन्द आयेगा।

दूसरी बात है पत्नी के सदाचरण की एवं लड़के-लड़कियों के सच्चरित्र की। पत्नी सदाचारी होनी चाहिए। बच्चे भी सदाचारी होने चाहिए। कभी कभी उनके दुराचारों से बेइज्जती होती है। इसलिए आपको परिवार की इस दृष्टि से भी चिंता करनी होगी। इज्जत बनाये रखने का आपका संकल्प होना चाहिए और जो उपाय आपको बतायें उनका पालन करना होगा। दंभ नहीं चलेगा। दंभ ज्यादा समय नहीं टिकेगा। सद्‌गुणी बनें और इज्जत पायें।

निराश नहीं होना है :

इन दिनों विलासिता और अहंमन्यता की पूर्ति ही मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा बन कर रह गई है और उसी हेय प्रयोजना में अधिकांश लोगों को निरत देखे जाते हैं। देख कर निराशा घेर लेती है। आज परमार्थ के, साहस के और चरित्र के धनी नेतृत्व की भी कमी दिखाई देती है। इससे निराशा ज्यादा बढ़ जाती है।

सभा में से : सही बात है, हम लोग तो निराश ही हो गये हैं....

महाराजश्री : महानुभाव, अंधकार कितना ही सघन और व्यापक हो, उस

भयपूर्ण स्थिति को दूर करने में जलता दीपक सफल होता है न ? जलता दीपक, दूसरे बुझे हुए दीपकों को नये सिरे से जलाने में भी सफल होते हैं न ? भले ही दुराचारी, अपराधी, नशेबाज और दुर्व्यसनी लोग अपने स्तर के अनेकों अन्य साथी–सहयोगी एकत्र करते हों, करने दो, आप निराश नहीं बनें, जलते दीपक बनें। ज्ञान का दीपक यदि आपके पास है तो आपके पास वे दुराचारी वगैरह नहीं आयेंगे, वे दूर रहेंगे। इतना ही नहीं, यदि उनको सही मार्गदर्शक मिल जायेगा तो उनमें सुधार भी होगा। वे सदाचारी, सद्‌गुणी और कर्तव्यपालन करनेवाले बन जायेंगे।

उज्ज्वल भविष्य की संभावनाओं को कल्पना में भर लो। परमार्थ और परोपकार की भावना को मन में दृढ़ करना होगा। परमार्थी, परोपकारी एवं सच्चरित्री महानुभावों को एकत्र होना पड़ेगा और बुराइयों से झूझना पड़ेगा। कुटिल और अनाचारी कर्तृत्व का नाश करना होगा।

उपसंहार :

ग्रंथकार आचार्यदेव ने 'तदुत्तरकार्यचिन्ता।' इतना ही सूत्र दिया है। लेकिन 'उत्तरकार्य' कितने सारे हैं ? बहुत लंबा लिस्ट है उत्तर कार्यों का। मैंने तो थोड़े ही कार्य बताये हैं। सामाजिक व्यवहार कितने सारे होते हैं ? संबंधों को बनाये रखने के कितने कार्य होते हैं ? उन सभी कार्यों की गृहस्थ श्रावक चिंता करता है, खयाल करता है। हाँ, चिंता का अर्थ आप 'टेंशन' मत करना। चिन्ता का अर्थ है ध्यान देना।

यदि आपके परिवार के लोग, श्रेष्ठ श्रावक जीवन जीने के ध्येयवाले होंगे, तो यह कार्य सरल होगा। यदि उनका ध्येय 'श्रावक जीवन' नहीं होगा, दुन्यवी जीवन होगा तो आपका मार्ग सरल नहीं होगा, दुर्गम होगा। आप कितनी भी चिन्ता करोगे, परंतु परिवार का "रीस्पोन्स" यदि नहीं मिलेगा तो आपकी चिन्ता, चिन्ता ही रह जायेगी, कार्यरूप में परिणत नहीं होगी। फिर भी कहता हूँ कि चिंता करना। ध्यान देना।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ५४

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक धर्म का विशद वर्णन किया है। श्रावक जीवन जीने का सर्वतोमुखी मार्गदर्शन दिया है। जितना महत्त्व उन्होंने क्रियात्मक धर्म का बताया है, उतना ही नहीं, उससे भी ज्यादा महत्त्व भावनात्मक धर्म का बताया है।

प्रस्तुत में, ग्रंथकार ने श्रावक के लिए व्यवहार के दायित्वों को निभाने की बात की, उसके बात तूर्त ही वे भावनात्मक धर्म की बात करते हैं –

कुशलभावनायां प्रबन्धः ।। ७९ ।।

हृदय में भावनात्मक धर्म होगा, तो ही बाह्य व्यवहारों में, विभिन्न दायित्वों को निभाने में आप उलझ नहीं जाओगे, द्वंद्वों में फँस नहीं जाओगे। हृदय में राग–द्वेष की आग सुलगेगी नहीं। टीकाकार आचार्यदेव ने इस सूत्र की टीका में भावना का, कुशल भावना का प्रारूप इस प्रकार बताया है –

'सर्वेऽपि सन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, माकश्चित्पापमाचरेत् ।।'

इस श्लोक का पहले शब्दार्थ सुन लो। 'सभी जीव सुखी हों, सभी जीव निरोगी हों, सभी जीव कल्याण को देखें, कोई जीव पाप नहीं करें।' अब आप ही सोचें कि जिस श्रावक में यह भावना होगी, वाह श्रावक क्या अपने सारे व्यवहारों में, कर्तव्यपालन में किसी भी जीव को दुःखी करेगा ?

सभी जीव सुखी हो :

श्रावक का समग्र जीवसृष्टि के प्रति यही अभिगम होना चाहिए।

– कोई जीव दुःखी न हो।

– सभी जीव सुखी हों !

भावना यही रखने की है, व्यवहारों में भी इस बात को लाने का प्रयत्न करना है। पहला प्रयत्न, 'मेरे से, मेरे निमित्त कोई जीव दुःखी नहीं होना चाहिए', यह रहना चाहिए। दुनिया की रीति–नीति अलग है। दुनिया कहती है – 'अपना दुःख दूर करने का सोचो, दूसरों का जो होना होगा वह होगा। दूसरों के दुःख

का विचार करने की आवश्यकता नहीं है । अपना दुःख दूर करने का प्रयत्न करें ।' ऐसे विचारवाले लोगों के साथ आपको जीना है और उनके विचारों को मान्य नहीं करने हैं । आपके विचार तो – 'कोई जीव दुःखी न हो, सभी जीव सुखी हो,' येही होने चाहिए । इससे भी आगे ये विचार प्रकृष्ट कोटि के बनने चाहिए – 'दूसरों को दुःखी कर, मुझे सुख नहीं चाहिए । मैं तो सभी जीवों को सुखी देखना चाहता हूँ ।'

मात्र भावना में संतुष्टि नहीं मानते हुए आपको उस दिशा में प्रयत्न भी करना है । दूसरे जीवों के हो सके उतने दुःख दूर करने हैं और हो सके उतने सुख उनको देने हैं । यह कार्य तभी बन पायेगा, जब आपके अंतःकरण में वह पवित्र भावना का झरना बहता रहेगा तो !

अक्सर इस दुनिया में ऐसा देखा जाता है, कि कोई हमें दुःख देता है, हमारे सुख छीनने का प्रयत्न करता है तो हम उसका घोर तिरस्कार करते हैं और उसको दुःखी करने के विचार करते हैं । एक छोटे गाँव में हम गये थे । वहाँ केवल १५–२० जैन परिवार ही थे । दो परिवारों का आपस में मतभेद था, मनभेद था। एक–दूसरे की बुराई करते थे । हमारे पास दोनों आते थे । एक दिन, उनमें से एक भाई मेरे पास बैठा था और दूसरा आया । दूसरा ज्यादा उग्र था । पहला उठकर चला गया, दूसरा मेरे पास बैठा । मुझे कहने लगा : 'महाराज साब, अभी जो उठकर गया, वह दिखने में तो 'भगत' दिखता है, परंतु है बड़ा धूर्त । मेरा चले तो उसको मार कर नरक में भेज दूँ । वैसे भी वह नरक में ही जानेवाला है । आप नहीं जानते उसके कारनामे !'

मैंने कहा : 'यदि उसने नरक गति का आयुष्यकर्म बाँध लिया होगा तो वह अवश्य नरक में जायेगा, लेकिन आपके कहने से नहीं जायेगा । आपने उसको मार डालने की भावना बतायी, इससे संभव है कि आपने नरक गति का आयुष्यकर्म बाँध लिया हो । तीव्र द्वेष नहीं करना चाहिए । किसी जीव को मारने का विचार भी नहीं करना चाहिए ।'

उसने मुझे कहा : 'महाराज साब, क्या बताऊँ ? उसने मुझे परेशान करने में कोई कसर नहीं छोड़ा है । इसलिए, मैं उसको देखता हूँ और मेरा खून खौल उठता है ।'

मैंने कहा : 'शान्त हो, आपका उसने कुछ नहीं बिगाड़ा है । बिगाड़नेवाले जीव के अपने पापकर्म होते हैं । वो तो निमित्त मात्र है । उसके प्रति द्वेष नहीं

करें। द्वेष करना हो तो आपके कर्मों के प्रति करो। कर्मों का क्षय करने का सोचें। किसी भी जीव को दुःखी करने का नहीं सोचें। सुखी करने का सोचें.... यदि सोचना ही हो तो।'

बहुत समझा कर उसको शान्त किया। हमारे पास आया तो शान्त हुआ। यदि हमारा या किसी दूसरे ज्ञानी साधु-संत का परिचय नहीं होता तो क्या होता उसका ? उसके मन में शुभ-शुद्ध भावना भरने का हमने प्रयत्न किया।

एक विशेष बात कहता हूँ। यह शुभ भावना दिन में कुछ समय के लिए ही नहीं रखने की है, दिन-रात सतत यह भावना आपके हृदय में रखने की है। कोई भी कार्य करते समय, किसी भी मनुष्य के परिचय के समय, किसी भी पशु-पक्षी के संपर्क के समय यह भावना हृदय में रहनी चाहिए।

आप जानते हैं कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीवत्व है। इसलिए इनका उपयोग करते समय भी हृदय में यह भावना रहनी चाहिए। 'मुझे अनिवार्य रूप से पृथ्वी, पानी वगैरह का उपयोग करना पड़ता है, क्या करूँ ? उन पृथ्वीकायादि जीवों की मृत्यु हो जाती हैं, उन जीवों को कष्ट होता है। कम से कम उपयोग करूँ।' पृथ्वीकायादि जीवों के प्रति आपके हृदय में करुणा बनी रहेगी। उन जीवों के साथ आप जो व्यवहार करेंगे, उसमें क्रूरता, कठोरता नहीं प्रविष्ट होगी।

सभी जीव निरोगी हो :

यह दूसरी भावना है। बड़ी चमत्कारिक है यह भावना ! यदि रोगी मनुष्य बार-बार इस भावना को भाता है तो वह स्वयं निरोगी बन जाता है। मनोवैज्ञानिकों का प्रयोगसिद्ध यह मंतव्य है, निर्णय है। आप सच्चे हृदय से सभी जीवों की निरोगिता की भावना भाया करें।

कभी आप अस्पताल जाते हो न ? अस्पताल में विविध रोगों से ग्रस्त अनेक लोगों को देखते हो न ? उन रोगग्रस्त जीवों को देखकर क्या सोचते हो ? विचार तो आते होंगे न ?

सभा में से : 'कर्मों का विचार आता है।' इन जीवों ने पूर्वजन्म में पापकर्म किये होंगे, उन कर्मों का फल बिचारे भोग रहे हैं....'

महाराजश्री : यह विचार तो रोगों के निदान का हुआ। आपको सोचना है – ये जीव शीघ्र निरोगी-निरामय हो जाओ.... परमात्मा की दिव्य कृपा उन

पर अवतरित हो.... शीघ्र रोगमुक्त हो जाओ। इस दुनिया में कोई भी जीव रोगी न रहो। क्या ऐसी भावना नहीं भा सकते हो ?

सभा में से : अब ऐसी भावना भायेंगे। बहुत अच्छी है यह भावना।

महाराजश्री : साथ साथ यह भी सोचना कि 'अशाता वेदनीय कर्म' का यह कटु विपाक है। परंतु अशाता वेदनीय कर्म बंधता है क्या करने से ? मुझे मेरे जीवन में सावधान रहना है। ऐसी एक भी दुष्प्रवृत्ति नहीं करना है, जिससे अशाता वेदनीय कर्म बंध जायं। अब सावधान रहना है।' ऐसा सोचने से जीवन की राह बदल जायेगी। अनेक हिंसाजन्य प्रवृत्तियाँ छूट जायेंगी।

हिंसा से वेदनीय कर्म :

अशाता वेदनीय कर्म का मुख्य हेतु है जीवहिंसा। जीवहिंसा नहीं करें, परंतु जीवहिंसा की तीव्र इच्छा प्रकट होने से भी अशाता वेदनीय कर्म बँधता है। जीवहिंसा के अनेक प्रकार हैं –

- जीव को मार डालना।
- जीव के अंग–उपांग का छेदन करना।
- जीवों को सताना।
- जीवों पर प्रहार करना।
- जीवों की घृणा–तिरस्कार करना।

इसलिए तीर्थंकर भगवंतों ने जीवों के साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने का उपदेश दिया है। किसी भी जीव को शत्रु मानना ही नहीं है। जीव छोटा हो या बड़ा हो, एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय हो ! सभी जीवों को मित्र मान कर, उनके साथ सद्व्यवहार करना है।

- जीव को शत्रु मानोगे तो कभी न कभी दुर्व्यवहार होगा।
- जीव को मित्र मानोगे तो उनके साथ सद्व्यवहार होगा।

तीर्थंकर भगवंत की आज्ञा है कि सभी जीवों को मित्र मानें। मित्र मानकर मैत्रीपूर्ण व्यवहार करोगे तो 'शातावेदनीय कर्म' बंधेगा। जब शाता वेदनीय कर्म उदय में आयेगा तब दो बातें प्राप्त होंगी –

- अच्छा आरोग्य और
- उत्तम सौभाग्य !

आरोग्य और सौभाग्य के साथ मधुर आवाज़ और लोकप्रियता भी प्राप्त होती

है । यह सब शुभ एवं सुंदर पाने का श्रेष्ठ उपाय एक ही है – जीवों के साथ मैत्री ! करुणापूर्ण व्यवहार मैत्रीपूर्ण व्यवहार !

रोग, दुर्भाग्य, अपयश, तिरस्कार..... वगैरह हिंसा से, शत्रुता से, जीवद्वेष से प्राप्त होते हैं । आपको सोच कर निर्णय करना होगा कि आपको क्या पाना है ? हमारे कहने से या आग्रह करने से आप माननेवाले हो क्या ? यदि हमारा कहा मानते तो आज आप कितनी ऊँचाई पर होते ? उद्धार हो जाता आपका । ठीक है, यहाँ धर्म का उपदेश सुनने तो आया करते हो ! मन लगाकर सुनते रहोगे तो एक दिन उद्धार होने की संभावना तो है !

कुछ भी करें, हिंसा का त्याग करें । हिंसाजन्य पदार्थों का त्याग करें । जिस वस्तु का निर्माण जीवहिंसा से होता है, उन वस्तुओं का उपयोग न करें । वैसी वस्तु घर में लाये ही नहीं । मानोगे ये बातें ? फिर होठों पर 'लिपस्टीक' भी नहीं लगा सकोगे । 'लिपस्टीक' जीवहिंसाजन्य पदार्थ है । वैसे दूसरे भी अनेक हिंसाजन्य पदार्थ बाजार में बिकते हैं ।

'सर्वे सन्तु निरामयाः,' यह सूत्र महा प्रभावशाली है । जब भी आप किसी रोगी मनुष्य को देखें, आपके मन में यह सूत्र शुरू हो जाना चाहिए । 'सभी जीव निरोगी हो जाओ ।' हाँ, किसी दुश्मन को भी बाद नहीं करना । जो मनुष्य आपके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता हो, आपके प्रति वैरभावना रखता हो, उसके लिए भी यही भावना रहनी चाहिए – सर्वे सन्तु निरामयाः । इससे आपका चित्त, भले ही शरीर रोगी हो, शान्त रहेगा, स्वस्थ रहेगा और समाधियुक्त रहेगा ।

सभी का कल्याण हो :

'सर्वे सन्तु निरामयाः' के बाद 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु ।' की भावना बतायी गई है । संसार के सभी जीवों का कल्याण हो, यह भावना चित्त में रखने की है । यानी किसी भी जीव का अशुभ–अमंगल तो सोचने का ही नहीं है ।

याद रहें कि आप श्रावक हैं, सम्यग् दृष्टि जीव हैं । सम्यग् दृष्टि जीव की यह सहज चित्तस्थिति होती है । उसका चित्त इतना निर्मल होता है कि उस चित्त में दूसरे जीवों के लिए अशुभ विचार पैदा ही नहीं हो सकते हैं । हाँ, प्रारंभिक अवस्था में अशुभ विचारों के साथ संघर्ष करना पड़ता है । मन में प्रवेश पाने के लिए अशुभ विचार, वैर–विरोध के विचार द्वारा खटखटा सकते हैं, परंतु आत्मा अपनी शक्ति से उन विचारों को प्रवेश नहीं करने देता है । कभी अशुभ विचारों का वेग तीव्र होता है, वे भीतर में प्रविष्ट भी हो जाते हैं, लेकिन जाग्रत आत्मा

उन विचारों को चित्त में रहने नहीं देता है। बाहर धकेल देता है। यह आंतर संघर्ष चलता रहता है। 'सभी जीवों का कल्याण हो,' यह भावना, मनःशुद्धि के लिए उपयुक्त भावना है।

मोक्षमार्ग में मनःशुद्धि अति आवश्यक :

और मनःशुद्धि बनाये रखना अति आवश्यक है आप लोगों के लिए। क्योंकि आप 'श्रावक' हैं। मोक्षमार्ग के मुसाफिर हैं। मोक्षमार्ग में मनःशुद्धि का महत्त्व कम नहीं है, धर्मक्रियाओं से भी ज्यादा महत्त्व है। मनःशुद्धि भावनाओं से होती है, क्रियाओं से नहीं। भावनाओं की उपेक्षा कर, मात्र क्रिया करने वाले, धर्म की विविध क्रिया करनेवालों को मैं जानता हूँ। उनके विचार कितने अशुद्ध होते हैं, वह भी मैं जानता हूँ। इससे वे अशांत और संतप्त रहते हैं।

तीर्थंकर भगवंत ने १६ भावनाओं का चिंतन करने का उपदेश क्यों दिया ? यही कारण है। भावनाओं के बिना, विद्वानों को, शास्त्रज्ञ पुरुषों को भी शमरस की प्राप्ति नहीं होती है, तो फिर क्रियाजड़ लोगों को शान्ति का अनुभव कैसे हो सकता है ?

शुभ भावनाओं के बिना मन की शान्ति संभव नहीं है। बहुत बड़े विद्वान् भी अशान्त बन जाते हैं, प्रबल वैरभावना हृदय में आग की तरह भभक उठती है।

इसी धर्मबिन्दु ग्रंथ के रचयिता आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वयं ऐसी वैरभावना में उलझ गये थे। बौद्ध धर्म के कट्टरपंथी आचार्य ने उनके भक्त राजा के द्वारा, हरिभद्रसूरिजी के एक शिष्य को मरवा दिया था और दूसरे शिष्य को बहुत सताया था.... बाद में उसकी भी मृत्यु हो गई थी।

बौद्ध साधुओं को कड़ी शिक्षा करने का संकल्प :

अपने दो शिष्यों की, जो आचार्यश्री के भानजे भी लगते थे, मृत्यु से अति व्याकुल हो गए थे। वे ज्ञानी थे, ज्ञान के आलोक में वे जानते थे कि मनुष्य की मृत्यु निश्चित होती है। आयुष्य कर्म समाप्त होनें पर मृत्यु होती ही है। मृत्यु शरीर की होती है, आत्मा की नहीं। यह सब तत्त्वज्ञान था उनके पास, फिर भी वे अशान्त हो उठे। उन बौद्ध विद्वानों को, क्षत्रिय राजा के द्वारा कहलाया कि 'मेरे साथ वाद-विवाद करो। जो हारेगा उसको चूल्हे पर रखे हुए तेल के कड़ाहे में गिरना होगा, मरना होगा।' क्षत्रिय राजा, हरिभद्रसूरिजी से प्रभावित

था और उसी राजा ने आचार्यदेव के एक शिष्य परमहंस को आश्रय दिया था। बौद्धाचार्य के साथ वाद-विवाद आयोजित किया था। राजा ने अपने सामने बौद्धाचार्य को हारता देखा था। परमहंस की अद्‌भुत विद्वत्ता से राजा प्रभावित हुआ था। बाद में गुरुदेव से मिलने से पूर्व रास्ते में ही परमहंस की मृत्यु हो गई थी। आचार्यदेव के हृदय को बहुत भारी सदमा पहुँचा था। वे बौद्ध साधुओं के प्रति आगबबूले हो उठे थे।

यह बात उनके गुरुदेव के कानों पर पहुँची। उन्होंने याकिनी महत्तरा साध्वी के द्वारा हरिभद्रसूरिजी को दो श्लोक भेजे। क्रोध के, वैर के तीव्र विपाक बताने वाली 'समरादित्य महाकथा' की ओर उनका ध्यान दिलाया। साध्वी याकिनी महत्तरा को, हरिभद्रसूरिजी माता मानते थे, स्वयं अपने को पुत्र मानते थे उनके। दो श्लोक पढ़े। समरादित्य की कहानी स्मृति में आयी। वे गहरे चिंतन में डूब गये। कषायों की भयानकता मालुम हुई। उनका चित्त शान्त होने लगा। वैर की भावना मन में से निकल गई। वे स्वस्थ बने। राजा को बोला : 'मुझे कुछ भी नहीं करना है, मैं जाता हूँ।' वे गुरुदेव के पास पहुँचे और अशुभ संकल्प का प्रायश्चित्त किया।

कोई पाप नहीं करें :

भावना के बिना विद्वान् भी भूले पड़ जाते हैं। भावना के बिना बड़े तपस्वी भी भूले पड़ जाते हैं। ग्रंथकार ने 'समरादित्य-महाकथा' लिखी मात्र दो श्लोकों के आधार पर। बहुत बड़ी नौ जन्मों की महाकथा लिखी है उस महाकथा में, पहले ही भव में अग्निशर्मा की तपश्चर्या बताई है। उसने मासखमण के पारणे मासखमण किये.... लाखों मासखमण किये.... संन्यासी बन गया था वो। आश्रम में रहता था। फिर भी राजा गुणसेन के प्रति, उसके हृदय में तीव्र वैरभावना पैदा हो गई थी। क्योंकि उसके पास भावनाओं का, शुभ भावनाओं का अमृत नहीं था। "अरिहंत" पढ़नेवालों ने वह कहानी पढ़ी होगी। तपस्वी संन्यासी संसार में भटक जाता है।

अग्निशर्मा तापस बन कर तप करता था, परंतु यह भावना उसके हृदय में नहीं थी कि 'कोई जीव पाप नहीं करें।' उसने जनम-जनम राजा गुणसेन को मारने का क्रूर संकल्प किया था। बहुत बड़ा पाप किया था। संन्यासी बनकर यह पाप-संकल्प किया था। मन के पाप भयानक होते हैं। वहाँ रोकनेवाला कोई नहीं होता है। जीव स्वयं उद्‌बुद्ध हो, तो ही पापों से वह बच सकता है।

यहाँ ग्रंथकार ने यह भावना बतायी है : 'माकश्चित् पापमाचरेत् ।' कोई पाप नहीं करें । क्योंकि वे पाप के कटु विपाकों को जानते थे । संसार में जितने भी दुःख हैं, वे सभी पापों के फलस्वरूप होते हैं । 'पापाद् दुःखम् ।' दुःख पापों से ही आते हैं । पापों का फल दुःख हैं । जीव सुखी तभी बन सकता है, जब वह पाप नहीं करता है । इस भव्य भावना को माननेवाले मनुष्य को चाहिए कि वह पापों से दूर रहे ।

पाप अनेक प्रकार के होते हैं :

हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार–व्यभिचार, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, द्वेष, राग, कलह, मिथ्यात्व आदि अनेक पाप होते हैं । पापों का परिचय होना अति आवश्यक होता है । पापों का परिचय होगा तभी आप पापों से बच सकोगे । कुछ वर्ष पूर्व गुजरात की एक युनिवर्सिटी में मेरा प्रवचन था, प्रवचन में मैंने पाप और पुण्य की बात बतायी थी । प्रवचन के बाद मैं वहाँ पास में ही रामकृष्ण मिशन के मकान में हम ठहरे थे । कॉलेज के कुछ लड़के–लड़कियाँ मिलने आये थे । उन्होंने कहा था : 'हमें पाप और पुण्य का ज्ञान ही नहीं था । आज सर्वप्रथम सुने पापों के नाम । अब हम सावधान रहेंगे । अनिवार्य रूप से जो पाप करने पड़ते हैं, वे ही करेंगे । दूसरे पापों का त्याग करेंगे ।'

अपनी बात भावना की चल रही है । 'कोई भी जीव पाप नहीं करें ।' क्योंकि ज्ञानी पुरुष की दृष्टि में पापों के फल दिखते हैं.... घोर भयानक दुःख दिखते हैं । वह नहीं चाहता कि कोई दुःखी हो । वह जानता है, कि पापों से ही दुःख आते हैं । इसलिए वह ऐसी भावना भाता है । करुणा, भावकरुणा ही ऐसी भावना भाने के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है । क्योंकि वह किसी भी जीव का दुःख देख कर स्वयं दुःखी हो जाता है । उसके हृदय में क्षुब्धता छा जाती है । क्या करे वह ? यदि उसका चले तो वह किसी जीव को पाप नहीं करने दें । परंतु ऐसी शक्ति किसी भी जीव में नहीं होती है । उत्कृष्ट पुण्य–बल वाले तीर्थंकर परमात्मा भी सभी जीवों को पाप करने से रोक नहीं सकते हैं, तो फिर अपने जैसे क्षुद्र जीवों में वह शक्ति कहाँ से आ सकती है ?

जिस समय भगवान महावीर स्वामी राजगृही में बिराजते थे, उस समय राजगृही में ही 'काल सौकरिक' नाम का कसाई रोजाना ५०० पाड़ों को मारता था । राजा श्रेणिक था उस नगर का राजा । भगवंत ने श्रेणिक के मन का समाधान करने हेतु कहा था – "श्रेणिक, तू 'काल सौकरिक' कसाई को रोक दे हिंसा करने से ।" भगवान

जानते थे कि यह कार्य मुश्किल ही नहीं, असंभव भी है। और श्रेणिक को नरक में जाना निश्चित है। श्रेणिक ने नरक गति का आयुष्य कर्म बाँध लिया था। श्रेणिक को कह भी दिया था। श्रेणिक ने भगवंत को कहा : 'भगवंत, मैं आपका भक्त हूँ, और मुझे नरक में जाना पड़ेगा ?' श्रेणिक के मन का समाधान करने भगवंत ने उसको कहा था : 'तू काल सौकरिक कसाई की हिंसा रोक दे, तो तुझे नरक में नहीं जाना पड़ेगा।'

श्रेणिक ने उस कसाई को नगर के कूप में उतार दिया, रस्सी बाँध कर। कूप में वह कैसे हिंसा कर सकता था ? परंतु भगवंत ने बताया कि कल्पना से कूप की भित्ति पर पाड़े का चित्र बनाकर मारता था। ५०० बार चित्र बनाया पाड़े का और हाथ से मारता था। तब श्रेणिक के मन का समाधान हुआ। जिसको पाप करना ही है वह, शरीर से पाप नहीं कर सकता है तो मन से करता है। मन की कल्पनाओं से वह अनेक पाप कर सकता है। फिर भी हमें भावना तो यही भाने की है कि 'कोई जीव पाप नहीं करें।' इस भावना से दूसरों को तो जब लाभ होना होगा तब होगा, परंतु आपको स्वयं को तो लाभ होगा ही। पापों से बचने की शक्ति आप में प्रकट होगी। संभव है कि आप पापों से बच जायं। यदि भावना हो पापों से बचने की, तो यह भावना भाते रहो।

भावना से भवनाश :

भावना मन का विषय है। भावना जितनी तीव्र, प्रबल होगी, उसका प्रभाव उतना ही प्रबल पड़ता है। घोर पापी जीव भी, भावनाओं के सहारे पूर्ण ज्ञानी और वीतराग बनने के उदाहरण शास्त्रों में पढ़े जाते हैं। बहुत अच्छा उपाय है भावनाओं का। जिस प्रकार ये भावनाएँ हैं –

- 'सभी जीव सुखी हो,'
- 'सभी जीव निरोगी हो,'
- 'सभी जीवों का कल्याण हो,'
- 'कोई भी जीव पाप न करें।'

उसी प्रकार दूसरी चार भावनाएँ हैं –

- 'सभी जीव मेरे मित्र हैं,'
- 'मेरा चले तो सभी जीवों के दुःख दूर करूँ।'
- 'गुणवानों के प्रति मेरे हृदय में प्रेम है...'

– 'पापी जीवों के प्रति मैं मध्यस्थ रहूँगा, उनकी प्रशंसा नहीं करूँगा, वैसे उनकी बुराई भी नहीं करूँगा।'

इन भावनाओं के अलावा बारह भावनाएँ भी हैं। अनित्य भावना, अशरण भावना, एकत्व भावना, अन्यत्व भावना, अशुचि भावना, संसार भावना, आश्रव भावना, संवर भावना, कर्मनिर्जरा भावना, लोकस्वरूप भावना, बोधिदुर्लभ भावना और धर्मस्वाख्यात भावना। प्रवचनों के दौरान मैंने कई बार ये भावनाएँ दोहरायी हैं। आपको समय निकाल कर, इन भावनाओं पर चिंतन–मनन करना होगा। पुनःपुनः अभ्यास ही भावना है। यह विचारों का अभ्यास है।

एक बार विचार करने से 'भावना' नहीं बन सकती है। पुनःपुनः विचार करने से 'भावना' बनती है। अनित्यता, अशरणता वगैरह सुविचार के मुद्दे हैं, 'टोपिक्स' हैं। बहुत ही अच्छे टोपिक्स हैं। रात्रि की नीरव शान्ति में एकांत कमरे में बैठकर इन भावनाओं का अभ्यास करें। चिंतन में डूब जाया करें।'

सभा में से : हमारा चिंतन 'कंचन और कामिनी' के इर्द–गिर्द चलते हैं।

महाराजश्री : आपको वह अशुभ चिंतन से मुक्ति पाना है क्या? पहले यह बात करें। अशुभ चिंतन में आप जब बेचैनी अनुभव करेंगे, तभी शुभ और शुद्ध चिंतन का प्रारंभ होगा। आपका स्वयं का निर्णय होना आवश्यक है। मैं तो मात्र दिशानिर्देश करता हूँ। ज्यादा से ज्यादा प्रेरणा दे सकता हूँ। आखिर, कार्य तो आपको ही करना है। भावना भाने का यह कार्य सरल है। इसमें कोई उपवास–आयंबिल नहीं करना है।

मन को शुद्ध करने का उपाय – भावना :

मेरा आपसे प्रश्न है कि आप अपने मन को शुद्ध करना चाहते हो क्या? 'मुझे मेरा मन शुद्ध करना ही है, मेरे मन में अशुभ विचार, गंदे विचार प्रवेश ही नहीं पायें, वैसा उपाय मुझे करना है,' ऐसा आपका निर्णय है क्या?

सभा में से : कभी विचार आता है, निर्णय नहीं कर पाये हैं....

महाराजश्री : निर्णय ही नहीं, दृढ़ निर्णय करना होगा। विविध भावनाओं का चिंतन शुरू करना होगा। प्रतिदिन.... प्रतिक्षण यह चिंतन आपके मन में चलता रहे, वैसा अभ्यास करना होगा।

सभा में से : हमारे जीवन में पापाचरण हो, फिर भावनाओं से लाभ होगा क्या?

महानुभावो ! मेरे मतानुसार प्रवृत्ति का मूल वृत्ति है। वृत्ति बदलेगी तो प्रवृत्ति आपोआप बदल जायेगी। वृत्ति नहीं बदलेगी, भावना नहीं बदलेगी तो प्रवृत्ति नहीं बदलेगी। भावना के मार्ग पर चलते रहो, थके बिना चलते रहो, आपकी अशुभ प्रवृत्ति बंद होगी, शुभ प्रवृत्ति का प्रारंभ होगा। भावना के मार्ग पर चल कर अनुभव करें। यह अनुभव करने की बात है, मात्र बोलने-सुनने की बात नहीं है।

दुखी मनुष्यों को और प्राणियों को आप देखते हो न? उनको देख कर चिंतन करें : ये जीव सुखी हों, इनका दुःख दूर हो।

रोगी जीवों को देखते हो न? जब जब देखो, तब चिंतन करें कि ये जीव शीघ्र निरोगी हों, विकारमुक्त हों।

आत्मविमुख बने जीवों को देख कर सोचें कि इन जीवों का कल्याण हो, इनको मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो।

पापों को छोड़ने का उपदेश देने पर भी जो लोग पापत्याग नहीं करते हैं, ऐसे जीवों के प्रति चिंतन करें कि ये जीव पाप न करें.... पापत्याग करें.... ताकि इनको पापों का फल दुःख भोगना न पड़े।

उपसंहार

गृहस्थ जीवन अनेक विषमताओं से भरा हुआ है। अनेक आंतर-बाह्य द्वंद्वों से भरा हुआ है। ऐसे गृहस्थ जीवन में भी शान्ति, समता और समाधि पाने के लिए यह श्रेष्ठ उपाय है भावनाओं का। भावनाओं से आत्मा से लगे हुए प्रगाढ़ कर्मों का भी नाश होता है। आत्मा जैसे जैसे कर्ममुक्त होती जाती है, वैसे वैसे मोक्ष के निकट जाती जाती है। भावनाओं से मन की प्रसन्नता बनी रहती है, सदैव प्रसन्नता और प्रफुल्लता बनाये रखने के लिए भावनाओं को आत्मसात् करना ही होगा।

आज बस, इतना ही।

★...★

प्रवचन : ५५

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन के विषय में अच्छा मार्गदर्शन देते हैं। उन्होंने श्रावक की बहुत ही सुंदर दिनचर्या बताई है। साथ-साथ भावनात्मक धर्म के विषय में भी लिखा है। भावनात्मक धर्म का संबंध हृदय के साथ होता है। हृदय को सुधारने के लिए उन्होंने शुभ चिंतन स्वरूप भावनाओं का निर्देश किया है। शुभ भावनाओं का प्रकर्ष पाने के लिए प्रेरणा दी है।

परंतु हृदयगत शुभ भावनाएँ कुछ निमित्तों पर निर्भर रहती हैं। वैसे अनेक निमित्त हैं, उनमें से एक निमित्त का यहाँ ग्रंथकार ने उल्लेख किया है :

'शिष्ट-चरितश्रवणम्' ।। ८० ।।

शिष्टपुरुषों के चरित्रों को सुनते रहो। जो शास्त्रप्रसिद्ध और इतिहासप्रसिद्ध सत्पुरुष और महासतियाँ हैं, उनके प्रेरणादायी जीवन-चरित्र सुनने चाहिए। पूज्य पुरुषों के मुँह से सुनने चाहिए। वैसा सत्पुरुषों का समागम नहीं हो तो वैसे चरित्र पढ़ने चाहिए।

श्रवण का आनन्द अद्‌भुत होता है :

यहाँ ग्रंथकार ने सत्पुरुषों का जीवन-चरित्र सुनने को कहा है ! सुनानेवाले यदि सुनाने की कला में पारगंत होते हैं तो सुनने में बहुत मजा आता है। तीन-तीन घंटे तक सुनते रहें, फिर भी भूख-प्यास सताती नहीं है ! मैंने बचपन में ऐसी कथाएँ सुनी थी। मुझे सुनने में बहुत मजा आता थी। रात्रि के समय बारह बजे तक सुनती रहती थी ऐसी अच्छी कथाएँ। सुनानेवाले इतने रसपूर्ण ढंग से सुनाते थे कि तनिक भी प्रमाद नहीं आता था। ऐसा लगता था कि वे सुनाते ही रहें ! रातभर सुनाते रहें और हम सुनते रहें। इसका गहरा प्रभाव भी पड़ता था मन पर। उन महापुरुषों जैसे सत्कार्य करने की कल्पनाएँ मन करता रहता था। परंतु जब बड़े हुए, छोटा गाँव छूट गया, बड़े शहर में आये... नया वातावरण मिला। बुरे निमित्त मिलने लगे, सत्पुरुषों का संग नहीं रहा। सत्पुरुषों की कथाओं का श्रवण छूट गया और जीवन में कुछ दोषों का प्रवेश हो गया। हालाँकि वह परिस्थिति ज्यादा समय नहीं टिकी, पुनः सत्पुरुषों का परिचय हुआ... पुनः धर्म श्रवण मिला और जीवन धर्ममय बन गया।

सच्चरित्रों का प्रभाव :

साधुजीवन में, सत्पुरुषों का चरित्र सुनने का अवसर कम मिला, परंतु सुनाने का अवसर ज्यादा मिला। रामायण वगैरह कथा ग्रंथों के माध्यम से मैंने हजारों चरित्र सुनाये हैं। जहाँ ग्रामीण श्रोतावर्ग होता है, वहाँ प्रवचन कथामय बन जाता है। वहाँ तत्त्वज्ञान की चर्चा बहुत कम होती है। चरित्र-कथन के माध्यम से ही लोग तत्त्वामृत का पान करते हैं। मैंने बड़े शहरों में भी कथामय प्रवचन दिये हैं... दो-दो घंटे तक दो-दो हजार श्रोता लोग मंत्रमुग्ध हो, सुनते रहे हैं। चरित्र के गंगाप्रवाह में बहते रहे हैं। मन पर गहरा प्रभाव लेकर वे अपने-अपने घर गये हैं। बाद में दोपहर में आकर वे कहते हैं : 'आज महासती अंजना सुंदरी का चरित्र सुनकर आँखें खुल गई। सामान्य दुष्प्रवृत्ति का कैसा करुण परिणाम आता है ? अंजना सुंदरी की कैसी अद्‌भुत सहनशीलता। आज तो प्रवचन सुनते सुनते अनेक बार आँखें बहने लगी थी.... ' वगैरह।

एक नगर में भगवान महावीर स्वामी की बारह वर्ष की कष्टमय साधना सुन कर एक अजैन गृहस्थ भगवान महावीर के अनन्य भक्त बन गये। प्रवचन पूर्ण होने के बाद वे मेरे पास आये और बोले : 'महाराज साब, आज दिन तक मैं जानता था कि सभी भगवानों में ईशु ने ही क्रोस पर चढ़ने का कष्ट पाया है.... शेष भगवानों ने ऐसा कष्ट नहीं पाया है। आज मालुम हुआ कि भगवान महावीर स्वामी ने बारह वर्ष से भी ज्यादा समय मरणांत कष्ट सहे थे, शान्ति से सहे थे, ध्यानमग्न होकर सहे थे...। आज से मेरे श्रद्धेय और पूजनीय हो गये भगवान महावीर स्वामी। दुनिया जानती ही नहीं भगवान महावीर स्वामी की इस कष्टमय दीर्घकालीन साधना को।'

सत्पुरुषों का चरित्र श्रवण करने के ऐसे अनेक लाभ जीवों को होते हैं।

एक नगर में हमारा चातुर्मास था। कृष्णाष्टमी का दिन था। ब्राह्मण समाज की ओर से प्रवचन था। मैंने उस प्रवचन में श्रीकृष्ण का ही जीवन-चरित्र सुनाया। भगवान नेमनाथ के साथ श्रीकृष्ण का संबंध बताया.... गहरा प्रेम बताया और कहा कि 'श्रीकृष्ण तो भविष्य में हमारे तीर्थंकर होनेवाले हैं।' तब सभी ब्राह्मण एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। प्रवचन पूर्ण होने के बाद चार विद्वान् ब्राह्मण मेरे पास आये और बोले : हमने तो सुना था कि जैनधर्मवाले 'कृष्ण नरक में गये हैं,' ऐसा मानते हैं, आपने कहा कि श्रीकृष्ण तीर्थंकर होनेवाले हैं।

मैंने कहा : 'दोनों बातें सही हैं। कृष्ण नरक में गये हैं और वहाँ से निकलने

के बाद वे तीर्थंकर होंगे। वैसे तो 'भगवान महावीर स्वामी भी नरक में गये थे.... ' ऐसा भी हमारे शास्त्रों में आता है और हम कहते हैं। 'पाप-पुण्य कर्म का फल तीर्थंकर की आत्मा को भी भोगना पड़ता है। चाहे महावीर हो या कृष्ण हो।' उन विद्वानों को आनन्द हुआ।

चरित्र श्रवण के लाभ :

सत्पुरुषों के चरित्रों का श्रवण, केवल मनोरंजन के लिए या केवल समय पास करने के लिए नहीं करने का है। टीकाकार आचार्यदेव ने एक विशिष्ट प्रयोजन बताया है। 'न कदाचित् लब्धगुणहानिः संभवते।' जो गुण आपने पाये हैं, वे गुण नष्ट नहीं होंगे; यदि आप निरंतर चरित्र श्रवण करते रहेंगे।

उदाहरण के रूप में बताता हूँ – आप ने क्षमागुण प्राप्त किया है, यदि आप निरंतर क्षमाशील स्त्री-पुरुषों के उत्तम चरित्र सुनते रहेंगे, तो आपका क्षमागुण दृढ़ होगा, नष्ट नहीं होगा। यदि आप क्षमाशील स्त्री-पुरुषों के चरित्र नहीं सुनते हैं तो संभव है, आपका क्षमागुण चला जायेगा। गुण और दोष ऐसे तत्त्व हैं कि वे जीव में आते हैं और जाते भी हैं। इसलिए तीर्थंकरों ने कहा : 'आये हुए गुणों को जाने न दो, गये हुए दोषों को पुनः आने न दो।'

जो दोष आपके जीवन से गया है, वह दोष पुनः आपके जीवन में प्रविष्ट न हो, इसलिए सावधान रहें। घर में से साँप निकल गया, या निकाला गया, वह पुनः घर में प्रवेश न कर जायं, इसलिए जाग्रत रहते हो न ? वैसे जो दोष जीवन में से निकल गया हो, वह पुनः जीवन में आ न जाय, इसलिए सावधान रहें।

एक श्रीमंत व्यक्ति जुआ खेलता था। क्लब में जाकर रातभर जुआ खेलता था। उसकी पत्नी बड़ी परेशान थी। उसने हम से बात की। हमने समझा कर जुआ खेलने का व्यसन छुड़वा दिया। जब तक उस नगर में हम रहे, वह प्रतिदिन प्रवचन सुनता रहा। जुआ खेलने की इच्छा भी नहीं जगी उसके मन में। परंतु चातुर्मास पूर्ण हुआ, हमने उस गाँव से विहार कर दिया.... कुछ महीने गुजरे.... समाचार मिला कि 'उस व्यक्ति ने पुनः जुआ खेलना शुरू कर दिया है।' मैंने मेरे मन का समाधान किया कि जब तक वह प्रवचन सुनता रहा, धर्मोपदेश सुनता रहा, वह दोष-जुआ का, उसमें पुनः नहीं आया, परंतु धर्मोपदेश सुनना बंद हुआ....कि दोष जीवन में प्रवेश कर गया। इसलिए प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनना चाहिए !

सभा में से : धर्मोपदेश सुनाने वाले गुरुदेव का संयोग नहीं मिलता हो तो?

महाराजश्री : श्रावकों को ऐसी जगह, ऐसे गाँव में रहना चाहिए कि जहाँ जिन मंदिर हो और साधुपुरुषों का जहाँ आवागमन होता हो। परंतु आप वहाँ रहना पसंद करते हो, जहाँ अच्छा व्यापार चलता हो। जहाँ ज्यादा से ज्यादा रुपये कमाये जा सकते हो। मुख्य प्रयोजन अर्थ-पुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ बन गया है। धर्मपुरुषार्थ गौण कर दिया है। इसलिए जीवन दोषभरपूर बन गया है। गुण एक-दो ही रह गये हैं। गुणप्राप्ति का लक्ष्य भी नहीं रहा है। दोषक्षय का ध्येय नहीं रहा है।

गुणप्राप्ति का लक्ष्य बनायें :

सत्पुरुषों का चरित्र सुनने से क्षमा, नम्रता, सरलता, निर्लोभता आदि गुणों की प्राप्ति होती है। परंतु आपका लक्ष्य गुणप्राप्ति का होना चाहिए। लक्ष्य होगा तो गुणप्राप्ति अवश्य होगी। गुणों से ही जीवन शान्तिमय और उल्लासमय बन सकता है। एक श्रीमंत परिवार है, मेरा परिचित है। रहने को बड़ा घर है, तीन-चार लाख रुपये का फर्निचर होगा। सब प्रकार की आधुनिक सुविधाएँ हैं.... पत्नी है, दो पुत्र हैं, एक पुत्री है...। इन्कम अच्छी है। फिर भी वह परिवार गृहक्लेश से दुःखी था। एक-दूसरे के प्रति शिकायतें थी, एक-दूसरे के साथ कोई आनंद से बात नहीं करता था, आपस का व्यवहार अच्छा नहीं था।

एक दिन वंदन करने परिवार के साथ वे मेरे पास आये। परिवार की मुख्य श्राविका ने ही बात का प्रारंभ किया। बाद में पुरुष ने भी जो कहना था वह कहा। लड़कों ने भी अपनी बात सुनायी। मैंने सब को सुना। बाद में मैंने कहा :

'आप लोग मेरी एक बात मानोगे ?' सब ने कहा – 'मानेंगे'। मैंने कहा – 'तो आप सब प्रतिदिन यहाँ प्रवचन सुनने आया करो। तुम्हारे पास गाड़ी है.... आने में सुविधा है। एक घंटा प्रवचन सुना करो।' उन्होंने कबूल कर लिया। उस समय प्रवचन गुणों की प्राप्ति के विषय में ही चल रहे थे। प्रवचनों के दौरान मैंने चार गुणों का पारिवारिक जीवन में कितना महत्त्व है, वह बताया।

- पहला गुण बताया उदारता का।
- दूसरा गुण बताया गंभीरता का।
- तीसरा गुण बताया सहनशीलता का और

– चौथा गुण बताया परस्पर प्रेम का।

उस परिवार में जो पिता थे, उनको महसूस हुआ कि मुझ में उदारता नहीं है, मुझे उदार बनना चाहिए। वे उदार बने।

जो माता थी, उसने सोचा कि मुझ में गंभीरता नहीं है, मैं घर की बातें बाहर कर देती हूँ, मुझे गंभीर बनना चाहिए। परिवार के सदस्यों की निंदा मुझे दूसरों के आगे नहीं करनी चाहिए। वह महिला गंभीर बनी।

जो पुत्रवधू थी, उसने सोचा : मैं छोटी–छोटी तकलीफों की शिकायतें करती रहती हूँ, अच्छा नहीं है। मुझे थोड़ा–सा सहन करना ही चाहिए। मैं दूसरों का अप्रिय व्यवहार सहन करूँगी....। वह सहनशील बनी।

दो भाई और एक बहन, परस्पर लड़ते–झगड़ते थे, उन्होंने अपनी गलती महसूस की, आपस में प्रेम बन गया। इस प्रकार, एक परिवार ने नया जीवन पाया। उनके जीवन का अभिगम ही बदल गया।

धर्मकथा प्रतिदिन सुनें :

गुणप्राप्ति के लिए और प्राप्त गुणों की रक्षा के लिए यह सुंदर एवं श्रेष्ठ उपाय है – प्रतिदिन धर्मकथा सुनते रहें।

– एकाग्रता से सुनें,

– नियमित सुनें,

– भक्तिभाव से सुनें।

सभा में से : रोजाना धर्मकथा सुनानेवाले साधुपुरुष मिलने चाहिए न ?

महाराजश्री : जब साधुपुरुष आपके गाँव–नगर में आयें तब उनसे धर्मकथा सुनें और जब साधुपुरुष नहीं हों तब घर में सभी मिल कर सामायिक करें और सामायिक में एक व्यक्ति धर्मकथा की किताब पढ़ें और दूसरे सुनें। एक समय निश्चित कर लें सामायिक का। ४८ मिनट का सामायिक होता है। धर्मकथा पढ़ने–सुनने में समय शीघ्र पास हो जायेगा! धर्मकथाओं की अनेक अच्छी किताबें मिलती हैं। ज्ञानभंडार में अथवा लायब्रेरी में भी किताबें होती हैं। किताबों की पसंदगी किसी मुनिराज की राय लेकर करना। पुस्तक पढ़नेवाला पुस्तक वैसे पढ़े कि सुननेवाले बोर नहीं हो जाय और बैठे बैठे नींद नहीं लेने लगे। पढ़ने की भी कला होती है।

घर से सामुदायिक सामायिक शुरू करो, बाद में मुहल्ले के, शेरी के जिज्ञासु

भाई–बहिनों को भी प्रेरणा दो, उनको भी सामायिक में शामिल करो। कभी दिन में समय नहीं मिले तो रात्रि के समय, सामायिक किये बिना, सब मिल सकते हो और पुस्तक का वांचन कर सकते हो। वह भी एक प्रकार का 'श्रुत सामायिक' ही कहा जायेगा।

इस प्रकार के वांचन में चरित्रग्रंथ ज्यादा उपयुक्त रहते हैं। चरित्रग्रंथ सुनने में सामान्य लोगों की भी रसवृत्ति बढ़ती है। महापुरुषों के जीवन–चरित्रों में मुझे 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष–चरित्र' उत्तम ग्रंथ लगा हैं। वैसे दूसरे भी चरित्रग्रंथ हैं। आप कई वर्षों तक पढ़ते रहो, उतने चरित्रग्रंथ हैं। गुजराती भाषा में और हिन्दी भाषा में कई चरित्रग्रंथों का अनुवाद हुआ है। आप लोग उन ग्रंथों का उपयोग करें।

लक्ष्य नहीं भूलें। आपको गुणप्राप्ति करना है, दोषक्षय करना है। जीवन को दोषों से मुक्त करना है, गुणों से भरपूर बनाना है। क्योंकि आपकी शान्ति का और प्रसन्नता का आधार ये सारे गुण हैं। दोषों की वजह से ही अशान्ति, क्लेश और संताप हैं। दोषों में प्रमुख हैं – क्रोध, अभिमान, माया और लोभ। इन चार दोषों को जीवन में से खदेड़ दोगे तो, दूसरे अनेक दोष चले जायेंगे। 'मुझे दोषमुक्त होना है,' यह आपका दृढ़ संकल्प होना चाहिए।

भगवान महावीर स्वामी का एक श्रावक :

सद्दालपुत्र :

पोलासपुर नाम के नगर में सद्दालपुत्र नाम का एक श्रीमंत कुंभकार रहता था। उसके पास तीन करोड़ स्वर्णमुद्राएँ थीं। दस हजार गायें थी। उसकी पत्नी का नाम था अग्निमित्रा।

सद्दालपुत्र गोशालक के सिद्धान्त में विश्वास करता था। वह धर्मश्रवण करने में अभिरूचि रखता था। अर्थ ग्रहण करने में बड़ा विचक्षण था। गोशालक, जो कि भगवान महावीर का ही शिष्य था, बाद में भगवान से विपरीत हो गया था और अपने 'नियतिवाद' का प्रचार करता था। अष्टांग निमित्त का पारगामी होने से, लोगों को भविष्यकथन कर प्रभावित करता था। उसके लाखों अनुयायी बन गये थे। गोशालक ने उसको – सद्दालपुत्र को समझा दिया था – 'हे महानुभाव, मेरा नियतिवाद ही अर्थरूप है, परमार्थरूप है, शेष सभी सिद्धान्त अनर्थरूप हैं।' उसने गोशालक का सिद्धान्त मान लिया।

एक दिन मध्याह्न में सद्दालपुत्र अपने अशोकवन में बैठे हुए थे कि श्रेष्ठ वस्त्र धारण किए हुए एक देव वहाँ प्रकट हुए। आकाश में ही स्थित रह कर देव ने सद्दालपुत्र को कहा : 'हे सद्दालपुत्र, इस नगर में सहस्राम्रवन में एक महामाहण पधारेंगे। वे पूर्ण ज्ञानी और अनंत दर्शनी हैं, अतीत–अनागत और भविष्य के ज्ञाता हैं, वे अरिहंत हैं, जिन हैं, सर्वज्ञ–सर्वदर्शी हैं। वे तीनों लोक में पूजनीय हैं। वे देव–मनुष्य–असुर आदि सबके लिए अर्चनीय और वंदनीय हैं, वे सत्कार करने योग्य हैं, सम्मान करने योग्य हैं, उपासना करने योग्य हैं, इसलिए तू उनके पास जाना, वंदना करना एवं पर्युपासना करना। उनको वसति देना, संस्तारक देना.... जो भी तेरे पास लकड़ी के पीठ.... फलक इत्यादि है, तू लेने के लिए कहना।' देव ने यही बात तीन बार कही और वह अदृश्य हो गया।

सद्दालपुत्र ने देव की बात सुन कर सोचा : 'इस प्रकार के धर्माचार्य तो सिर्फ गोशालक हैं। वे ही देवोक्त गुणों से युक्त हैं, वे ही यहाँ शीघ्र आनेवाले होंगे। मैं उनको वंदना करूँगा, पर्युपासना करूँगा और वसति आदि के विषय में आमंत्रित करूँगा।' दिन पूर्ण हो गया।

रात्रि पूर्ण हुई, प्रभात हुआ। नगर में राजा जितशत्रु की ओर से घोषणा हुई कि 'सहस्राम्रवन में भगवान महावीर स्वामी पधारे हैं, सभी नगरजन भगवंत के दर्शन करें, पर्युपासना करें और धर्मकथा का श्रवण करें।'

सद्दालपुत्र ने विचार किया : 'मैं भगवान महावीर स्वामी के पास जा कर, उनको वंदना करूँ.... उनकी पर्युपासना करूँ।'

वह स्नानादि से निवृत्त हुआ। उसने शुद्ध, श्रेष्ठ और सुंदर वस्त्र धारण किए, बहुत मनुष्यों के साथ वह चलता हुआ सहस्राम्रवन में पहुँचा।

सद्धर्म की प्राप्ति में सरलता चाहिए :

आपको मैंने पहले ही बता दिया कि सद्दालपुत्र गोशालक के अनुयायी थे, फिर भी वे भगवान महावीर स्वामी के पास गये, उनको वंदना की और उपदेश सुना। चूँकि वे सरल थे। वे बद्धाग्रही नहीं थे। इसलिए श्रमण भगवंत महावीर का उपदेश उनके हृदय तक पहुँचा। भगवंत ने भी उसके साथ बात की। भगवंत तो जानते ही थे कि सद्दालपुत्र गोशालक के नियतिवाद में श्रद्धा करता है। फिर भी भगवंत ने वात्सल्यपूर्ण हृदय से उसको कहा : 'सद्दालपुत्र, कल मध्याह्न काल में तुम्हारे पास एक देव आया था ?'

सद्दालपुत्र ने कहा : 'हाँ, भगवंत।'

भगवंत ने देव द्वारा कही हुई सारी बात कह सुनायी । और कहा : 'तुमने देव के कथनानुसार गोशालक की आने की कल्पना की थी न ? परंतु उस देव ने मंखलिपुत्र गोशालक के निमित्त वे बातें नहीं कही थीं ।'

सद्दालपुत्र ने सोचा : 'ये केवलज्ञानी–केवलदर्शी हैं, ये सत्य कर्म की संपदा से युक्त हैं, ये भगवान महावीर मेरे लिए वंदनीय हैं, नमस्करणीय हैं, मैं उनको पीठ, आसन, फलक आदि के लिए आमंत्रित करूँ ।'

सद्दालपुत्र खड़ा हुआ, भगवंत को वंदन–नमस्कार कर बोला : 'हे भगवन्, पोलासपुर नगर के बाहर मेरी कुंभकार की ५०० दुकानें हैं । आप वहाँ जो कुछ चाहिए वह ग्रहण कर, निवास करें ।'

भगवान ने उसकी बात स्वीकार की । भगवंत ने वहाँ निवास किया ।

एक दिन की बात है । सद्दालपुत्र मृत्तिका–पात्रों को अंदर से निकाल कर धूप में सूखने के लिए रख रहा था । उस समय भगवंत ने उसको पूछा :

'हे सद्दालपुत्र, ये मिट्टी के भांड कैसे बने ?'

'भगवन्, यह पहले मिट्टी थी । इसे पानी में भिगोया गया । फिर उसमें राख और गोबर मिलाया गया । बाद में उसको चाक पर चढ़ाया और आकार दिया गया । तब यह भांड बना ।'

'महानुभाव, ये भांड पुरुषार्थ से बने या बिना पुरुषार्थ किये ?'

'भगवन्, बिना पुरुषार्थ से बने, क्योंकि सब कुछ नियत है ।'

भगवंत ने कहा : 'महानुभाव, यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे ये मिट्टी के बरतन चुरा ले जाय, यत्र–तत्र फेंक दे, अथवा फोड़ डाले, या तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा को उठा ले जायं और उस पर बलात्कार करे, उसके साथ व्यभिचार करे तो तू उस व्यक्ति को दंड देगा क्या ?'

'अवश्य, मैं उस दुष्ट पुरुष पर आक्रोश करूँगा, उसका हनन करूँगा, उसको बाँधूंगा, उसकी तर्जना करूँगा.... ताड़न करूँगा और मार डालूँगा ।'

भगवंत ने कहा : 'सद्दालपुत्र, यदि सर्वभाव नियत हैं तो फिर उस पुरुष को सजा क्यों देनी चाहिए ? जो नियत था, वही उसने किया है.... उसने पुरुषार्थ तो किया नहीं है, तुम्हारे मत के अनुसार । लेकिन तुम सजा करते हो, क्योंकि उसने गलत पुरुषार्थ किया है चोरी का और बलात्कार का । या तो तुम्हारा नियतिवाद गलत है अथवा सजा करना गलत है । बलात्कार करनेवाला तुम्हें

कहेगा 'मैंने जो किया है वह नियत था... इसलिए मैंने किया है,' क्या तुम उसकी बात सही मानोगे ?'

भगवान महावीर की बात सद्दालपुत्र के हृदय में जँच गई । उसने भगवंत को वंदन-नमस्कार कर कहा : 'भगवन्, आपके पास मैं श्रमणोपासक धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ ।' भगवंत ने समकित के साथ बारह व्रत उसको समझाये । सद्दालपुत्र ने स्वीकार किये व्रत और भगवंत की अनुज्ञा पाकर वह अपने घर पहुँचा । अपनी पत्नी अग्निमित्रा से बोला :

'देवी, यहाँ सहस्राम्रवन में श्रमण भगवान महावीर पधारे हैं, तुम उनके पास जाओ और बारह व्रत स्वीकार करो ।' अग्निमित्रा ने बिना किसी तर्क-वितर्क पति की बात मान ली । विशाल स्वजन-परिवार के साथ, उत्तम शिबिका में बैठ कर, वह भगवान महावीर के पास जाती है और वंदन-नमस्कार कर खड़ी रहती है । भगवंत ने विशाल पर्षदा के सामने उपदेश दिया । उपदेश सुन कर अग्निमित्रा बड़ी संतुष्ट हुई । उसने भगवंत को कहा :

'हे भगवन्, मैं निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा करती हूँ । मैं प्रव्रजित होने में तो समर्थ नहीं हूँ, परंतु मैं बारह व्रत अंगीकार करना चाहती हूँ ।' उसने श्रावक जीवन के १२ व्रत स्वीकार कर लिये और वह वापस चली गई ।

थोड़े दिनों के बाद भगवंत ने भी अन्यत्र विहार कर दिया । वे पोलासपुर से चले गये । सद्दालपुत्र जब तक भगवान महावीर पोलासपुर में रहे, उनका धर्मोपदेश प्रतिदिन सुनता रहा । अग्निमित्रा भी सुनती रही । भगवंत के वहाँ से जाने के बाद जीव, अजीव आदि तत्त्वों का चिंतन-मनन करता रहा ।

मंखलिपुत्र गोशालक ने यह बात सुनी कि पोलासपुर में सद्दालपुत्र ने उसका मत छोड़ दिया है और वह भगवान महावीर का श्रमणोपासक बन गया है । गोशालक चिंता में पड़ गया । वह शीघ्र पोलासपुर पहुँचा और अपनी आजीवक मत की धर्मसभा में उतरा । कुछ शिष्यों के साथ वह सद्दालपुत्र के घर पहुँचा । उसको वहाँ आदर-सत्कार नहीं मिला । वह खड़ा रहा । उसने सद्दालपुत्र को पूछा :

"हे देवानुप्रिय, यहाँ 'महामाहण' आये थे क्या ?"

सद्दालपुत्र ने पूछा : "देवानुप्रिय, 'महामाहण' कौन हैं ?"

'श्रमण भगवान महावीर महामाहण हैं ।' गोशालक बोला ।

'हे देवानुप्रिय, आप ऐसा क्यों बोलते हैं ?' सद्दालपुत्र ने पूछा ।

'हे सद्दालपुत्र, सचमुच श्रमण भगवान महामाहण हैं । वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं । वे स्तुति करने योग्य हैं और देव–दानव और मानवों से पूजित है । इस कारण हे देवानुप्रिय, श्रमण भगवान महावीर महामाहण हैं ।'

सद्दालपुत्र गोशालक के सामने आश्चर्य से देखता रहा । गोशालक ने फिर से पूछा : 'हे देवानुप्रिय, यहाँ 'महागोप' आये थे ?'

सद्दालपुत्र ने पूछा : 'महागोप कौन हैं ?'

गोशालक ने कहा : 'श्रमण भगवान महावीर महागोप हैं ।'

सद्दालपुत्र ने पूछा : 'हे देवानुप्रिय, किस कारण से वे 'महागोप' कहे जाते हैं ?' गोशालक बोला : 'हे देवानुप्रिय, यह संसार भयानक अटवी है । यहाँ जीव नष्ट–विनष्ट होते हैं, पशुओं के भक्ष्य बनते हैं, उनका छेदन किया जाता है, भेदन किया जाता है ।.... वहाँ भगवन् धर्मदंड से उन जीवों का संरक्षण करते हैं, बचाते हैं और निर्वाण के बाड़े में पहुँचाते हैं । इस कारण हे सद्दालपुत्र, श्रमण भगवान महागोप कहे जाते हैं ।'

गोशालक की बात सुनकर, सद्दालपुत्र का चित्त प्रसन्न हुआ ।

फिर गोशालक ने पूछा : "हे देवानुप्रिय, यहाँ 'महासार्थवाह' आये थे क्या ?"

सद्दालपुत्र ने पूछा : 'हे देवानुप्रिय, महासार्थवाह कौन हैं ?'

गोशालक बोला : 'सद्दालपुत्र, महासार्थवाह भगवान महावीर हैं ।'

सद्दालपुत्र ने पूछा : 'आप ऐसा क्यों कहते हो ?'

गोशालक ने कहा : 'हे देवानुप्रिय, संसार रूपी अटवी में से बचा कर बहुत से जीवों को, मार्ग में रक्षा करते हुए निर्वाण रूपी महानगर पहुँचाते हैं, इसलिए हे सद्दालपुत्र, श्रमण भगवान महावीर महासार्थवाह कहे जाते हैं ।

सद्दालपुत्र, भगवंत की प्रशंसा सुन कर प्रसन्नचित्त बना ।

गोशालक ने पूछा : 'हे देवानुप्रिय, यहाँ महाधर्मकथी आये थे क्या ?'

सद्दालपुत्र ने पूछा : 'हे देवानुप्रिय, महाधर्मकथी कौन हैं ?'

गोशालक ने कहा : 'श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं ।'

सद्दालपुत्र ने पूछा : आप श्रमण भगवान महावीर को महाधर्मकथी क्यों कहते हो ?'

गोशालक ने कहा : 'हे देवानुप्रिय, इस विराट संसार में सन्मार्ग से दूर....

और उन्मार्ग पर भटकते हुए जीवों को, मिथ्यात्व से पराभूत जीवों को, कर्मों के अंधकार में डूबे हुए जीवों को, धर्मोपदेश देकर, चार गतिरूपी संसार की अटवी से, अपने हाथ पार उतारते हैं। इसलिए श्रमण भगवान महावीर महाधर्मकथी हैं।'

भगवंत की प्रशंसा गोशालक के मुख से सुन कर सद्दालपुत्र प्रसन्न हो उठा।

गोशालक ने पुनः पूछा : 'हे देवानुप्रिय, यहाँ महानिर्यामक आये थे क्या ?'

सद्दालपुत्र ने पूछा : 'महानिर्यामक कौन है ?'

गोशालक ने कहा : 'श्रमण भगवान महावीर स्वामी महानिर्यामक हैं।'

सद्दालपुत्र ने पूछा : 'हे देवानुप्रिय, ऐसा आप किस कारण कह रहे हैं ?'

गोशालक बोला : 'हे सद्दालपुत्र, संसार महासागर है। संसार–महासागर में जीवों की डूबती नैयाओं को बचा कर वे निर्वाण रूपी तट पर पहुँचाते हैं, इसलिए श्रमण भगवान महावीर महानिर्यामक हैं।'

सद्दालपुत्र ने कहा : 'हे देवानुप्रिय, आप निपुण हैं, विज्ञानप्राप्त हैं, आप में उपदेश–लब्धि हैं, तो क्या आप हमारे धर्माचार्य श्रमण भगवान महावीर से विवाद करने में समर्थ हैं ?'

गोशालक ने कहा : 'मैं इसके लिए युक्त नहीं हूँ।'

सद्दालपुत्र ने पूछा : 'आप ऐसा क्यों कहते हैं ?'

गोशालक ने कहा : 'भगवान महावीर मुझे अर्थों से, हेतुओं से एवं उत्तरों से निरुत्तर कर देंगे।'

सद्दालपुत्र ने कहा : 'हे देवानुप्रिय, आप हमारे धर्माचार्य भगवान महावीर की स्तुति करते हो, इसलिए मैं आपको मेरी वसति, पीठ, फलक आदि देता हूँ। आप जाइये, मेरी दुकानों से जो चाहिए वह ले लीजिए।'

इसके बाद गोशालक सद्दालपुत्र को अपने पक्ष में लाने के लिए आख्यान से, प्रज्ञापना से, संज्ञापना से और विज्ञापना से बहुत प्रयत्न करने लगा। सद्दालपुत्र को निर्ग्रन्थ प्रवचन से चलायमान करने में, लुब्ध करने में और विपरिणत करने में सफल नहीं रहा तब वह पोलासपुर छोड़ कर अन्यत्र चला गया।

सद्दालपुत्र १४ वर्ष तक विविध प्रकार के शील आदि धर्मांगों का पालन करता रहा। आत्मा को धर्म से भावित करता रहा। पंद्रहवाँ वर्ष चल रहा था। सद्दालपुत्र

भगवान महावीर के अति निकट, धर्म–प्रज्ञप्ति का स्वीकार कर रहा था। मध्यरात्रि के समय एक देव ने उस पर सब प्रकार के उपसर्ग किये। सद्दालपुत्र के प्रत्येक पुत्र के मांस के नौ–नौ टुकड़े किये.... मायाजाल रची, और सबसे छोटे बच्चे को मार डालने का दृश्य रचा, परंतु सद्दालपुत्र धर्म–ध्यान में निश्चल रहा।

मृत्यु के बाद सद्दालपुत्र देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म पायेंगे और वहाँ से मुक्ति पायेंगे।

उपसंहार :

प्रतिदिन सत्पुरुषों की कथा सुनने से, दोषों का नाश होता है, गुणों की वृद्धि होती हैं, प्राप्त गुण चले नहीं जाते.... वगैरह लाभ होते हैं। इस विषय में 'धर्मबिंदु' के प्रथम अध्याय के प्रवचनों में विस्तार से बताया गया है, इसलिए यहाँ मैं विस्तार करना नहीं चाहता। आप लोग प्रतिदिन सत्पुरुषों की कथाएँ सत्पुरुषों के मुख से सुनते रहो, यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ५६

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी, स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक धर्म का वर्णन करते हैं। श्रावक धर्म में मनुष्य की स्थिरता हो, इसलिए उन्होंने प्रतिदिन सत्पुरुषों के चरित्र सुनने का कर्तव्य बताया। थोड़े वर्ष पूर्व, जब अपने देश में विडियो नहीं आया था तब शाम को बच्चों को इकट्ठे कर, घर के वृद्ध दादा–दादी अच्छी कहानियाँ सुनाते थे। रामायण–महाभारत की प्रेरणादायी कहानियाँ सुनाते थे। बच्चों पर उसका गहरा असर पड़ता था। वैसे समाज में अपने–अपने धर्म के अनुसार रात्रि के समय कथाओं का आयोजन होता था। अनेक स्त्री–पुरुष कथा सुनने जाते थे।

साध्यविधि की पालना :

ग्रंथकार आचार्यदेव ने आगे लिखते हुए लिखा है –

सान्ध्यविधिपालना ॥ ८१ ॥

यथोचितं तत्प्रतिपत्तिः ॥ ८२ ॥

पूजापुरस्सरं चैत्यादिवंदनम् ॥ ८३ ॥

सूर्यास्त के बाद और रात्रि के प्रारंभ के पहले संध्यासमय कहा जाता है। संध्यासमय बहुत महत्त्वपूर्ण समय माना गया है। जैन धर्म में संध्यासमय का महत्त्व है वैसे वैदिक धर्म में भी संध्या का महत्त्व है। संध्या के समय कुछ विशेष धर्मक्रिया करने का विधान, दोनों धर्म में बताया गया हैं। अपन 'काल' 'समय' का भी महत्त्व मानते हैं। और यह मान्यता निराधार भी नहीं है। आधार है अनुभव। वे अनुभव होते हैं आध्यात्मिक। वे अनुभव होते हैं दैवी। इसलिए श्रद्धा से सान्ध्यविधि करते रहने का ग्रंथकार ने निर्देश दिया है।

आजकल, बड़े शहरों में संध्यासमय व्यापार का समय हो गया है। क्योंकि देश–काल ही बदल गया है। सूर्यास्त होने के पूर्व भोजन कर लेने की बात रही नहीं है। बहुत कम जैन परिवार रात्रिभोजन के त्यागी रह गये हैं। शाम को चार बजे के बाद बाजार में ज्यादा भीड़ होती है। रात्रि में आठ–नौ बजे तक बाजार खुला रहता है। बाद में घर जा कर भोजन करते हैं। कहिए, संध्याकालीन धर्म–आराधना कैसे कर सकते हो?

सभा में से : संध्यासमय हम लोग व्यापार छोड़ कर, दुकान छोड़ कर घर जा ही नहीं सकते हैं, न सेठ लोग जा सकते हैं, ना ही नौकर लोग ।

महाराजश्री : परंतु जिस दिन दुकान बंद रहती है उस दिन तो संध्याकालीन धर्मकृत्य कर सकते हो न ?

सभा में से : नहीं, उस दिन T.V. के सामने बैठ जाते हैं । रविवार के दिन T.V. पर पिक्चर शाम को ही आता है ।

महाराजश्री : तो फिर संध्याकालीन धर्मआराधना नहीं करना है ? अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ में ही संध्या का पवित्र और प्रभावक समय गँवा देना है ? धर्मपुरुषार्थ करने की तमन्ना के बिना आप संध्याकालीन धर्मआराधना नहीं कर सकेंगे । ठीक है, मुझे तो बताना ही है संध्या के समय करने की धर्माराधना । आप पुरुष नहीं करोगे, महिलाएँ, श्राविकाएँ तो करेगी न ?

सभा में से : श्राविकाएँ शाम को शोपिंग करने जाती हैं । स्नेही–स्वजनों के वहाँ जाती है और कोई रसोई बनाती है, कोई T.V. देखती है ।

महाराजश्री : सभी महिलाएँ शोपिंग करने नहीं जाती होंगी और सभी महिलाएँ T.V. नहीं देखती हैं । जिन महिलाओं के हृदय में संध्याकालीन धर्मआराधना करने के भाव जगेंगे, वे अवश्य करेंगे । इसलिए मुझे आज संध्याकालीन तीन धर्माराधना बताना है, जो ग्रंथकार ने एवं टीकाकार आचार्यश्री ने बताई हैं । इसके अलावा मुझे भी एक–दो धर्मआराधना बताना है जो इन आराधनाओं से संबंध रखती हैं ।

संध्याकालीन जिनपूजा : चैत्यवंदन :

पूजा तीन संध्या में करने का विधान है :

- प्रामातिक संध्या में पूजा करना है,
- मध्याह्नकालीन संध्या में पूजा करना है,
- सायंकालीन संध्या में पूजा करना है ।

प्रभात एवं शाम को परमात्मा की तीन पूजा नहीं करने की हैं – जलपूजा, चंदनपूजा और पुष्पपूजा । मध्याह्न के समय सभी आठ प्रकार की पूजा करने की है । जब कि भावपूजा–चैत्यवंदन तीनों समय करने का है ।

यहाँ ग्रंथकार ने '**यथोचितं**' शब्द का प्रयोग किया है । उसका अर्थ टीकाकार आचार्यदेव ने '**यथा सामर्थ्य**' किया है । बहुत अच्छा अर्थ किया है । बहुत अच्छा

अर्थ किया है आचार्यदेव ने। पूजा जो करने की है, आपको अपने-अपने सामर्थ्य के अनुरूप करने की है। सामर्थ्य यानी शक्ति। शक्ति के अनुसार 'यथाशक्ति' पूजा करने की है।

शक्ति के अनुसार पूजन-सामग्री :

आपकी आर्थिक शक्ति के अनुसार आपको जिनमंदिर में धूप-दीपक ले जाना है। अक्षत, नैवेद्य और फल ले जाना है। संध्या के समय यह पाँच प्रकार की ही पूजा आप कर सकते हो। किसी का अनुकरण नहीं करना है। आप अपनी शक्ति के अनुरूप ही सामग्री ले जाया करें।

एक महानुभाव को मैंने पूजा करते हुए देखा। वह घर से धूप और दीपक तो लाया ही नहीं था। चावल टूटे हुए थे, फल सड़ा हुआ था और नैवेद्य खाने योग्य नहीं था। मैंने उसको पूछा : 'ऐसी तुच्छ सामग्री क्यों लाये ?'

उसने कहा : 'महाराज साब, मेरा पड़ोसी बड़ा श्रीमंत है, वह भी ऐसी ही सामग्री लाता है....'

मैंने कहा : 'आप उसका अनुकरण नहीं करें। आपकी शक्ति अच्छे फल-नैवेद्य (मीठाई) लाने की है, अखंड चावल लाने की है, तो आप अच्छा ही लायें। जैसा अर्पण करोगे, वैसा पाओगे। किसान खेत में अच्छा बीज बोता है तो अच्छी फसल पाता है।'

उसको मेरी बात जँच गई। दूसरे दिन से अच्छी पूजन-सामग्री लाने लगा। सामग्री अच्छी होंगी तो भाव भी अच्छे पैदा होंगे मन में। परमात्मा को जितना उत्तम समर्पण करोगे, अति उत्तम द्रव्यों की प्राप्ति होगी।

सभा में से : हम लोग यह समझ कर तुच्छ सामग्री ले जाते हैं - 'यह सब पूजारी ले जानेवाला है, भगवान तो खाते नहीं हैं।'

महाराजश्री : बहुत अच्छी बात कह दी। मैं आपसे पूछता हूँ कि आप पूजा परमात्मा की करने जाते हो या पूजारी की ? समर्पण किसको करते हो ? परमात्मा को या पूजारी को ? यह एक प्राचीन परंपरा है कि जो कुछ फल-नैवेद्य वगैरह परमात्मा को समर्पित किये जायं, वह पूजारी ले जाता है। आपका लक्ष्य पूजारी नहीं, परमात्मा रहने चाहिए।

द्रव्यपूजा करने के बाद आप चैत्यवंदन करें। चैत्यवंदन के जो सूत्र हैं, उन सूत्रों का अर्थ आपको ज्ञात होना चाहिए। यदि आप सूत्रों के अर्थ नहीं जानते

हैं तो सूत्र बोलते समय आपके हृदय में शुभ भाव पैदा नहीं होंगे । और, हृदय में शुभ भाव पैदा करने के लिए ही चैत्यवंदन करने का है । एक-एक सूत्र के अर्थ जान लो । अथवा प्राकृत-अर्धमागधी भाषा का अध्ययन कर लो, जिस भाषा में चैत्यवंदन के सूत्र रचे गये हैं ।

चैत्यवंदन में दूसरी बात है स्तवना की । भावपूर्ण स्तवन, मातृभाषा में बोलने से भाव वृद्धि होती है । अच्छे स्तवनों की पसंदगी करो ।

जिस स्तवन में अच्छे शब्द हों, अच्छे भाव हों और रचना कलात्मक हो, वह अच्छा स्तवन कहा जाता है । रचना उत्तम सत्पुरुष की हो तो बहुत बढ़िया । स्तवना गाते गाते आपका तन रोमांचित हो जाना चाहिए । आपका मन आनन्द से गद्‌गद् बन जाना चाहिए ।

– चैत्यवंदन करते समय आप परमात्मा की मूर्ति के सामने ही देखें, शेष तीन दिशाओं में नहीं देखें ।

– चैत्यवंदन के सूत्र शुद्ध और स्पष्ट बोलें ।

– शब्द और अर्थ में मन को जोड़ें ।

– चैत्यवंदन करते समय अप्रमत्त भाव से बैठें ।

– जिस सूत्र के समय जो मुद्रा करने की होती है, वह मुद्रा करें ।

इतनी बातें लक्ष में लेकर यदि आप चैत्यवंदन करेंगे, तो आपका चैत्यवंदन श्रेष्ठ होगा ।

चैत्यवंदन कहाँ करोगे ? :

यदि आपके घर में जिनचैत्य है तो आप सर्वप्रथम गृहचैत्य में चैत्यवंदन करें । गृहचैत्य नहीं हो तो संघमंदिर में जा कर चैत्यवंदन करें । दोनों चैत्य हैं, तो दो जगह जा कर चैत्यवंदन करें ।

सुखी-संपन्न श्रावकों को गृहचैत्य रखना चाहिए । यह अपनी संस्कृति है । गृहचैत्य हो, सुंदर छोटी मूर्ति हो, आप विधिपूर्वक पूजा कर सकते हैं, चैत्यवंदन कर सकते हैं और बाद में 'ध्यान' में भी बैठ सकते हैं ।

कभी कोई मानसिक चिंता हो जायं, कभी कोई छोटा-बड़ा उपद्रव हो जायं, उस समय आप गृहचैत्य में जाकर, परमात्मा के सामने बैठ सकते हैं और शान्ति पा सकते हैं, मार्गदर्शन पा सकते हैं । एक अनुभवी श्रावक ने मुझे बताया था कि 'मेरे जीवन में जब जब पारिवारिक संकट आये, व्यवहार की उलझनें पैदा

हुई, मैं मेरे गृहमंदिर में शान्तिनाथ भगवंत के सामने जा कर बैठ जाता हूँ। मुझे सहज रूप से मार्गदर्शन मिल जाता है और मैं संकट से बाहर निकल जाता हूँ। मेरी उलझने सुलझ जाती हैं।'

गृहचैत्य होने से बच्चों पर अच्छे संस्कार गिरते हैं। बचपन से वे मंदिर में जाने लगते हैं। परमात्मा के दर्शन-पूजन करने की आदत सी बन जाती हैं। धर्मक्रियाओं की आदतें पड़ना, बहुत अच्छा होता है। जब आप पूजा करें, चैत्यवंदन करें, उस समय आपके साथ बच्चों को भी कराते रहें, यदि बच्चे घर में हो तो। संघमंदिर भी बच्चों को अपने साथ ले जाया करें, यदि वे आपकी बात मानते हों तो। आजकल यह प्रश्न भी खड़ा हुआ है – 'बच्चे हमारा कहा नहीं मानते।' मैं पूछता हूँ कि आपका कहा क्यों नहीं मानते ? कारण को खोजना चाहिए।

संध्या के समय साधुवंदना कर :

यदि आपके गाँव-नगर में साधुपुरुष बिराजते हों तो आप उनके पास जा कर विधिपूर्वक वंदना करें। यदि साधुपुरुष नहीं हैं तो भाव से वंदना करें। परंतु साधुपुरुषों की स्मृति अवश्य करें। वंदना करते समय आपके मन में यह विचार भी आना चाहिए कि 'मुझे इस जीवन में कभी भी ऐसी साधुता का स्वीकार करना है, पालन करना है। मृत्यु के पूर्व साधु बनना ही है।' आपका आदर्श साधुता है न ? यह मनुष्य जीवन मात्र अर्थ-काम के पुरुषार्थों में ही पूरा कर देना है क्या ? तो बड़ी गलती होगी। साधुता का आदर्श होगा और कदाचित् अचानक आयुष्य पूर्ण हो गया, तो कोई चिंता नहीं। साधुता की भावना के साथ मृत्यु होगा तो मृत्यु के बाद ऐसा जीवन प्राप्त होगा कि छोटी उम्र में ही वैराग्य प्राप्त होगा और साधुता प्राप्त होगी।

वैसे तो सुबह, दोपहर और शाम-तीन समय-त्रिकाल साधुवंदना करने का शास्त्रीय विधान है। तीन समय करें तो उत्तम है, अन्यथा सुबह-शाम तो करना चाहिए। सुबह नये दिन का प्रारंभ होता है न ? दिन के प्रारंभ में 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद पाना चाहिए। शाम को दिन की पूर्णाहुति होती है और रात्रि का प्रारंभ होने वाला होता है, उस समय भी 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए। यह आशीर्वाद मंगलरूप होता है। उसमें भी साधुपुरुष प्रसन्नचित्त से 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद दें, तो आपका उद्धार हो जायं।

सभा में से : कई बार ऐसा अनुभव होता है कि हम वंदन करते हैं, परंतु

साधुपुरुष 'धर्मलाभ' नहीं बोलते हैं ।

महाराजश्री : वंदन करने किस समय जाते हो ? किस समय वंदन करते हो ? कई लोगों को समय का विवेक नहीं रहता है । हमारे भी अनुभव हैं न ?

– एक गाँव में एक भाई मध्याह्न समय गौचरी करने के समय ही वंदन करने आया करते थे । गौचरी करने बैठने वाले हों और उसका उपाश्रय में प्रवेश होता..... 'महाराज साब, मुझे वंदन कर लेने दो ।' गलत समय था ।

– एक दूसरे गाँव में एक भाई सुबह जब हम जंगल जाने को उपाश्रय से निकलते हो... तब आते और कहते – 'महाराज साब, खड़े रहो.... मुझे वंदन करना है ।' यह भी गलत–अनुचित समय है ।

– एक महिला, साधु जब गोचरी लेने जाते हों उस समय उपाश्रय के द्वार पर साधु को खड़ा कर वंदना करती । कितना गलत समय ? बाद में उसको समझाया, बंद करवाया वहाँ वंदन करना ।

– एक भाई तभी वंदन करने आते जब मेरा विश्राम करने का समय हो । मैंने उसको कहा भी 'इस समय वंदन करने मत आया करो ।' तो उन्होंने आना ही बंद कर दिया ।

– एक भाई का समय था वंदन करने आने का, जब मैं साधुओं को शास्त्राध्ययन करवाता था । मैं उनके सामने भी नहीं देखता था, मैं मेरे अध्यापन में व्यस्त रहता था ।

ऐसे समयों में हम लोग 'धर्मलाभ' का आशीर्वाद कैसे देंगे ? आशीर्वाद पाने का भी समय होता है । उचित समय में वंदन करने से आशीर्वाद प्राप्त होते हैं । वंदन में विवेक होना बहुत आवश्यक होता है ।

– एक श्रीमंत श्रावक को आदत थी कि वह हमेशा आचार्य को ही वंदना करता था । आचार्य के साथ रहे हुए साधुओं को वंदना नहीं करता था । उस समय मैं आचार्य नहीं था, छोटा साधु था । एक दिन मैंने उनको कहा : 'आप मंदिर में भी मूलनायक भगवान की ही पूजा करते होंगे ?' आसपास के भगवानों की पूजा नहीं करते होंगे ?'

उसने मुझे पुछा : 'महाराज साब, आपको कैसे मालुम हो गया ?'

मैंने कहा : 'उपाश्रय में आपका व्यवहार देख कर.... ' मेरी बात उसकी समझ में नहीं आयी, मैंने स्पष्टीकरण किया : 'आप यहाँ केवल आचार्यदेव को ही वंदना

करते हो.... यह देख कर मैंने अनुमान किया।'

दूसरे दिन से उस श्रीमंत ने सभी साधुओं को वंदना करना शुरू कर दिया था। हाँ, कभी बहुत जरूरी काम हो, समय बहुत कम हो और आप केवल बड़े महाराज सा. को वंदन कर चले जायं तो चल सकता है।

कुछ लोग बिना भक्ति, बिना आदर वंदन करते हैं, अविधि से, प्रमाद से वंदन करते हैं। शक्ति होते हुए भी खड़े होकर खमासमण नहीं देते हैं। कई वर्षों से उनकी यही रीत होती है। अविधि से वंदन करने की। ऐसे लोग उपाश्रय के भक्त होते हैं ज्यादातर। जो लोग उपाश्रय में ही ज्यादा समय रहते हैं, उपाश्रय में ही सोते हैं, उनके हृदय में साधुओं के प्रति प्रायः भक्तिभाव नहीं होता है। संस्कृत में कहा गया है – 'अतिपरिचयात् अवज्ञा।' साधुओं का अति परिचय, गृहस्थ को साधुओं के प्रति दोषदृष्टिवाला बनाता है। दोषदृष्टिवाला मनुष्य साधुओं में गुण नहीं देख सकता है। दोष ही देखेगा और अवर्णवाद करता रहेगा।

एक बात ध्यान से सुन लो : साधुओं को वंदन करने के भाव न जगे तो वंदन नहीं करना, परंतु कभी भी साधुओं की निन्दा नहीं करना। अवर्णवाद नहीं करना। साधुओं की निन्दा करने से निकाचित नीच गोत्रकर्म बँधता है। अनेक जन्मों तक हीन कुलों में जन्म लेना पड़ेगा। भले ही आप निन्दा करो, साधुओं का कुछ बिगड़नेवाला नहीं है। वे तो दूसरे गाँव चले जायेंगे। देश बड़ा विशाल है।

माता–पिता को वंदना करें :

संध्याकालीन धर्मआराधना में पहली आराधना है जिनचैत्य में पूजा एवं चैत्यवंदन। दूसरी बात है साधुवंदना और तीसरी बात है माता–पिता को वंदना।

यदि आपके माता–पिता हैं, आपके साथ रहते हैं, तो संध्या के समय उनके चरणों में वंदना करें। 'त्रि संध्यं नमन क्रिया' दिन में तीन संध्या होती हैं, तीनों समय माता–पिता को नमन करना है। शायद नहीं करते होंगे। आप माता–पिता है, तो आपके बच्चे आपको त्रिकाल नमन करते हैं क्या ? नहीं न ? घर में यह परंपरा चली आयी होती तो करते। आपने परंपरा चालू नहीं रखी न ? लेकिन, एक बात कहुँगा, आप बुरा नहीं मानना। आप लोगों का वैसा पवित्र और परोपकारी जीवन है क्या, कि जिससे आपके बच्चों के मन में आपके प्रति स्नेहभाव रहे ? सहजरूप से उनका मस्तक आपके उत्संग में ढल जाय ? पूज्य एवं वंदनीय बनने के लिए कुछ त्याग करना पड़ता है, कुछ संयम रखना पड़ता

है । जीवनपद्धति में बहुत परिवर्तन करना पड़ेगा ।

'सेल्फ' (मई ८९ में न्यूयोर्क से प्रकाशित) पुस्तक के लेखक डेनिस ग्राडी ने लिखा है : मेरे पिता भी पियक्कड़ थे । चुस्त शालीन हँसमुख व्यक्ति थे । उन्होंने मदिरापान करके अपनी जिंदगी बरबाद कर ली । उनका नशा करना और मेरी माँ का बिफरना, मेरे बचपन के विशिष्ट यथार्थ रहे हैं । मेरे जीवन का एक अत्यंत दुःखद पहलू रहा है – अपने माता–पिता को लेकर संताप और वितृष्णा की भावना । मैं इस बात से इनकार नहीं करता कि 'पियक्कड़ माँ–बाप का होना विप्लवकारी होता है । उनका शराबी होना उनके आत्माभिमान को नष्ट कर, उनके जीवन में सदा के लिए निराशा की भावना भर देता है ।'

लेखक ने इसी किताब में अन्यत्र लिखा है : 'मैं यह अनुभव करने लगा हूँ कि एक बच्चे का विश्वास और आदर कितना कोमल और प्रिय हो सकता है । और मैं यह भी जानता हूँ कि मेरे प्रति मेरे बच्चों की यह भावना नष्ट हो गई तो वह स्थिति मेरे लिए कितनी दारुण होगी ।'

माता–पिता पूज्य कैसे बनें :

आपने डेनिस गार्डी, जो कि अमेरिकन लेखक है, उसकी बात सुनी है न ? यदि माता–पिता को पूज्य बनना है, वंदनीय एवं सम्माननीय बनना है तो उनको सर्वप्रथम व्यसनों से मुक्त होना पड़ेगा ।

१. शराब का त्याग करना होगा ।
२. जुआ खेलना बंद करना होगा ।
३. पिता को परस्त्री का एवं माता को परपुरुष का त्याग करना होगा ।
४. क्लबों में जाना और वहाँ नाचना बंद करना होगा ।
५. माता–पिता को परस्पर लड़ना–झगड़ना नहीं होगा ।
६. वाणी सौम्य, मधुर एवं संयमी बनानी होगी ।
७. बच्चों के साथ अच्छा व्यवहार करना होगा ।
८. बच्चों की गलतियों को बार–बार दोहराना नहीं ।
९. बच्चों की आवश्यकताएँ पहले पूर्ण करना ।

यदि आपको बच्चों से आदर, प्रेम, स्नेह पाना है, तो इन नौ बातों का पालन करना ही होगा । 'सभी बातों से बढ़कर बच्चों का प्रेम है,' यह बात आपके मन में दृढ़ होनी चाहिए । आपको आपका व्यक्तित्व महान् बनाना पड़ेगा, अथवा ज्यादा से ज्यादा बुराइयों का त्याग करना होगा, तभी आप बच्चों की दृष्टि में पूज्य बन सकोगे ।

बच्चों के साथ सद्व्यवहार करें :

बच्चों को जन्म देने मात्र से आप पूज्य–वंदनीय नहीं बन सकोगे। आपको उनके साथ अच्छा व्यवहार करना होगा। पहली बात तो यह है कि आप बच्चों को बात–बात में, छोटी–सी भूल में मारो नहीं। उनको गालियाँ मत सुनाया करो। बात–बात में उनके ऊपर क्रोध नहीं करें।

एक माता अपनी एक अविवाहिता १७ साल की लड़की को रोजाना अनेक बार कटु शब्द सुनाती थी, क्रोध करती थी.... कभी–कभी मारती भी थी। दो साल तक लड़की सहन करती रही। उसके पिता का स्वर्गवास हो गया था। लड़की बड़ी परेशान हो गई थी। ज्यादा समय वह, घर से बाहर रहने लगी। पड़ोसी के लड़के से प्रेम हो गया था। माता को, भाई को किसी को खयाल नहीं आने दिया। एक दिन दोनों ने शादी कर ली। लड़की ने कहा : 'माँ का बहुत त्रास था, छूट गई। उस लड़के से मेरा आकर्षण था, परंतु मैंने शादी की माँ के त्रास से छूटने के लिए।' बाद में माँ को बहुत दुःख हुआ.... परंतु क्या कर सकती थी ? वह अपना स्वभाव बदलने तैयार नहीं थी।

लड़की चली गई, लड़के की शादी कर दी। पुत्रवधू घर में आयी। थोड़े दिन गये, पुत्रवधू के साथ झगड़ना शुरू किया। साथ साथ पुत्र के साथ भी झगड़ना शुरू किया। परिणाम क्या आया होगा, आप कल्पना कर सकते हो। पुत्र और पुत्रवधू दोनों अलग हो गये। अब घर में अकेली वह वृद्धा रह गई। लड़का और लड़की होते हुए भी वह अनाथ सी बन गई। ऐसी माँ क्या बच्चों के लिए वंदनीय–पूजनीय बन सकती है क्या ? ऐसी माता कहे कि 'मेरे बच्चे मेरा कहा नहीं मानते हैं,' तो इसका क्या उपाय हो सकता है ? जब तक माता–पिता स्वयं अपना चरित्र अच्छा नहीं बनाते हैं, तब तक वे पूज्य नहीं बन सकते हैं। जब तक वे अपना व्यवहार अच्छा नहीं बनाते हैं तब तक वंदनीय नहीं बन सकते हैं।

माता–पिता के प्रति :

जिस प्रकार माता–पिताओं को अपने जीवन के दायित्वों को निभाना है, उस प्रकार बच्चों को भी अपने कर्तव्यों का पालन करना ही है। बच्चे यदि चाहें कि उनके माता–पिता में एक भी दोष नहीं होना चाहिए, तो वे गलत विचार में है। संसार में कोई भी मनुष्य, सिवाय सर्वज्ञ–वीतराग, पूर्णतया दोषरहित नहीं होता है। माता–पिता के दोष देख कर, उनके प्रति द्वेष नहीं करें। क्षमा

करें और उनके प्रति सद्भाव बनाये रखें। उनके जो भी तुम्हारे पर उपकार हुए हैं, वे उपकार ही स्मृति में लायें।

मैं आपसे पूछता हूँ कि आप जब माता-पिता बनोगे तब सर्वगुण संपन्न होंगे? आपके बच्चे अपेक्षा रखेंगे कि 'हमारे माता-पिता ऐसे-ऐसे होने चाहिए,' क्या आप उनकी सभी अपेक्षाएँ पूर्ण कर सकोगे? आपके बच्चे आपसे प्रेम नहीं करेंगे, आदर नहीं करेंगे, तो आपको दुःख नहीं लगेगा क्या?

एक लड़का आया मेरे पास। कुछ व्यसनों में वह फँसा था। मैंने उसको कहा :

'तेरे में इतनी सारी बुराइयाँ कैसे आ गई?'

उसने फट् से उत्तर दिया : 'मेरे पिता की वजह से।' उसने सारे दोष उसके पिता पर थोप दिये। मैंने कहा :

'मैं जानता हूँ तेरे पिता को, उनके व्यसनों का मुझे खयाल है, वैसे उनके गुणों को भी मैं जानता हूँ। तूने उनके गुणों का अनुसरण क्यों नहीं किया? उसमें परोपकार का बहुत बड़ा गुण है न? तू परोपकारी बना क्या? नहीं, उसमें उदारता का गुण है न? तू उदार बना क्या?

उसमें परिमित-भाषिता का गुण है न? तू परिमित-भाषी बना क्या?

- तूने जुआ खेलना शुरू किया, क्योंकि तेरा पिता जुआ खेलता है।
- तूने शराब पीना शुरू किया, क्योंकि तेरा पिता शराब पीता है।

'तूने दोष एवं व्यसनों का अनुकरण किया, क्या तेरे पिता ने तुझे कहा था कि तू शराब पीना? तू जुआ खेलना?'

लड़के ने कहा : 'वैसे तो वे कभी-कभी अपने व्यसन के दुष्परिणाम मुझे बताते हैं। कभी-कभी उनकी आँखें भर आती हैं। वे जुआ और शराब अच्छा नहीं मानते हैं।'

मैंने कहा : 'यह बात सामान्य नहीं है, बड़ी बात है अपने दोषों का पश्चात्ताप करना, दोषों को बुरे मानना... बड़ी बात है। व्यसनों के दुष्परिणामों को सुनकर तुझे उन व्यसनों से दूर रहना था, लेकिन तू दूर नहीं रहा.... व्यसनो में तू फँस गया। तेरे पिताजी को इस बात का गहरा दुःख है। मेरे पास उन्होंने वह दुःख प्रगट किया है।'

गुण देखने से प्रेम होगा :

काम सरल नहीं है। प्रत्यक्ष दोष देखने पर भी मन में दुर्भावना नहीं आना, मुश्किल काम है। परंतु उपकारी के दोषों को महत्त्व नहीं देना। उसकी चर्चा

नहीं करना, निंदा करना । उनके विषय में गंभीर बनना ।

सभा में से : जहाँ हमारा स्वार्थ होता है, वहाँ हम दोषों की उपेक्षा करते ही हैं । जहाँ हमारा स्वार्थ नहीं रहता है, वहाँ दोषों को महत्त्व देते हैं ।

महाराजश्री : जब तक माता–पिता को आश्रित होते हैं बच्चे, तब तक वे माता–पिता के दोषों की चर्चा नहीं करते हैं, परंतु उनके हृदय में दोष आ जाते हैं । जब स्वयं कमाने लगते हैं तब दोष–कथन की बात शुरू हो जाती है ।

एक लड़के को, जो कि मेरा परिचित था, मैंने पूछा : 'क्या माता–पिता के चरणों में प्रणाम करता है प्रतिदिन ?'

उसने कहा : 'S.S.C. में आया तब तक करता था प्रणाम, बाद में छूट गया है...'

मैंने पूछा : 'क्यों ?'

उसने कहा : 'प्रणाम करने में संकोच होता है ।'

मैंने कहा : 'पैसे मांगने में संकोच नहीं होता ?'

वह मौन रहा । जो माता–पिता अच्छे वस्त्र देते हैं, पढ़ाने में हजारो रुपये खर्च करते हैं, बीमार होने पर जो सेवा करते हैं... समय पर भोजन देते हैं, और हर संभव पुत्र की इच्छाएँ पूर्ण करते हैं, उनको प्रणाम करने में उस लड़के को संकोच होता था ।

मैंने कहा : 'ठीक है, काम करने में, नमन करने में, चरणस्पर्श करने में तुझे संकोच होता है, लेकिन माता–पिता के साथ झगड़ा तो नहीं करता है न ? उनका अपमान तो नहीं करता है न ? उनके दिल को दुःख तो नहीं पहुँचाता है न ?'

उत्तर नहीं दिया, परंतु उसकी आँखों में आँसू भर आये । उसने मेरे उत्संग में सर रख दिया और रोने लगा । मैं उसके सर पर हाथ फेरता रहा । थोड़ी देर के बाद जब वह स्वस्थ हुआ, उसने कहा : 'आज से आपके कहे अनुसार मेरा जीवन बनाऊँगा । मैंने मेरी माँ को बहुत कष्ट दिया है.... अब उसको भी ज्यादा प्रेम दूँगा । आपको प्रोमीस देता हूँ ।'

'दुष्प्रतिकारौ माता–पितरौ...' माता–पिता के उपकारों का बदला चुकाया नहीं जा सकता है । इसलिए सुबह–दोपहर एवं शाम को उनको नमन करना ही चाहिए । उनके साथ सुचारु व्यवहार करना चाहिए । उनके हृदय को दुःख नहीं पहुँचाना चाहिए ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

प्रवचन : ५७

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक धर्म का निरूपण करते हैं। उन्होंने संध्याकालीन तीन प्रकार की धर्मआराधना बतायी : पूजा के साथ चैत्यवंदन, साधुवंदना और माता-पिता को वंदना। इतनी धर्मआराधना बताने के बाद उन्होंने कहा है :

साधुविश्रामणा-क्रिया ।। ८४ ।।

जब आप साधु-मुनिराज को वंदन करने जायं, वहाँ साधुपुरुषों को, दिनपर्यंत स्वाध्याय-ध्यान वगैरह निर्वाधसाधक योगों की आराधना करने से श्रमित देखें तो उनकी विश्रामणा करनी चाहिए। इस विषय में कुछ विशिष्ट बातें आज मुझे कहनी हैं, इसके पूर्व एक महत्त्व की बात जिनचैत्य में करने की कहना है। वह बात है आरती उतारने की और मंगलदीप करने की।

जिनचैत्य में सामुदायिक आरती करें :

चाहे गृहचैत्य हो या संघचैत्य हो, संध्या समय आप दर्शन करने जाते हो न ? संध्याकालीन पूजा करने की क्रिया, आजकल नहीं हो रही है। शायद आप लोग भूल गये हैं। परंतु कुछ लोग दर्शन करने जाते हैं। आप दर्शन-चैत्यवंदन कर, परमात्मा की आरती उतारें। आरती में आस-पास रहनेवाले लोगों को सामुदायिक रूप से आरती उतारनी चाहिए। लयबद्ध घंटनाद होता हो और सभी लोग एक राग में आरती बोलते हो..... तो एक अद्‌भुत वातावरण पैदा होता है।

ऐसे कुछ गाँवों में हम संध्या के समय पहुँचे हैं, और कोई मंदिर के सामने ही हमें रात्रिनिवास करने की जगह मिली हैं, वहाँ हमने दो-तीन गाँवों में.... मंदिर में सामुदायिक आरती का दृश्य देखा है। मैं तो अपने दूसरे काम छोड़ कर आरती सुनता रहा। वहाँ मंदिर में बच्चे थे, महिलाएँ थी और बड़े पुरुष भी थे। २०/२५ लोग होंगे। उन लोगोंने संस्कृत के चार-पाँच श्लोक बोले..... आरती गायी और उतारी... लेकिन सब शास्त्रीय राग में.... लय में और तालबद्ध।

आप लोग अपने जिनचैत्य में कैसे आरती उतारते हो ? मंदिर का पूजारी होता है और एक-दो पुरुष अथवा एक-दो महिला होती हैं... जल्दी जल्दी आरती उतार देते हैं, मंगल दीप भी कर लेते हैं। आसपास १०/१५ घर जैन के होने

पर भी, पुरुष दुकानों में होते हैं और महिलाएँ गृहकार्य में व्यस्त रहती हैं। आरती में नहीं जाते।

इसका कारण मुझे अज्ञान ही मालुम होता है। आरती उतारने की क्रिया का महत्त्व और प्रभाव नहीं समझते हैं। संध्याकालीन आरती उतारने से मन की अरति–अशांति दूर हो जाती है, यह बात आप जानते हैं क्या ? हाँ, आरती उतारने वालों की अरति....क्लेश... संताप दूर हो जाते हैं। देव की आरती में दीया और धूप अवश्य होने चाहिए। कर्पूर की सुगंध होनी चाहिए।

अशान्ति दूर करने, दूसरे स्थानों में भटकने की जरूरत नहीं है, शान्ति और प्रसन्नता बाजार में नहीं मिलती है, मंदिर में मिलती है। मंदिर में आप संध्या के समय जाया करें। वहाँ शान्ति से बैठ कर परमात्मा का ध्यान करें। परमात्मा की स्तुति–प्रार्थना करें। चैत्यवंदन करें, फल–नैवेद्य समर्पित करें.... अक्षत से स्वस्तिक रचें। यदि आता हो तो नंद्यावर्त–स्वस्तिक की रचना करें। आरती करें..... मंगलदीप भी करें।

यदि आप संध्या के समय कुछ टाइम निकाल कर इस प्रकार मंदिर में जा कर भक्तियोग की आराधना करें तो आप बहुत कुछ पायेंगे। सबसे श्रेष्ठ होती है परमात्म–कृपा। आप परमात्म–कृपा के पात्र बन जाओगे। क्या पता, कब आपके ऊपर परमात्म–कृपा अवतरित हो। आप धन्य बन जाओगे। जीवन में श्रेष्ठ उपलब्धि हो जायेगी। बात आपके हृदय में जँचनी चाहिए।

साधुपुरुषों की विश्रामणा करें :

आज मुझे जिस सूत्र पर विवेचन–प्रवचन करना है, वह है साधुविश्रामणा का सूत्र। सूत्र की टीका में आचार्यदेव ने लिखा है कि, ज्ञानी–ध्यानी और तपस्वी साधु के साथ यदि दूसरा विश्रामक–सेवा करनेवाला साधु नहीं हो तो आपको उचित समय में जाकर उनकी सेवा करनी चाहिए। सेवा मात्र पैर दबाने से नहीं होती है। यदि साधु ज्यादा चल कर आये हो तो पैर भी दबायें, परंतु रोजाना नहीं। वैसे तो सेवा करने का कर्तव्य साधु का ही होता है। परंतु सेवा एक कला है, शरीर का श्रम दूर हो, शरीर में स्फूर्ति आये, उस प्रकार सेवा करनी चाहिए। यदि साधु सेवा करनेवाले हों तो आपको सेवा नहीं करने की है। आपको केवल चरणस्पर्श करने का होता है।

शरीर और संघयण :

६ प्रकार के 'संघयण' (संघातन) शास्त्रों में बताये गए हैं। उनमें छट्ठा संघयण

है 'सेवार्त' संघयण । प्राकृत भाषा में उसको 'छेवट्ठा' संघयण कहते हैं । अपने शरीर का यह 'सेवार्त' संघयण है । इस काल में सभी मनुष्यों का यही संघयण होता है । संघयण का शरीर की हड्डियों की जोड़ से संबंध होता है । हड्डियों के संधि स्थान की मजबूती या कमजोरी का आधार 'संघयण' होता है । 'सेवार्त' संघयण बहुत कमजोर होता है । इस संघयण वालों की हड्डियाँ परस्पर मात्र जुड़ी हुई होती हैं । थोड़ा–सा धक्का लगने पर जोड़ टूट जाता है ।

सार्थक नाम है अपने संघयण का ! सेवार्त ! सेवा + आर्त = सेवार्त । शरीर की सेवा करने से उसकी आर्तता दूर होती है । स्नान, मालिश–मर्दन करते रहो शरीर का.... तभी वह काम देगा । प्रकृति के अनुसार भोजन–पानी दोगे तो वह काम करेगा ! अन्यथा रुक जायेंगा । पैर दुःखेंगे, हाथ दुःखेंगे, सर में दर्द होगा, पीठ में दर्द होगा, दांतों में दर्द होगा । जैसे जैसे हड्डियाँ कमजोर होती जायेंगी..... शरीर ढीला पड़ता जायेगा । उसकी सेवा करनी ही पड़ेगी । स्वयं सेवा करें या दूसरों से करवायें ।

संसारी हो या साधु, शरीर के गुणधर्म तो वे ही रहेंगे । साधुओं को भी 'सेवार्त' संघयण ही होता है ।

साधु का संघयण भी सेवार्त ! :

इस वजह से साधु को भी शरीर की सेवा करनी पड़ती है । कुछ शारीरिक तकलीफों में साधु स्वयं अपने शरीर की सेवा कर ले, परंतु कुछ दर्दों में दूसरों की सेवा आवश्यक बन जाती है ।

- अति त्रासदायक सरदर्द हो जाने पर,
- पृष्ठ भाग (पीठ) में दर्द हो जाने पर,
- बहुत बुखार आ जाने पर,
- केन्सर वगैरह जानलेवा बीमारी होने पर,
- पैरों में अति दर्द होने पर,
- आँखों में ज्यादा दर्द होने पर.....

साधुओं व साध्वीयों को दूसरों की सेवा लेनी पड़ती है ।

सभा में से : साधु तो रोग सहन करनेवाले होते हैं न ?

महाराजश्री : सभी नहीं, बहुत कम साधु समताभाव से रोग सहन करते हैं । उनमें दृढ़ सहनशीलता होती है । वे किसी की सेवा नहीं लेते, दवा भी नहीं

लेते । परंतु ज्यादातर साधु–साध्वी समताभाव से रोग सहन नहीं कर सकते । यदि सहन करते हैं तो उनसे ज्ञान–ध्यान नहीं होता है, संयम जीवन की कुछ दैनिक क्रियाएँ नहीं हो पाती हैं । इसलिए उनको दूसरों की सेवा लेनी पड़ती है ।

– कितनी सेवा लेना,

– किसकी सेवा लेना,

– किस समय सेवा लेना.....

वगैरह बातें व्यक्तिगत और विवेक पर निर्भर होती हैं । वैसे सेवा करनेवालों को भी विवेक से सेवा करने की होती है । जिनमें विवेक नहीं होता है वे सेवा तो करते हैं परंतु कुसेवा करते हैं ।

– दुःखता है पेट, दबाते हैं पैर ।

– दुःखते हैं पैर, दबाते हैं सर ।

– दुःखता है सर, दवाई लाते हैं पेट की ।

'विश्रामणा विवेक से करनी चाहिए । उचित ढंग से विश्रामणा करनी चाहिए ।' ताकि साधु को विश्राम मिले । थका हुआ शरीर कुछ आराम महसूस करें ।

विश्रामणा में विवेक आवश्यक :

गुजरात के नगर में हमारा चातुर्मास था । राजस्थान से ४/५ महानुभाव वंदन करने आये थे । रात्रि का समय था । मेरी पीठ में थोड़ा सा दर्द था । उन राजस्थानी भाइयों में से एक भाई ने मेरी पीठ दबाना शुरू किया । आधे घंटे तक वे पीठ को दबाते रहे, मलते रहे । बाद में मुझे नींद लग गई । सुबह जब मैं उठा तो मेरी पीठ में जलन हो रही थी । मेरे साधुओं को मैंने कहा : मेरी पीठ में जलन हो रही है..... जरा देखो तो उधर । साधुओं ने देखा और चिल्ला कर बोले.... 'अरे..... पीछे तो चमड़ी ही उतर गई है । जगह जगह चमड़ी छील गई है । यह कैसे हुआ ?'

मैंने कहा : 'कल रात, उस महानुभाव ने मेरी विश्रामणा की थी..... ठीक है, अंधेरे में उनको खयाल नहीं आया, उनके हाथ भी खुरदरे थे । चमड़ी छील गई..... खैर, उस महानुभाव को कहना मत, अन्यथा उनको दुःख होगा । उसने तो भक्तिभाव से विश्रामणा की थी..... भाव निर्मल थे ।'

भाव उसके निर्मल थे, परंतु विवेक नहीं था । विचार नहीं था ।

ऐसी ही एक घटना मेरे परिचित मुनिराज ने मुझे बतायी थी । उन्होंने

कहा : "एक दिन हम २५ किलोमीटर चले। बहुत थक गये थे। हम तीनों साधु थक गये थे। कौन किसकी सेवा करे। इतने में गाँव का एक भक्त श्रावक आया, 'मत्थएण वंदामि' बोला और मेरे पैरों पर टूट पड़ा। जोर जोर से दबाने लगा। मैंने उसको दो–तीन बार कहा कि 'धीरे से दबाया करो....' परंतु सुनता कौन था ? थोड़ी देर के बाद 'कटाक्' सी आवाज आयी। मेरा एक पैर टूट गया था। मेरे मुँह से चीख निकल गयी, मैंने मेरे पैर उस जड़ भक्त से छुड़वा लिये.... डॉक्टर को बुलवाकर पट्टी बँधवा ली। तब से मैंने किसी भी गृहस्थ से, अपरिचित गृहस्थ से पैर दबवाना बंद कर दिया है।"

इसको कहते हैं अविवेक। विश्रामणा करनेवाला विवेकी चाहिए। अब एक अति दुःखद घटना सुनाता हूँ।

एक गाँव में एक अकेले मुनिराज गये। संयोगवश अकेले हो गये थे। अच्छे संयमी थे, तपस्वी थे। वर्ष में नौ महीने आयंबिल करते थे। अचानक उनको बुखार आ गया। वे सो गये। उन्होंने उस दिन उपवास कर दिया। भिक्षा लेने जा नहीं सकते थे। और, अकेले थे इसलिए श्रावक लोग वंदन करने आये नहीं थे। 'अकेले साधु को वंदन नहीं करना चाहिए', ऐसा उन लोगों का दृढ़ निर्णय था। एक प्रकार की जड़ता थी उनकी।

सभा में से : तो क्या अकेले साधु को वंदना करनी चाहिए ?

महाराजश्री : वंदना मत करो, सेवा तो कर सकते हो न ? साधु नहीं, श्रावक नहीं, मनुष्य नहीं, पशु–पक्षी भी बीमार हो तो उनकी सेवा करने का उपदेश तीर्थंकरों ने दिया है। साधु अकेला हो, परंतु बीमार हो तो दूसरे साधु भी उनकी सेवा करे। दूसरे सभी काम छोड़कर बीमार साधु की सेवा करने की है। कोई भी गच्छ हो..... कोई भी समुदाय हो।

उस गाँव में हम गये। वे मुनिराज उपाश्रय के नीचे के भाग में सोये थे, हम ऊपर ठहरे थे। मुझे मालुम हुआ कि नीचे एक मुनिराज ठहरे हुए हैं। मैं उनके पास गया। मुझे देखकर वे उठे..... दो हाथ जोड़कर प्रणाम किये, मुझे बैठने के लिए आसन दिया। उनकी आँखें लाल थी, शरीर शिथिल था..... मैंने उनका हाथ मेरे हाथ में लिया..... तेज बुखार था। मैंने कहा : 'अरे, आपको तो तेज बुखार है..... कितने दिनों से है ? दवा ली या नहीं ?'

उन्होंने सिर हिलाकर ना कहा। मैंने तुरंत ही एक श्रावक, जो वंदन करने आया था, उसको डॉक्टर बुलाकर लाने को कहा। डॉक्टर आये। दवा दी और

कहा : 'तीन दिन संपूर्ण आराम करना होगा।' डॉक्टर चले गये। मैंने उनको आयंबिल का पारणा करवा दिया और दवा दी। मैंने मेरे साधुओं को उन बीमार मुनि की देखभाल करने की सूचना दी। उस दिन तो मैंने जान-बुझकर उनसे बात नहीं की। दूसरे दिन उनका बुखार उतर गया था। अशक्ति ज्यादा थी। हम उस गाँव में तीन दिन रुक गये थे। दूसरे दिन मैंने उस साधु से बात की। उनकी उम्र ६० साल से कम नहीं होगी। बड़े आत्मार्थी थे। परंतु संयोग एवं परिस्थिति कभी कभी मनुष्य को विवश कर देती है।

मैंने उस गाँव के श्रावक-श्राविकाओं को प्रवचन के दौरान् उचित मार्गदर्शन दिया। साधु बीमार हो जाने पर, एक हो या अनेक हो, उसकी सेवा करने को शास्त्र में कहा गया है।

ज्यादा अपवाद बीमार के लिए :

इस प्रस्तुत विषय में हमारे आगम ग्रंथों में क्या कहा गया है, शास्त्राज्ञा क्या है, वह भी बता देता हूँ। हमारे कुछ आगमग्रंथ हैं उत्सर्ग मार्ग के, और कुछ आगमग्रंथ हैं अपवाद मार्ग के। 'आचारांग', 'सूत्रकृतांग'.... वगैरह आगम उत्सर्ग मार्ग के हैं, निशीथ, बृहत्कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र वगैरह आगम अपवाद मार्ग के हैं। मोक्षमार्ग में जितना महत्त्व उत्सर्ग-मूल नियमों का है, उतना ही महत्त्व अपवाद के नियमों का है। उत्सर्ग मार्ग पर चलनेवाला जिस प्रकार आराधक होता है, वैसे अपवाद मार्ग पर चलनेवाला भी आराधक होता है। अपवाद मार्ग का आलंबन गुरुदेव की आज्ञा से लेने का है। ज्ञानी पुरुष, अपवाद मार्ग का आलंबन लेते समय, शिष्यों को अपवाद बताते समय इतनी बातों का ध्यान रखते हैं -

- **देश** : किस देश-प्रदेश में साधु-साध्वी रहे हुए हैं,
- **काल** : कौन-सा समय है, भय का है या निर्भयता का है,
- **व्यक्ति** : बड़ी उम्र के हैं, मध्यम उम्र के हैं या छोटी उम्र के हैं....
- **अवस्था** : निरोगी अवस्था है या रुग्णावस्था है,
- **उपयोग** : मन के भाव शास्त्रसापेक्ष हैं या निरपेक्ष हैं,

यानी अपवाद मार्ग ग्रहण करने में पुष्ट आलंबन होना चाहिए, और मन में विचारशुद्धि रहनी चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण बात है।

बीमार पड़े हुए साधु-साध्वी के लिए, साधुजीवन के नियमों में बहुत अपवाद बताए गये हैं, उनमें से एक अपवाद बताता हूँ :

एक साधु को, आचार्य ने अपने विशिष्ट कार्य के लिए बाहर गाँव भेजा। साधु जाता है। रास्ते में एक गाँव आता है, गाँव के बाहर दो-चार पुरुष मार्ग के पास ही खड़े हैं। उन्होंने साधु को देखा। वे साधु के पास जाते हैं और कहते हैं : 'महाराज, इस गाँव में आपके ही धर्म के एक साधु रहे हुए हैं, वे बीमार हो गये हैं, उनकी सेवा करनेवाला दूसरा साधु है नहीं..... हम लोग जैन साधु के आचार-विचार जानते नहीं हैं, इसलिए हम आपसे विनंति करते हैं कि उस बीमार साधु की सेवा करने के लिए गाँव में पधारें।' उस समय साधु विचारता है : 'मैं गुरुदेव का कार्य करने जा रहा हूँ, परंतु उस कार्य से यह कार्य महत्तर है, यह कार्य जिनाज्ञा है। मुझे पहले उस बीमार साधु की सेवा का कार्य करना चाहिए। उसके मन को समाधि प्रदान करनी चाहिए। जब तक वह रुग्ण साधु चाहेगा तब तक मैं उसके पास रहूँगा, वह प्रेम से जब इजाजत देगा, तभी मैं आगे विहार करूँगा।' वह साधु गाँव में जाता है और उस बीमार साधु को अपना परिचय देकर, उसकी सेवा में लग जाता है।

आम प्रजा के मन का समाधान आवश्यक :

वे गृहस्थ, जिन्होंने विनंति की थी, वे बहुत प्रसन्न होते हैं और सोचते हैं : 'यह धर्म कितना अच्छा है। अनजान साधु ने भी अपनी बात मान ली और सेवा करने आ गये। बहुत अच्छे हैं साधुपुरुष !' बस, यह होना आवश्यक है। लोग धर्म की और धर्मगुरु की प्रशंसा करनेवाले बनने चाहिए। साधु बीमार साधु को देखता है, उसे लगता है कि 'यह साधु जीवन के पालन में ढीला है, अकेला है....' तो भी बड़े प्रेम से उसकी सेवा करता है।

– सर्व प्रथम गंदे वस्त्र हटाकर, साफ-सुथरे वस्त्र पहनाता है और अच्छा संस्तारक बिछाकर सुलाता है।

– बीमार के गंदे हाथ-पैरों को पानी से धो डालता है।

– उपाश्रय को स्वच्छ कर देता है।

– बीमार साधु को कहता है : 'आप अब चिंता नहीं करें, जब तक आप अच्छे नहीं होंगे, तब तक मैं आपकी सेवा करता रहूँगा। आप आज्ञा देंगे, तब यहाँ से जाऊँगा।' बीमार साधु के मन में संतोष भर जाता है।

– बीमार साधु के लिए दवा की एवं अनुपान की व्यवस्था करता है। आवश्यकता लगने पर वैद या डॉक्टर को बुलाकर लाता है।

– यह सब बातें गृहस्थ लोग देखते हैं और उनके हृदय में आदरभाव जाग्रत होता है ।

– साधु, बीमार साधु को न उसका परिचय पूछता है, ना उपदेश देता है । वह बस, सेवा करता जाता है और साधुजीवन के क्रिया–कलाप स्वयं करता है और प्रेम से बीमार साधु को करवाता है । यदि बीमार साधु की इच्छा न हो क्रिया करने की, तो उसको आग्रह नहीं करता है, आक्रोश नहीं करता है । वह स्वयं अपनी क्रिया कर लेता है ।

जब उस बीमार साधु को अच्छा होता है, तब उनसे कहता है : 'अब आप स्वस्थ हैं, आपका काम आप कर सकते हैं, यदि आज्ञा दो तो मैं यहाँ से जाऊँ, मुझे मेरे गुरुदेव के काम के लिए जाना है ।' यदि वह साधु कहें कि : 'आपने मेरी बहुत सेवा की, आपका उपकार मैं कभी नहीं भूल सकता, आपने गुरुदेव का काम छोड़कर, मेरे जैसे.... संयम शिथिल साधु की सेवा की... प्रेम से मुझे संभाला.... ' तो उस समय साधु उसको संयमधर्म में स्थिर करनेवाला अल्प उपदेश देता है । वह साधु उपदेश ग्रहण भी करता है और किसी साधुसमुदाय में प्रवेश पा लेता है ।

बीमारी में अकल्प्य वस्तु भी कल्प्य बन जाती है । स्वस्थ शरीर होने पर, कल्प्य का भी त्याग कर देता है साधु । चाहिए उत्सर्ग–अपवाद का ज्ञान ।

श्रावक भी उत्सर्ग–अपवाद के ज्ञाता बनें :

आप लोग हमारे आधार हो । **'लोकः खलु आधारः सर्वेषां ब्रह्मचारिणाम्।'** सभी साधुओं के आधार आप लोग हैं, अवसर आने पर साधुओं की विश्रामणा, सेवा, वगैरह आपको करना पड़ता है । यदि आपको हमारे साधु जीवन के नियमों का ज्ञान होगा तो आप अच्छी सेवा कर सकेंगे । इसलिए ज्ञानी–संयमी किसी मुनिराज से आप ज्ञान प्राप्त करें । उत्सर्ग–अपवादों का ज्ञान प्राप्त करें ।

– कल्प्य पदार्थ सदैव कल्प्य नहीं बनते,

– अकल्प्य पदार्थ सदैव अकल्प्य नहीं बनते ।

मैंने आपको पहले ही कह दिया कि देश, काल, पुरुष, अवस्था एवं उपयोगशुद्धि के आधार पर कल्प्य–अकल्प्य का निर्णय किया जाता है । जो श्रावक–श्राविकाएँ यह बात नहीं जानते हैं, वे किसी नियम को जड़ता के साथ पकड़ लेते हैं । परिणाम स्वरूप साधु–साध्वी को परेशान होना पड़ता है । साधु–

साध्वी को भी चाहिए कि गृहस्थ स्त्री–पुरुषों के सामने कल्प्याकल्प्य का एकान्ततः प्रतिपादन नहीं करें। 'यह वस्तु साधु को कल्पती ही नहीं है, साधु–साध्वी को इसका उपयोग नहीं करना चाहिए।' ऐसा नहीं बोलना चाहिए, परंतु कहना चाहिए कि : 'हम लोग इस वस्तु का उपयोग नहीं करते हैं..... हमारे आचार्य की यह परंपरा नहीं है।'

गृहस्थ कहें कि 'वे साधु महाराज या साध्वीजी तो इस वस्तु को ग्रहण करते हैं....'

आप कहें कि – 'वे करते होंगे, उनके आचार्य की वैसी परंपरा होगी।'

जो श्रावक–श्राविका, हमारे साधु–साध्वी के नियम एवं अपवादों के ज्ञाता होते हैं, वे हमारी संयम–आराधना में सहायक बन सकते हैं। अन्यथा वे असंयम में भी सहायक बन जाते हैं। साधु–साध्वी को किस समय.... कैसी स्थिति में..... कितने प्रमाण में आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, पुस्तक इत्यादि देना, इस विषय का ज्ञान होना चाहिए।

साधुपुरुषों का कर्तव्य :

साधु–साध्वी को भी शास्त्रीय ज्ञान होना चाहिए। उनको शास्त्रों का अध्ययन अच्छी तरह करना चाहिए। कम से कम, साध्वाचारों का ज्ञान तो होना ही चाहिए। उत्सर्ग–अपवादों का ज्ञान होना चाहिए। अनुभवी, शास्त्रज्ञ ऐसे संयमी महापुरुष की सेवा करते हुए ज्ञानप्राप्ति करनी चाहिए। तभी संयम धर्म की परिणति स्थिर होती है।

यदि साथी मुनि विश्रामणा करने योग्य हो, तो गृहस्थ से विश्रामणा नहीं करानी चाहिए। यदि विश्रामणा कर सके वैसा साथी मुनि न हो तो गृहस्थ से विश्रामणा करानी चाहिए। विश्रामणा करनेवाला साधु या गृहस्थ कुशल तो होना ही चाहिए, साथ में इन्द्रियविजेता भी होना चाहिए। साधु का शरीर सुकोमल हो.... आकर्षक हो... और विश्रामणा करनेवाला इन्द्रियविजेता नहीं हो, तो कभी सजातीय आकर्षण पैदा हो सकता है। जो आगे बढ़कर सजातीय संयोग में परिणत हो जाता है। एक विकृति का प्रवेश हो जाता है जीवन में। इसलिए सावधानी से जीवन जीने का है। बिना प्रयोजन तो दूसरों से शरीर को स्पर्श भी नहीं कराना है। प्रयोजन उपस्थित होने पर सुयोग्य व्यक्ति से ही विश्रामणा करानी चाहिए।

हालाँकि बात है श्रावक की दिनचर्या की, परंतु 'साधुविश्रामणा' का विषय

होने से ये सारी बातें बता रहा हूँ, जो समझना अति आवश्यक है। इस समय, इस काल में ज्यादा सतर्क और सावधान रहना आवश्यक है।

एक कटु अनुभव :

करीबन् २५ वर्ष पूर्व की बात है।

हम लोग राजस्थान में विहार कर रहे थे। एक गाँव में संध्या के समय पहुँचे। उस गाँव में जैन परिवार नहीं था, उपाश्रय नहीं था, जिनमंदिर भी नहीं था। उस गाँव के ठाकुर की हवेली के एक भाग में हमको रात्रिवास करना था। ठाकुर ने हमारा स्वागत किया। अच्छे कमरे में ठहराया। उस दिन लंबा विहार करने से मैं ज्यादा थक गया था। प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रिया कर, संथारा बिछाकर मैं लेटा ही था कि ठाकुर आये और बोले :

'महाराज साब, आप थके हुए हैं, थोड़ी देर मैं सेवा करूँ।' और वे मेरे पास बैठ गये। हालाँकि हम पाँच साधु थे उस कमरे में, परंतु थोड़ा अंधेरा था। ठाकुर मेरे पाँव दबाने लगे। कुशलता से दबाने लगे... परंतु थोड़ी देर में मुझे लगा कि ठाकुर के हाथ पाँव के ऊपर जा रहे हैं..... मैं सतर्क हो गया। मैं बैठ गया और ठाकुर को कहा : "बस, रहने दें, अब मुझे नींद आ रही है, आपने बहुत सेवा की, अब हम सभी साधु विश्राम करेंगे।" हालाँकि ठाकुर ने बहुत आग्रह किया सेवा करने का, परंतु मैंने उनको उठाये ही। सुबह तो हमें आगे विहार करना था।

गृहस्थों से विश्रामणा कराने में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। अन्यथा सेक्सी वृत्ति भड़क सकती है। संयम को क्षति पहुँच सकती है। अति आवश्यकता पड़ने पर परिचित और सच्चरित्र व्यक्ति से ही विश्रामणा करानी चाहिए।

श्रावकों का यह कर्तव्य है कि वे श्रमित साधुपुरुष की विश्रामणा करें। बहुत बड़ा लाभ होता है विश्रामणा करने से। मोक्षमार्ग की आराधना करनेवालों की सेवा–विश्रामणा करने से 'चारित्रमोहनीय' कर्म टूटता है।

विश्रामणा करने के अनेक लाभ :

'चारित्रमोहनीय' कर्म का क्षयोपशम होने से आपके मन में सम्यग् दर्शन–ज्ञान और चारित्र का आकर्षण पैदा होता है, सद्वीर्य उल्लसित होता है और आप भी मोक्षमार्ग के पथिक बन सकते हो। यह तो हुआ आध्यात्मिक लाभ।

दूसरे भौतिक एवं दैवी लाभ भी प्राप्त होते हैं।

एक वृद्ध अनुभवी श्रावक ने मुझे कहा था – हमारे घर एक अकेले साधु आये थे। वृद्ध थे, परंतु तेजस्वी थे। मेरे घर में ही उनको ठहराये थे। हमारे गाँव में हमारा एक ही श्रावक का घर था और आज भी एक ही घर है।

उस साधु–मुनिराज को हमने भिक्षा–पानी दिया। उनके प्रति सद्भाव एवं स्नेह बताया। वे दिनभर माला फेरते रहे। हमने भी कोई विक्षेप नहीं किया। शाम को प्रतिक्रमण के बाद मैं उनकी विश्रामणा करने गया। रात को १० बजे तक सेवा करता रहा। उन्होंने मुझे कहा : 'महानुभाव, तुम्हारे घर में दो उत्तम रत्न हैं। उसका जतन करना।'

मैंने कहा : 'गुरुदेव वे कौन–से रत्न हैं ?'

उन्होंने कहा : 'एक जो सामने खड़ी है वह घोड़ी और दूसरी तुम्हारी पुत्रवधू। दो को दुःख नहीं देना। उनको अच्छी तरह संभालना। यह गाँव छोड़ना नहीं.. तुम बहुत धन–दौलत पाओगे। अब जा सकते हो, मैं विश्राम करूँगा।'

मैंने मुनिराज की आज्ञा का पालन किया। बहुत सुखी हूँ आज। भौतिक दृष्टि से और आध्यात्मिक दृष्टि से भी। यह गाँव साधु–साध्वी के विहार का गाँव है। मैंने जान–बुझकर यहाँ उपाश्रय नहीं बनाया। जो भी साधु–साध्वी आते हैं, यहाँ मेरे घर में रुकते हैं। उनकी कृपा से मेरे घर में श्री–संपत्ति का वास है, परिवार में शान्ति है, धर्म की भावना है..... और कोई बड़ा पाप घर में आया नहीं है। चार लड़के हैं, सभी निर्व्यसनी हैं; विनयी, विवेकी और बुद्धिशाली हैं.... मैं तो रोजाना एक हजार नवकार मंत्र गिनता हूँ..... शेष परिवार के लोग रोजाना १०८ नवकार मंत्र गिनते हैं।'

यह था साधु–विश्रामणा का फल।

आज भी ऐसे भावुक सेवाभावी सद्गृहस्थ जगह–जगह देखने में आते हैं। वे सुखी हैं, संतोषी हैं और निर्व्यसनी हैं। साधुओं के परिचय से इतना तो होना ही चाहिए न ?

आप लोग भी विवेक से साधु–विश्रामणा करते रहें, यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ५८

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक धर्म का निरूपण किया है। उसमें श्रावक की दिनचर्या बताते हुए उन्होंने संध्याकालीन तीन प्रकार की आराधना बतायी है और साधुपुरुषों की विश्रामणा करने को कहा है, यदि विश्रामणा करनेवाला साथी साधु नहीं हो तो।

इसके बाद ग्रंथकार ने कहा है : **तथा योगाभ्यासः ॥ ८५ ॥**

योगाभ्यास करना है :

विश्रामणा कर, घर आने के बाद उसे योगाभ्यास करने का है ! हाँ, आप लोगों को 'योगाभ्यास' करने का है ! परंतु यह योगाभ्यास यानी योगासन नहीं समझना। यह योगाभ्यास क्रियात्मक नहीं है परंतु अनुशीलन रूप है। आज मुझे आपको योग के विषय में ही प्रवचन देना है।

सर्वप्रथम मैं आपको 'योग' शब्द की परिभाषा बताता हूँ।

संस्कृत भाषा में 'युज्' धातु दो आते हैं। एक का अर्थ है जोड़ना, संयोजित करना और दूसरे का अर्थ है समाधि, मनःस्थिरता। 'योग' शब्द इस 'युज्' धातु से बना है। सामान्य रीति से योग का अर्थ संबंध करना तथा मनःस्थिरता है।

योगः सभी धर्म एवं दर्शनों में स्वीकृत :

योगविद्या ही एक ऐसी विद्या है जो प्रायः सभी धर्मों तथा दर्शनों में स्वीकृत है। यह ऐसी आध्यात्मिक साधना है जिसे कोई भी मनुष्य बिना किसी वर्ण, जाति, वर्ग या धर्म विशेष की अपेक्षा के स्वीकार कर सकता है। भारतीय धर्मों के अध्ययन से, अवलोकन से मालुम होता है कि योग–प्रणाली हजारों वर्षों से अविच्छिन्न रूप में चलती रही है। अंतिम साध्य मुक्ति है, उसका साधन है योग।

जैसे चिकित्साशास्त्र में चतुर्व्यूह के रूप में रोग, रोग का कारण, आरोग्य और उसका कारण वर्णित है वैसे ही योगशास्त्र में (योगदर्शन व्यास भाष्य में) भी चतुर्व्यूह का उल्लेख है।

१. संसार,

२. संसार का कारण,

३. मोक्ष,

४. मोक्ष का कारण ।

चिकित्साशास्त्र के समान ही, योग भी आध्यात्मिक साधना के लिए चार बातें स्वीकार करता है –

१. आध्यात्मिक दुःख,

२. उसका कारण (अज्ञान),

३. अज्ञान को दूर करने के लिए सम्यग् ज्ञान,

४. पूर्णता की प्राप्ति..... मुक्ति ।

इस प्रकार सभी आध्यात्मिक मान्यताएँ इन चारों सिद्धान्तों का स्वीकार करती हैं । भले ही विभिन्न परंपराओं में नाम–व्यवहार भिन्न–भिन्न हो । योगसाधना के अन्तर्गत अनेक प्रकार के आचार, ध्यान एवं तप का समावेश किया गया है । इन सबका लक्ष्य आत्मा का विकास ही है । आत्मविकास के लिए मनोविकारों को निर्मूल करना आवश्यक माना गया है ।

योग के आदर्श भिन्न–भिन्न :

जब 'योग' का विषय है, तो भारतीय धर्म–दर्शनों में 'योग' का स्वीकार किस ध्येय से किया गया है, वह भी बता देता हूँ ।

– उपनिषदों में योग को ब्रह्म के साथ साक्षात्कार करानेवाली क्रिया के रूप में माना गया है ।

– गीता में कर्म करने की कुशलता ही योग कहा गया है ।

– योगदर्शन में चित्तवृत्ति का निरोध योग है – ऐसा कहा गया है ।

– बौद्धदर्शन में योग को बोधिसत्व की प्राप्ति का हेतु बताया है ।

जैनदर्शन में आत्मा की शुद्धि करनेवाली क्रियाओं को योग कहा है । इस तरह, किसी न किसी प्रकार आत्मा को उत्तरोत्तर विकसित करनेवाले साधन के रूप में योग का स्वीकार किया गया है ।

अंतिम उद्देश्य मुक्ति :

भारतीय दर्शनों का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति है । नामभेद अवश्य है, भावभेद नहीं है ! इसी ग्रंथकार ने अन्य ग्रंथ में लिखा है – 'न हि नाम मात्र भेदेन भावा भिद्यन्ते ।' नामभेद से भावों में फेरफार नहीं होता है । योगदर्शन जिसको

कैवल्य कहता है, बौद्ध दर्शन जिसको निर्वाण कहता है, जैन दर्शन उसको मोक्ष कहता है। अर्थ की दृष्टि से ये शब्द समान ही हैं।

विभिन्न धर्म एवं दर्शनों के मार्ग विभिन्न होने पर भी फलितार्थ सबका एक ही है! क्योंकि चित्तवृत्तियों की एकाग्रता के बिना न मोक्षमार्ग की आराधना होती है, न आत्मलीनता सधती है! इसलिए चंचल मनोवृत्तियों को रोकना, उन पर नियंत्रण करना सभी धर्म, सभी दर्शनों का उद्देश्य रहा है।

जैन दर्शन में योग :

जैनधर्म-दर्शन में मन-वचन-काया की क्रियाओं का निरोध 'संवर' है और वही योग है।

– आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी कहते हैं : योग मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, यानी मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़नेवाला है। "योगविंशिका" में कहा गया है – **'मोक्खेण जोयणाओ जोगो।'**

– आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरिजी ने कहा है – मोक्ष के उपायरूप योग है ज्ञान-श्रद्धा और चारित्र स्वरूप। **'अभिधान चिंतामणि'** में उन्होंने यही परिभाषा दी है : **मोक्षोणयो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः।**

– उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने कहा है – आत्मा के मोक्ष के साथ जोड़नेवाला होने से योग कहा जाता है। "योगलक्षण द्वात्रिंशिका" में उन्होंने लिखा है – **'मोक्षेण योजनादेवं ह्यत्र निरूच्यते।'**

इस प्रकार जैन दर्शन में योग का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध तथा मोक्ष प्रापक धर्म-प्रवृत्ति है। 'योग' शब्द से वही क्रिया या व्यापार विवक्षित है जो मोक्ष के लिए अनुकूल हो।

योग का माहात्म्य :

योग का माहात्म्य बताते हुए आचार्यदेवश्री हरिभद्रसूरिजी ने "योगबिंदु" नाम के ग्रंथ में कहा है :

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां, योगः सिद्धेः स्वयंग्रह ॥ ३७ ॥
तथा च जन्मबीजाग्नि र्जरसोऽपि जरा परा।
दुःखानां राज्यक्ष्मायं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥ ३८ ॥
कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा।

योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥ ३९ ॥

अक्षरद्वयमप्येतच्छ्रूयमाणं विधानतः ।

गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥ ४० ॥

अब इन श्लोकों का अर्थ सुनाता हूँ, ध्यान से सुनना ।

१. यह योग, श्रेष्ठ कल्पवृक्ष है, यानी दूसरे कल्पवृक्षों से बढ़कर है । योग चिन्तामणि है, वह भी दूसरे चिन्तामणि रत्नों से अधिक प्रभावशाली है । योग, सभी धर्म के अंगों में श्रेष्ठ अंग है । और योग, सिद्धि का, मुक्ति का स्वयंग्रह है । इस श्लोक में पुनः पुनः 'योग' शब्द का उपादान किया गया है, यह योग की गति आदरणीयता का सूचक है ।

२. योग, जन्म रूपी बीज को जला डालनेवाला अग्नि है । यानी पुनर्जन्म कारणभूत जो कर्म होता है उस कर्म की शक्ति को जला देनेवाला है । और योग जरा के लिए श्रेष्ठ जरा है ! जरा यानी बुढ़ापा ! बुढ़ापा के लिए योग श्रेष्ठ बुढ़ापा है । यानी योग से यौवन ही कायम रहता है । शारीरिक एवं मानसिक, सभी दुःखों के लिए योग राजयोग जैसा है ! यानी सभी दुःखों को मिटा देनेवाला है । और मौत की भी मौत है यह योग ! मृत्यु को मिटा देनेवाला मृत्यु है यह योग !

३. मासक्षमणादि तप करनेवाले तपस्वियों को तपोभ्रष्ट करनेवाले कामदेव के कामविकारों रूप तीक्ष्ण शस्त्र (शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श) भी, जिन्होंने योग का कवच पहना है अपने चित्त पर, उन पर असर नहीं करते, उनके सामने वे कामशास्त्र भोथरे बन जाते हैं ।

४. योगसिद्ध महात्माओं ने कहा है : 'योग' ऐसे दो अक्षर सुनने मात्र से, यानी, तथाविध अर्थज्ञान नहीं होने पर भी, श्रद्धा–संवेगादि भावोल्लास के साथ सुनने से, मिथ्यात्व मोहनीय वगैरह पापकर्मों का निर्मूलन होता है । यह बात निष्पन्न योगी ऐसे जिनेश्वरों ने एवं गणधर आदि ने कही है ।

योग का कैसा यथार्थ माहात्म्य ग्रंथकार ने बताया है । 'धर्मबिन्दु' और 'योगबिन्दु' ग्रन्थ के रचयिता श्री हरिभद्रसूरिजी ही है । उन्होंने योगविषयक 'योगदृष्टि समुच्चय', 'योगविंशिका', 'षोडषक', 'योगशतक' आदि ग्रंथों की भी रचना की है ।

सालम्बन योगः निरालंबन योगः

'धर्मबिंदु' ग्रंथ के टीकाकार आचार्यश्री ने इस सूत्र की (योगाभ्यासः) की टीका

में सालंबन योग एवं निरालंबन योग का निर्देश किया है । उसमें 'षोडषक' ग्रंथ की गाथा का उद्धरण दिया है –

सालम्बनो निरालम्बश्च, योगः परो द्विधा ज्ञेयः ।
जिनस्प ध्यानं खल्वाद्यः तत् तत्त्वगस्तु अपरः ।। १३३ ।।

१. जो आलंबन सहित होता है, वह 'सालंबन' कहा जाता है । इस योग में साधक बाह्य साधनों को ध्येय मानकर ध्यान की क्रिया करता है । जो मन की एकाग्रता के लिए बहुत ही आवश्यक होता है । यहाँ बाह्य साधन, बाह्य ध्येय है जिनेश्वर परमात्मा की अवस्थाओं का ध्याय । हालाँकि यह ध्यान 'रूपस्थध्यान' में बताया गया है । 'योगशास्त्र' में कहा गया है – '**अर्हतो स्पमालम्ब्य ध्यानं स्पस्थमुच्यते ।**'

लेकिन आज मैं आपको चारों आलंबनों के विषय में कुछ बातें बताऊँगा । जो 'सालंबन योग' को समझने और प्रयोग करने के लिए आवश्यक है ।

आलम्बन के चार प्रकार इस तरह हैं : १. पिंडस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत । अब पहला पिंडस्थ आलंबन बताता हूँ –

पिंडस्थ आलंबन का ध्यान :

पिंड यानी शरीर । शरीर के विभिन्न भागों पर मन को केन्द्रित करना है । 'योगशास्त्र' में कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्दसूरिजी ने, शरीर में पाँच धारणा बनायी हैं :

पार्थिवी स्यादधाग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।
तत्त्वभूः पंचमी चेती पिण्डस्थे पंच धारणा ।। ७/९ ।।

१. पार्थिवी धारणा, २. आग्नेयी धारणा, ३. मारुती धारणा, ४. वारुणी धारणा एवं ५. तत्त्ववती धारणा । इन पाँच धारणाओं के ऊपर मन को स्थिर करते हुए आत्मा के ऊपर ध्यानस्थ बनना है । अब मैं आपको एक–एक धारणा कैसे करना, उस विषय में बताता हूँ :

पहली है पार्थिवी धारणा :

आपको चिंतन करना है कि : निःशब्द, कल्लोल रहित एवं श्वेत क्षीर–समुद्र है । उसमें एक लाख योजन का एक कमल है । उसकी एक हजार पंखुड़ियाँ हैं । उस कमल के मध्य में अनेक केसर हैं । उन केसरों में देदीप्यमान प्रभावशाली एक लाख योजन ऊँची कर्णिका है । उस कर्णिका के ऊपर एक सिंहासन पर

आत्मा (आप स्वयं) बैठी है। कर्मक्षय करने का चिंतन करती है – 'मैं रागद्वेषादि समस्त कर्मों का क्षय कर सकता हूँ।'

दूसरी है आग्नेयी धारणा :

इस धारणा में आपको, नाभिमंडल में सोलह पंखुड़ीवाले कमल का ध्यान करना है। कमल की कर्णिका के ऊपर 'अर्हं' महामंत्र की स्थापना करें। उस पर क्रमशः (१६ पंखुड़ी पर) सोलह स्वरों को स्थापित करें।

इस प्रकार स्थापना कर, कल्पना करें कि 'अर्हं' महामंत्र से धुआँ निकल रहा है। अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर उठ रही हैं।

इसके बाद हृदय में आठ पंखुड़ीवाले अधोमुख कमल की कल्पना करें। आठ पंखुड़ियों में क्रमशः आठ कर्मों की कल्पना करें। नाभिकमल से प्रबल अग्नि उठती है, ऐसा चिंतन करें। वह अग्नि आठों कर्मों को एवं शरीर को जला देती है.... और कर्म एवं शरीर जल जाते हैं, वैसी कल्पना करें। बाद में धीरे–धीरे अग्नि शान्त हो रहा है.... चिंतन करें।

तीसरी है वायवी धारणा :

आपकी इस धारणा में चिंतन करना है कि समस्त लोक में प्रचंड वायु बह रहा है। देह और कर्मोंवाले कमल को जल जाने के बाद बची हुई राख को वह वायु उड़ाकर ले जा रहा है।

चौथी है वारुणी धारणा :

इस धारणा में आपको चिंतन करना है कि बादलों के समूह से अमृत की वर्षा हो रही है। प्रचंड वायु आत्मा पर लगी हुई राख को उड़ाकर ले गया है, अब इस अमृत वर्षा में आत्मा धूल जाती है, स्नानशुद्ध बन जाती है। अमृत वर्षा का अनुचिंतन वारुणी है।

पाँचवी है तत्त्ववती धारणा :

इस धारणा में आप ऐसा चिंतन करें कि "सप्त धातुओं से रहित चन्द्रमा के समान उज्ज्वल तथा सर्वज्ञ की तरह शुद्ध आप एक शुद्ध आत्मा हैं। मैं निराकार हूँ... मैं निरंजन हूँ... मैं सिद्ध–बुद्ध हूँ... अनामी–अरूपी हूँ...," वैसा चिंतन करें।

पिंडस्थ ध्यान का प्रभाव :

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यान की पाँच धारणा हैं। इस ध्यान का अभ्यास करने से ध्यान करनेवाला ध्याता को दुष्ट मंत्र, माया, शक्ति, जादू, स्तंभन आदि से

नुकसान नहीं होता है । दुष्ट एवं हिंसक प्राणियों से भी उसका कुछ बिगड़ता नहीं है ।

– प्रथम धारणा से मन स्थिर होता है ।

– द्वितीय धारणा से मन को वश किया जाता है ।

– तीसरी धारणा से शरीर और कर्म को भिन्न देखा जाता है ।

– चौथी धारणा से कर्मों को नष्ट होते हुए देखा जाता है ।

– पाँचवी धारणा से शरीर एवं कर्म से रहित शुद्ध आत्मा का चिंतन किया जाता है ।

इस प्रकार पिंडस्थ ध्यान में योगीपुरुष क्रमशः मन को स्थिर करता जाता है । शुक्लध्यान में प्रवेश पाने की स्थिति में पहुँचता है ।

दूसरा आलंबन, यानी ध्यान है पदस्थ ध्यान ।

पदस्थ ध्यान :

अपनी रुचि तथा अभ्यास के अनुसार पवित्र मंत्राक्षर–पदों का आलंबन लेकर जो ध्यान किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है । क्योंकि पदस्थ ध्यान का अर्थ ही यह है पदों पर ध्यान केन्द्रित करना ।

इस ध्यान का मुख्य आलंबन शब्द है । शब्द की उत्पत्ति स्वर तथा व्यंजन से होती है । इसलिए इस ध्यान को 'वर्ण–मातृका का ध्यान' भी कहते हैं । श्री शुभचन्द्राचार्यजी ने 'ज्ञानार्णव' में कहा है –

ध्यायेद् अनादि सिद्धान्त प्रसिद्धां वर्णमातृकाम् ।
निःशेष शब्द विन्यास–जन्मभूमिं जगन्नताम् ।।

शरीर में तीन कमलों की कल्पना करें – १. नाभिकमल, २. हृदयकमल और ३. मुखकमल ।

नाभि में सोलह पत्र वाले कमल की स्थापना करें । सोलह पत्रों में अ.... आ..... आदि १६ स्वरों की स्थापना कर, उन स्वरों का ध्यान करना है ।

हृदय में २४ पत्रवाले कमल की स्थापना करें । कर्णिका में क और २४ पत्रों में शेष २४ व्यंजन (ख....ग....घ आदि) की स्थापना करें । उन २५ व्यंजनों का ध्यान करना है ।

मुख में अष्टदल कमल की स्थापना करें । आठ पत्र में क्रमशः "य, र, ल, व, श, ष, स, ह" इन आठ वर्णों की स्थापना करें और उनका ध्यान करें । जैसे

वे पत्र प्रदक्षिणा देते हैं वैसे ध्यान करने का है। 'परं वर्णाष्टकं ध्यायेत् संचरन्तं प्रदक्षिणम्।' करोगे न इस प्रकार का ध्यान ? बहुत आनन्द का अनुभव होगा।

इस ध्यान का प्रभाव जानते हो ? निरंतर यह ध्यान करनेवाला योगी संपूर्ण श्रुत का ज्ञाता बनता है। सारे भ्रम दूर हो जाते हैं। श्रुतज्ञानी होकर मोक्ष का अधिकारी बनता है।

मंत्राधिराज 'अर्हं' का ध्यान :

मंत्र और वर्णों के ध्यान में समस्त पदों का स्वामी 'अर्हं' माना गया है। वह रेफ से युक्त, कला एवं बिन्दु से आक्रान्त, अनाहत सहित मंत्रराज है।

इसका ध्यान करने की पद्धति भी जान लो।

साधक को एक सुवर्णमय कमल की कल्पना करनी चाहिए। उसके मध्य में कर्णिका के ऊपर विराजमान निष्कलंक निर्मल चंद्र की किरण जैसे, आकाशगामी एवं संपूर्ण दिशाओं में व्याप्त 'अर्हं' मंत्र का स्मरण करना चाहिए।

तत्पश्चात्, मुखकमल में प्रवेश करते हुए, प्रवलयों में भ्रमण करते हुए, नेत्रपलकों पर स्फुरित होते हुए, भाल-मंडल में स्थिर होते हुए, तालुरन्ध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत की वर्षा करते हुए, उज्ज्वल चन्द्रमा जैसे, ज्योतिर्मंडल में भ्रमण करते हुए, आकाश में संचरण करते हुए तथा मोक्ष के साथ मिलाप करते हुए इस मंत्रराज का 'कुंभक' के द्वारा चिंतन करना चाहिए।

यह ध्यानपद्धति 'योगशास्त्र' के आठवे अध्याय में बतायी गई है। इस प्रकार, इस मंत्रराज की स्थापना कर, मन को क्रमशः सूक्ष्मता की ओर 'अर्हं' मंत्र पर केन्द्रित किया जाता है। इससे अंतरंग में एक ऐसी ज्योति प्रकट होती है, जो अक्षय तथा इन्द्रिय-अगोचर होती है। इस ज्योति का नाम आत्मज्योति है। इसी से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

'प्रणव' का ध्यान :

प्रणव के ध्यान में 'ॐ' का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान का ध्याता योगी सर्वप्रथम अपने हृदयकमल में स्थित कर्णिका में 'ॐ' की स्थापना करता है। बाद में शब्द ब्रह्म के कारणभूत, स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पंचपरमेष्ठि के वाचक, मूर्धा में स्थित चंद्रकला से झरनेवाले अमृत के रस से सराबोर महामंत्र प्रणव 'ॐ' का कुंभक कर, ध्यान किया जाता है।

'योगशास्त्र' में यह ध्यानपद्धति बतायी गई है, वे श्लोक इस प्रकार हैं :

तथा हृत्पद्ममध्यस्थं शब्दब्रह्मैक कारणम् ।
स्वर–व्यंजन–संवीतं वाचकं परमेष्ठिनः ॥
मूर्धसंस्थित–शीताशु–कलामृतरस–प्लुतम् ।
कुम्भकेन महामंत्रं प्रणवं परिचिन्तयेत् ॥

अब, किस कार्य में 'ॐ' को किस वर्ण में देखना चाहिए (ध्यान काल में) यह बताता हूँ :

– स्तंभनकार्य में पीत वर्ण में 'ॐ' का ध्यान करें ।
– वशीकरण में लाल वर्ण में 'ॐ' का ध्यान करें ।
– क्षोभ पैदा करने में मूंगे के वर्ण में 'ॐ' का ध्यान करें ।
– द्वेष में कृपण वर्ण में 'ॐ' का ध्यान करें ।
– कर्मनाश करने में चंद्र के समान उज्ज्वल वर्ण में 'ॐ' का ध्यान करने का होता है । 'ॐ' को लक्ष्य बना कर आत्मविकास की ओर अग्रसर बनना है । इस ध्यान में अनेक प्रकार की शक्तियों की एवं आत्मबल की वृद्धि होती है । साथ–साथ कर्मक्षय भी होता है ।

पंचपरमेष्ठि का ध्यान :

अब, एक विशिष्ट प्रकार के ध्यान की प्रक्रिया बताता हूँ, वह ध्यान है पंचपरमेष्ठि का ध्यान, नमस्कार महामंत्र का ध्यान । ध्यान का विषय है, ध्यान से सुनना । शायद यह विषय आपके लिए नया होगा ।

सर्वप्रथम आप हृदय में आठ पंखुड़ियोंवाले कमल की स्थापना करना । उस कमल की कर्णिका के मध्य में 'नमो अरिहंताणं' पद का ध्यान करना है । उसके बाद चारों दिशाओं में चार पत्रों पर क्रमशः 'नमो सिद्धाणं', 'नमो आयरियाणं', 'नमो उवज्झायणं' तथा 'नमो लोए सव्वसाहूणं' का ध्यान किया जाता है । चार विदिशाओं में क्रमशः 'एसो पंच नमुक्कारो', 'सव्वपावप्पणासणो', 'मंगलाणं च सव्वेसिं', 'पढमं हवइ मंगलं' का ध्यान किया जाता है ।

जब 'नौ पद' का ध्यान करना हो तब चार विदिशाओं में सम्यग् दर्शनाय नमः, सम्यग् ज्ञानाय नमः, सम्यक्चारित्राय नमः तथा सम्यक्तपसे नमः का स्मरण करना चाहिए ।

अन्य मंत्रपदों का ध्यान :

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी मंत्र हैं, जिनका नित्य जाप–ध्यान करने से मनोव्यथाएँ शान्त होती हैं । कष्टों का परिहार होता है तथा कर्माश्रवों का संवर

होता है । कुछ मंत्र यहाँ मैं बताता हूँ, जो कि 'योगशास्त्र' में और 'ज्ञानार्णव' में बताये गये हैं ।

– पहली है षोडशाक्षर विद्या । सोलह अक्षर हैं इस विद्या में – 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय सर्व साधुभ्यो नमः ।'

– छः अक्षरों का एक मंत्र है – 'अरिहंत–सिद्ध ।'

– चार अक्षरों का एक मंत्र है – 'अरिहंत ।'

– दो अक्षरों का एक मंत्र है – 'सिद्ध ।'

– एक पंचाक्षरी विद्या है – 'असिआउसा ।'

इन मंत्र–विद्याओं का जप करने से साधक संसार के बंधन, कर्मग्रंथियों को तोड़ देता है । एकाग्र चित्त से इन मंत्र–पदों का जप करता हुआ साधक मोक्ष प्राप्त करता है ।

इस प्रकार साधक को

– ललाट पर 'ह्रीं' विद्या का,

– नासाग्र पर 'ॐ' का, कभी अनाहत का, कभी शून्य का अभ्यास करना चाहिए । इस प्रकार ध्यान करने से आत्मगुणों की प्राप्ति एवं निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है । पदस्थ ध्यान में चित्त को स्थिर करने के लिए बीजाक्षरों का, मंत्राक्षरों का आलंबन लिया जाता है ।

रूपस्थ ध्यान :

ग्रंथकार को प्रस्तुत में यह ध्यान अभिष्ट है । योगाभ्यास में 'सालंबन ध्यान' की बात करते हुए टीकाकार आचार्यदेव ने रूपस्थ ध्यान का निर्देश किया है । इस रूपस्थ ध्यान की परिभाषा करते हुए 'योगशास्त्र' में कहा गया है :

'अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते ।'

"अरिहंत–तीर्थंकर भगवान के स्वरूप का अवलंबन कर के किया जानेवाला ध्यान 'रूपस्थ' ध्यान कहा जाता है ।"

अपन को तीर्थंकर परमात्मा की प्रतिमा का ध्यान करना होगा । प्रतिमा की कल्पना करनी होगी । राग–द्वेषादि विकारों से रहित शान्त..... कान्त आदि गुणों से युक्त, योगमुद्रा धारण करनेवाली, अति रूपवती ऐसी प्रतिमा का निर्मल चित्त से ध्यान करना चाहिए ।

– वीतराग का ध्यान करने से ध्याता वीतराग बनता है ।

– रागी का ध्यान करोगे तो रागी बन जाओगे । जैसा ध्यान करोगे वैसे बन

जाओगे ! आपको क्या बनना हैं, निर्णय कर लेना ।

रूपस्थ ध्यान में समवसरण में बिराजमान तीर्थंकर परमात्मा का ध्यान कर सकते हो । आठ प्रातिहार्य को ध्यान के आलोक में देख सकते हो । तीर्थंकर के चार मूल अतिशयों का चिंतन भी कर सकते हो ।

रूपातीत ध्यान :

अब आपको चौथा रूपातीत ध्यान समझाता हूँ । इस ध्यान में आत्मा से आत्मा का ध्यान करना है । अरूपी, निरंजन, निराकार, ज्ञानशरीरी, आनन्दमय आत्मा का स्मरण–ध्यान करना है । इस अवस्था को 'समरसीभाव' भी कहा गया है । वास्तव में यह सिद्ध भगवंत का ध्यान है ।

इस तरह पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यानों के द्वारा क्रमशः शरीर, अक्षर, तीर्थंकर एवं सिद्धों का ध्यान किया जाता है ।

योगप्रवृत्ति करनेवाले के लक्षण :

यदि आप योगाभ्यास करते हैं, तो आप में कुछ विशेषताएँ उभरनी ही चाहिए । आपका व्यक्तित्व विशिष्ट बनना चाहिए । इस विषय में 'ज्ञानार्णव' आदि ग्रंथों में बताया गया है –

अलौल्य मारोग्यमनिष्ठुरत्वं, गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमंहि चिह्नम् ॥

योगप्रवृत्ति करनेवाले साधकों के ये प्राथमिक लक्षण बताये हैं ! विशेष लक्षणों की आप कल्पना करना । संक्षेप में इन लक्षणों को बताता हूँ ।

१. **लोलुपता का त्याग** : विषयों में पाँच इन्द्रियों की लोलुपता नहीं रहनी चाहिए । अति आसक्ति नहीं रहनी चाहिए ।

२. **आरोग्य** : शरीर निरोगी रहता है । योगप्रभाव से सामान्यतया रोग नहीं आते । निकाचित कर्मोदय होने पर आ सकते हैं, परंतु वहाँ योगी धीरता से रोगों को सहन करता है ।

३. **अनिष्ठुरता** : दूसरे जीवों के साथ दयाहीन व्यवहार नहीं होता है । उसके हृदय में करुणा प्रवाहित होती है ।

४. **शुभ गंध** : योगी का शरीर सुगंधयुक्त होता है ।

५. **मूत्र–पुरीष अल्प** : कई घंटों तक एक स्थान पर ध्यानस्थ रहने पर उनको मूत्र–पुरीष की शंका ही नहीं होती है । मूत्र–पुरीष का प्रमाण अल्प होता है ।

६. **शरीर की कान्ति** : योगी की मुखाकृति कान्तियुक्त–तेजस्वी होती है। प्रभावशाली व्यक्तित्व होता है उसका।

७. **प्रसाद** : उसके मुख पर खेद, ग्लानि, उदासी नहीं होती है, सदैव प्रसन्नता छायी हुई रहती है।

८. **स्वर सौम्यता** : योगी की वाणी सौम्य होती है। वाणी में आक्रोश, अभिमान और परुषता नहीं रहती है।

ये आठ विशेषताएँ 'ज्ञानार्णव' ग्रंथ के माध्यम से बतायी हैं। 'योगबिंदु' ग्रंथ में भी ये विशेषताएँ बतायी गई हैं, कुछ ज्यादा विशेषताएँ इस प्रकार है :

मैत्र्यादियुक्तं विषयेषु चेतः, प्रभाववद् धैर्यसमन्वितं च।
द्वन्द्वैरधृष्यत्व मभीष्ट लाभो जन प्रियत्वं च तथा परं स्यात्॥
दोषव्यपायः परमा च तृप्ति–रौचित्ययोगः समता गुर्वी।
वैरादिनाशोऽथ ऋतंभरा धी–र्निष्पन्न योगस्य तु चिह्नमेतद्॥

ये सारे लक्षण निष्पन्न योगी के बताये गये हैं। संक्षेप में इन लक्षणों का विवेचन करूँगा।

१. **मैत्र्यादियुक्त चित्त** : सभी जीवों के प्रति मैत्रीभाव, गुणवानों के प्रति प्रमोद भाव, दुःखी जीवों के प्रति करुणा और पापप्रवृत्ति करनेवालों के प्रति मध्यस्थ भाव रहता है योगी के चित्त में।

२. **प्रभावशाली** : योगी का दूसरे जीवों के ऊपर प्रभाव गिरता है।

३. **धैर्यवाले** : योगी धैर्यवाले होते हैं। दुःखों में अधीर नहीं बनते हैं।

४. **द्वन्द्वों में स्थिर** : सभी जीवों के जीवन में द्वन्द्व तो आते ही रहते हैं। योगीपुरुष उस समय भयभीत नहीं बनते, व्याकुल नहीं बनते। वे स्थिर रहते हैं।

५. **अभीष्ट लाभ** : योगीपुरुष जो इच्छा करते हैं, वह सहजता से उनको प्राप्त हो जाता है। इष्ट लाभ हो ही जाता है।

६. **श्रेष्ठ जनप्रियता** : योगीपुरुष जनप्रिय होते हैं। उनकी जनप्रियता सस्ती नहीं होती है, श्रेष्ठ होती है।

७. **दोषक्षय** : योगीपुरुष के दोष नष्ट होते हैं।

८. **परम तृप्ति** : योगीपुरुष परम तृप्त होते हैं। किसी बात की उनको अतृप्ति रहती ही नहीं है। अपनी आत्मा में ही तृप्त होते हैं।

९. **औचित्यपालन** : जो भी योगी के लिए उचित कर्तव्य होते हैं, उन कर्तव्यों का वे पालन करते हैं ।

१०. **श्रेष्ठ समता** : योगी की समता सामान्य कोटि की नहीं होती है, श्रेष्ठ कोटि की होती है । वे बात बात में चंचल नहीं बन जाते । कोई कितना भी परेशान करें, वे समता बनाये रखते हैं ।

११. **वैरभाव का नाश** : योगी के मन में तो किसी के प्रति वैरभावना होती ही नहीं है, परंतु उनके पास आनेवालों के हृदय में यदि वैरभावना, हिंसा की भावना होती है तो नष्ट हो जाती है ।

१२. **ऋतंभरा प्रज्ञा** : योगीपुरुष की बुद्धि मार्गानुसारिणी होती है ।

ये बारह लक्षण सिद्धयोगी के बताये गये हैं । कल्पना करना, इन लक्षणों के माध्यम से योगीपुरुष के व्यक्तित्व की । कितना महान् होता है वह व्यक्तित्व ।

'योगबिन्दु' ग्रंथ में योगी के कुछ विशेष लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं :

१. **स्थिरता** : योगी स्थिरभाव वाले होते हैं । जिस बात का स्वीकार करते हैं उसका प्राणान्त तक वहन करते हैं, पालन करते हैं ।

२. **धीरता** : कितने भी कष्ट आये उनकी प्रकृति अविचल रहती है ।

३. **प्रातिभ तत्त्वभासन** : सहज प्रतिभा से उनको तत्त्व बोध होता है ।

४. **आग्रहरहित** : उनमें किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं होता है ।

५. **क्षमाशीलता** : कोई कितना भी उनका अपराध करे जब वह अपराधी क्षमा मांगता है, वे उसी समय क्षमा दे देते हैं ।

६. **सदाचार-पालन** : वे सदाचारों का दृढ़ता से पालन करते हैं ।

७. **आदेयता** : उनकी बात सभी लोग मानते हैं ।

८. **गुरुता** : वे वास्तव में गुरु बनने योग्य होते हैं ।

९. **शम सुख** : उनका शम सुख, प्रशम सुख अनुत्तर होता है ।

ये सारे लक्षण इसलिए बताये, कि आपको भी 'योगी' बनने की भावना जगे । कितने अच्छे लक्षण बताये हैं ज्ञानीपुरुषों ने ? अब मुझे 'योग' के विषय में 'योगदृष्टि समुच्चय' ग्रंथ की आठ दृष्टियाँ और 'योगबिन्दु' ग्रंथ के पाँच योग बताने हैं । परंतु आज नहीं ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

प्रवचन : ५९

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक धर्म का विशद निरूपण किया है। एक हजार वर्ष पूर्व से भी ज्यादा वर्ष पहले लिखा गया यह ग्रंथ आज भी उतना ही उपादेय है, उपयोगी है। जिस किसी मनुष्य को श्रेष्ठ श्रावक जीवन जीना है, उसके लिए यह ग्रंथ पर्याप्त मार्गदर्शन दे सकता है।

श्रावक की दिनचर्या बताते हुए उन्होंने रात्रि के समय 'योगाभ्यास' करने का विधान किया है। योग दो प्रकार का बताया गया है – सालंबन और निरालंबन। समवसरण में विराजमान तीर्थंकर परमात्मा के रूप का ध्यान करना **सालंबन योग** है। और वे तीर्थंकर जब मुक्त बनते हैं, सिद्ध बनते हैं, तब उनका जो ध्यान किया जाता है, शुद्ध परमात्मगुणों का ध्यान किया जाता है, वह है **निरालंबन योग**।

चित्त के आठ दोष दूर करें :

सालंबन ध्यान करें या निरालंबन ध्यान करें, आपका चित्त योगीपुरुष का चित्त चाहिए। आठ दोषों से रहित होना चाहिए आपका चित्त। आज सर्व प्रथम उन आठ दोषों का विवेचन करूँगा। यदि आपके मन में ये दोष हों तो अवश्य दूर करने का प्रयत्न करना। योगमार्ग में विशुद्ध चित्त की प्रमुखता होती है। अशुद्ध चित्त से ध्यान करने से अनर्थ हो सकता है।

पहला दोष है खेद। जिस प्रकार ज्यादा चलने से शरीर थक जाता है वैसे ज्यादा विचार (अशुभ) करने से चित्त थक जाता है। ऐसे थके हुए मन से ध्यान नहीं करना चाहिए। चित्त थका हुआ रहने से उसमें दृढ़ता नहीं रहती है, और दृढ़ता के अभाव में सुंदर प्रणिधान नहीं होता है। योगमार्ग में प्रणिधान का वह स्थान है जो कृषिकर्म में पानी का स्थान होता है। इसलिए जब चित्त प्रफुल्लित हो, उत्साह से भरा हुआ हो तब जिनरूप का ध्यान करना।

दूसरा दोष है उद्वेग। उद्विग्न चित्त से यदि ध्यान करोगे, आप चित्त का सुख प्राप्त नहीं कर सकोगे। जब चित्त में उद्वेग हो तब ध्यान नहीं करना चाहिए। योगक्रिया करनेवाला साधक यदि उद्विग्न चित्त से ध्यान करता है तो वह जन्मांतर में योगीकुल प्राप्त नहीं करता है। इसलिए जब चित्त में उद्वेग नहीं

हो तब ही ध्यान करना चाहिए ।

तीसरा दोष है क्षेप ! क्षेप यानी चित्त की विक्षिप्तता ! ध्यान करते समय, बीच–बीच मन दूसरे विचारों में चला जाय, उसको विक्षिप्तता कहते हैं । विक्षिप्त मन से ध्यान करोगे तो जो फल आपको ध्यान से मिलना चाहिए, वह फल नहीं मिलेगा । जिस प्रकार, दूध को दहीं बनाने के लिए दूध को बार–बार हिलाया नहीं जाता है । उसको स्थिर रखना पड़ता है । वैसे ध्यान में मन को दूसरे विचारों में नहीं जाने देना चाहिए । जिनरूप का ध्यान करते हो तो उसी में मन रहना चाहिए ।

चौथा दोष है उत्थान । चित्त में प्रशान्तवाहिता न होना ! ध्यान करते समय चित्त में प्रशान्तवाहिता होनी चाहिए । चित्त यदि उखड़ा–उखड़ा सा रहता है तो ध्यान करने योग्य नहीं रहता है ।

पाँचवा दोष है भ्रान्ति । जो जैसा नहीं है, उसमें वैसी कल्पना करना भ्रान्ति है । एक भाई को उसकी पत्नी में भ्रान्ति थी कि 'यह स्त्री परपुरुष के साथ संबंध रखती है,' उसका मन ध्यान में नहीं लगता था ! दूसरे एक महानुभाव को अपने अच्छे मित्र में भ्रान्ति हो गई थी – "यह भीतर से मेरा शत्रु है.... " उसका मन भी ध्यान में नहीं लगता था । भ्रान्त चित्त, ध्यान के उपयुक्त चित्त नहीं है । इसलिए चित्त निर्भ्रान्त बनना चाहिए ।

छट्ठा दोष है अन्यमुद् । दूसरी भौतिक प्रिय पदार्थों की प्राप्ति में हर्ष होना । एक महानुभाव एक जगह ध्यान करने गये थे । शिबिर था ध्यान का । वहाँ से आने के बाद वे मुझे मिले । उनको इस बात का हर्ष था कि वहाँ रहने की एवं भोजन की सुविधा बहुत अच्छी थी ! वहाँ की मेनेजमेंट अच्छी थी ! उन्होंने आधे घंटे तक इसी का ही वर्णन किया । यह था 'अन्यमुद्' दोष ।

सातवाँ दोष है रुग् । मन के रोग होना भी दोष है । कभी कोई मानसिक पीड़ा हो अथवा शरीर की पीड़ा मन की पीड़ा बन गई हो । अथवा प्रणयभंग, स्नेहीभंग होने से मन रोगी बन गया हो...तो ध्यान नहीं किया जा सकता है ।

आठवाँ दोष है आसंग । आसंग यानी आसक्ति । आसक्ति दो प्रकार की होती है : व्यक्ति आसक्ति और वस्तु आसक्ति । यदि मन किसी स्नेही, प्रेमी स्वजनों में आसक्त है तो आप ध्यान करने योग्य नहीं है । मन धन, मकान, वस्त्र आदि वस्तुओं में आसक्त है, तो भी आप ध्यान करने योग्य नहीं हैं । अनासक्त चित्त ही ध्यान करने के लिए सुयोग्य है ।

योग के लिए मनःसमाधि चाहिए :

योगसिद्धि के लिए मन की समाधि परम आवश्यक है। योगाभ्यास के लिए सर्वप्रथम मन को संयमी बनाना अनिवार्य है। क्योंकि मन के कारण ही इन्द्रियाँ चंचल होती हैं, जो आत्मज्ञान में बाधक हैं और मोक्षमार्ग में भटकाव पैदा करती हैं। मन की अस्थिरता के कारण ही राग–द्वेष–मोहादि भावों की वृद्धि होती है तथा कर्मबंध होता है।

इसलिए चंचल मन को स्थिर करना, योग की पहली शर्त है। मन की समाधि, योग का हेतु है और तपश्चर्या का निदान है। मन को स्थिर करने के लिए बाह्य–अभ्यंतर तप आवश्यक है। तपश्चर्या मोक्षसुख का मूल कारण है। यह बात 'अध्यात्म कल्पद्रुम' नाम के ग्रंथ में कही गई है, सुनिए –

योगस्य हेतुर्मन सः समाधिः, परं निदानं तपश्यश्च योगः।
तपश्च मूलं शिवशर्म मनः समाधिं भज तत्कथंचित् ॥ ९/१५ ॥

मनः समाधि योग का प्रमुख कारण है। इसलिए ज्ञानीपुरुषों ने मनःशुद्धि के विषय में बहुत कुछ समझाया है।

मन के चार प्रकार :

'योगशास्त्र' में कलिकाल सर्वज्ञ आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरिजी ने मन के चार प्रकार बताये हैं – १. विक्षिप्त मन, २. यातायात मन, ३. श्लिष्ट मन और ४. सुलीन मन।

– विक्षिप्त मन का स्वभाव चंचल होता है।

– यातायात मन का स्वभाव कुछ कम चंचल होता है।

योगसाधना करनेवालों को सर्वप्रथम इन दो प्रकार के मन पर नियंत्रण करना आवश्यक होता है। प्रारंभ में साधक की स्थिति मर्कटलीला की तरह होती है। वह क्षण–क्षण एक विषय से दूसरे विषय में संचरित होता है। फलस्वरूप वह अनेक कर्मप्रकृतियाँ बाँधता है। चित्त की विकलता बढ़ती जाती है। हालाँकि विक्षिप्त मन की अपेक्षा, यातायात मन में इन्द्रियाँ कुछ शान्त रहती हैं, लेकिन वह शान्ति अल्पकालीन होती है। इसलिए, आन्तरिक दीर्घकालीन शान्ति पाने के लिए इन दोनों मन को शान्त करने का प्रयास, योगी के लिए, योगाभ्यास के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है।

– श्लिष्ट मन की भूमिका, यातायात मन के बाद शुरू होती है। मनोविरोध

के अभ्यास से चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। साधक को आन्तरिक शान्ति का अनुभव होने लगता है।

– सुलीन मन में आनंद की अनुभूति होती है। चित्त एकाग्र होकर आत्मलीन हो जाता है। 'सुलीनमतिनिश्चलं परमानन्दम्।' इस मन के अभ्यास से साधक को परमानन्द की अनुभूति होती है। यदि परमानंद की अनुभूति करना है तो मन को सुलीन बनाना होगा।

योगमार्ग में 'योग संग्रह' करें :

योगमार्ग में साधक को विभिन्न आचार–विचारों का सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए। श्रावकों को अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का पालन करना चाहिए। साधुओं को समिति–गुप्ति के साथ महाव्रतमय चारित्राचार का पालन करना चाहिए। श्रावक एवं श्रमणों के लिए अलग–अलग आचारमर्यादाएँ हैं।

श्रावक–श्राविकाएँ, श्रमण की तरह संपूर्ण अपरिग्रही बन कर, वैराग्य धारण कर, योगसाधना में संलीन हो सकते हैं। श्रमण और श्रावकों के लिए, चारित्र विकास हेतु 'समवायांग सूत्र' में 'योग संग्रह' बताया गया है। योगसाधकों के लिए बहुत उपयोगी होने से यहाँ 'योग संग्रह' की ३२ बातें बताता हूँ।

१. पहला योग है आलोचना। गुरु के पास जाकर विधिपूर्वक अपने दोष प्रकट कर स्वीकार करना।

२. दूसरा योग है निरप लाप। दूसरों के आगे अपने शिष्यों के दोष प्रकट नहीं करने चाहिए।

३. तीसरा योग है व्रतस्थिरता। आपत्तिकाल में अंगीकृत व्रतनियमों का परित्याग नहीं करना चाहिए।

४. अनिश्चितोपधान चौथा योग है। इसका अर्थ है दूसरों की सहायता के बिना तप करना।

५. पाँचवा योग है शिक्षा। धर्मग्रंथों का पठन–पाठन करते रहना।

६. छट्ठा योग है निष्प्रतिकर्मता। शरीर–संस्कार नहीं करना।

७. सातवा योग है अज्ञातता। तप के विषय में गुप्तता रखना, यानी योगसाधक जो तप करे, उसको प्रकट नहीं करें।

८. आठवा योग है अलोभ। किसी वस्तु का लोभ नहीं रखना।

९. नौवा योग है तितिक्षा। परीषहों को, कष्टों को समता से सहना।

१०. दसवा योग है ऋजुता । मन में सरलता के भाव रखना ।

११. ग्यारहवा योग है शुचि । सत्य का पालन करना एवं संयमवृद्धि करते रहना।

१२. बारहवा योग है सम्यग् दर्शन । तत्त्वश्रद्धा रखना ।

१३. तेरहवा योग है समाधि । मन को स्थिर व प्रसन्न रखना ।

१४. चौदहवा योग है आचार । साधक को अपने आचारों में दृढ़ रहना चाहिए । श्रावक को श्रावकाचार में, साधु को साध्वाचार में ।

१५. पंदहवा योग है विनय । साधक विनयी होना चाहिए ।

१६. सोलहवा योग है धृति । धृति यानी धैर्य । दुःखों से दब जाने पर भी अविचल प्रकृतिभाव रहना चाहिए ।

१७. सत्रहवा योग है संवेग । साधक मोक्षानुरागी होना चाहिए ।

१८. अट्ठारहवा योग है प्राणिधि । माया नहीं करनी चाहिए साधक को ।

१९. उन्नीसवा योग है सुविधि । सदनुष्ठान करने चाहिए ।

२०. बीसवा योग है संवर । कर्माश्रवों को रोकने चाहिए ।

२१. इक्कीसवा योग है आत्मदोष संहार । अपने दोषों का नाश करना चाहिए।

२२. बाइसवा योग है सर्वकामतिरति । सभी इच्छाओं से विरत बनना चाहिए । इच्छा, वासना, कामना, अभिलाषा से मन को मुक्त करना चाहिए ।

२३. तेइसवा योग है प्रत्याख्यान । मूल गुण के प्रत्याख्यान होने चाहिए । साधु को महाव्रत होने चाहिए । श्रावकों को १२ व्रत होने चाहिए ।

२४. चोवीसवा योग है प्रत्याख्यान । इस योग में उत्तर गुणों के विषय में प्रत्याख्यान होने चाहिए ।

२५. पच्चीसवा योग है व्युत्सर्ग । व्युत्सर्ग यानी त्याग । साधक को पापत्याग करना चाहिए ।

२६. छब्बीसवा योग है अप्रमाद । साधु और श्रावक को प्रमाद नहीं करना है ।

२७. सत्ताइसवा योग है लवालव । हर समय साधु को साध्वाचार का पालन करना चाहिए ।

२८. अट्ठाइसवा योग है ध्यान । धर्मध्यान करते हुए शुक्लध्यान की ओर आगे बढ़ना चाहिए ।

२९. उन्तीसवा योग है मारणांतिक उदय । मृत्यु के समय क्षोभ–दुःख नहीं होना चाहिए ।

३०. तीसवा योग है संग का त्याग ।

३१. इकत्तीसवा योग है प्रायश्चित्त ।

३२. बत्तीसवा योग है मारणांतिक आराधना । मृत्यु के समय जो तप किया जाता है वह तप साधक को करना चाहिए ।

इस योग संग्रह को योग की आधारभूमि माना गया है । तीर्थंकर एवं गणधरों ने इसे सुदृढ़ तथा फलीभूत बनाने का उपदेश दिया है । इन ३२ योगों के पालन से श्रावक भी पूर्ण योगी की भूमिका पर पहुँच सकता है ।

योगाभ्यास में गुरु की आवश्यकता :

लेकिन, पूर्णयोग की भूमिका पर पहुँचने के लिए योग्य गुरु का सत्संग करना अनिवार्य होता है । क्योंकि बिना सद्गुरु के विषय–कषाय की चंचलता में वृद्धि होती है । शास्त्रज्ञान एवं शुद्ध भावों का नाश होता है । "योगसार" ग्रंथ में यह बात कही गई है –

'तावद् गुरुवचः शास्त्रं तावत् तावच्च भावनाः ।
कषाय विषयैयविद् न मनस्तरली भवेत् ।।'

इसलिए साधक गुरु के द्वारा शास्त्रवचनों मर्म तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करता है । जिससे उसके आध्यात्मिक ज्ञान में वृद्धि होती है और आत्मविकास होता है । संयम की वृद्धि एवं तत्त्वज्ञान आदि के लिए गुरु का सान्निध्य आवश्यक है । सद्गुरु के सान्निध्य और उपदेश से योगसाधना में सफलता प्राप्त होती है । गुरुसेवा करने से लोकोत्तर तत्त्व की संप्राप्ति होती है । गुरु की भक्ति से एवं सान्निध्य से साधक का मन ध्यान में एकाग्र बनता है । उस अवस्था में उसे तीर्थंकर दर्शन का साक्षात् लाभ होता है और साधक मोक्षदशा प्राप्त करता है ।

इसलिए योगाभ्यास सद्गुरु के मार्गदर्शन के अनुसार करना चाहिए । परंतु योगसाधना के लिए योग्यता होनी चाहिए ।

योगसाधना के अधिकारी जीव :

'योगबिंदु' ग्रंथ के अनुसार सभी जीव योगसाधना के लिए योग्य नहीं होते । जो जीव 'चरमावर्त' काल में आये हैं वही योग्यता संपादन कर सकते

हैं। अन्तिम पुद्गलपरावर्त काल को 'चरमावर्त काल' कहा गया है। चरमावर्त काल में ही जीव की धार्मिक, यौगिक और आध्यात्मिक जागृति होती है। अर्थात् योगदृष्टि का प्रादुर्भाव यहीं से होता है।

चरमावर्ती जीव स्वभाव से मृदु, शुद्ध एवं निर्मल होते हैं। ये जीव संसार में परिमित काल के लिए होते हैं। वे संसार–बंधनों का उच्छेद करने की शक्ति रखते हैं। चरमावर्ती जीव ही शुक्लपाक्षिक बनते हैं, भिन्नग्रन्थि होते हैं एवं दर्शविरति–सर्वविरति के अधिकारी बन सकते हैं। क्योंकि उन पर मिथ्यात्व–मोह का तीव्र दबाव नहीं रहता है। उनके मन में वैसी तीव्र काषायिक मलिनता भी नहीं रहती है। वे जीव मुक्ति के निकट होते हैं।

"मुक्त्यद्वेष प्राधान्य–द्वात्रिंशिका" में कहा गया है –

चरमावर्तिनो जन्तोः सिद्धेरासन्नता ध्रुवम्।
भूयांसोऽमी व्यतिक्रान्तास्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ॥

चरमावर्ती जीव अवश्य मुक्ति के निकट होते हैं। उन जीवों ने बहुत से पुद्गलपरावर्तों का उल्लंघन किया होता है। उन जीवों का बिन्दु मात्र एक आवर्त शेष होता है, जैसे कि समुद्र में एक बिंदु जल अवशिष्ट रहा हो!

आत्मविकास की चार अवस्थाएँ :

आत्मविकास की ओर अग्रसर होता चरमावर्ती जीव, जिन–जिन स्थितियों से गुजरता है, वे स्थितियाँ क्रमशः चार प्रकार की होती हैं –

१. अपुनर्बंधक, २. सम्यग् दृष्टि,
३. देशविरति, ४. सर्वविरति।

– अपुनर्बंधक जीव मिथ्यात्व परिणामी रहते हुए भी विनय, दाक्षिण्य, दया, वैराग्य आदि सद्गुणों से अलंकृत होता है। "योगबिंदु" ग्रंथ में कहा गया है –

'भवाभिनन्दि–दोषाणं प्रतिपक्षगुणैर्यतः।
वर्धमानगुणप्रायो ह्यपुनर्बंधको मतः॥'

अब मैं आपको भवाभिनन्दी जीव के दोष और अपुनर्बंधक जीव के गुण (दोष के प्रतिपक्षभूत) बताता हूँ।

१. भवाभिनन्दी जीव क्षुद्र होता है। क्षुद्र यानी कृपण–कंजूस होता है, इससे विपरीत, अपुनर्बंधक जीव उदार होता है।

२. भवाभिनन्दी जीव 'लाभरति' वाला यानी यांचाशील होता है, याचनाशील

होता है, इससे विपरीत अपुनर्बंधक जीव कभी याचना नहीं करता है ।

३. भवाभिनन्दी जीव दीन होता है, दीनता करता रहता है, जब कि अपुनर्बंधक जीव अदीन होता है, कभी दीनता नहीं करता है ।

४. भवाभिनन्दी जीव मत्सरी होता है यानी दूसरों का सुख देखकर जलनेवाला होता है । अपुनर्बंधक जीव दूसरों का सुख देख कर प्रमुदित होता है, खुश होता है ।

५. भवाभिनन्दी जीव भयभीत रहता है, सदैव भयभीत रहता है, जब कि अपुनर्बंधक जीव निर्भय रहता है ।

६. भवाभिनन्दी जीव शठ–मायावी होता है, जब कि अपुनर्बंधक जीव सरल–मायारहित होता है ।

७. भवाभिनन्दी जीव अज्ञ–मूर्ख होता है, जब कि अपुनर्बंधक जीव ज्ञानी–बुद्धिमान् होता है ।

८. भवाभिनन्दी जीव संसारप्रिय होने से सर्वत्र अतत्त्व का आग्रह करनेवाला होता है, इससे वह निष्फल पुरुषार्थ करनेवाला होता है । अपुनर्बंधक जीव सर्वत्र सफल पुरुषार्थ करनेवाला होता है ।

अपुनर्बंधक आत्मा की विशेषताएँ मालुम हुई न ?

– आगे बढ़ कर यह जीवात्मा "ग्रंथिभेद" करता है । मोह की अनादिकालीन ग्रंथि का उच्छेदन करता है । तब उसे सम्यग् दर्शन गुण की प्राप्ति होती है । इस सम्यग् दर्शन की भूमिका पर रहा हुआ जीव जो कि योगीदशा की प्रारंभिक अवस्था में होता है, संसार में रहते हुए भी आन्तरिक भावनाओं के द्वारा मुक्ति के उपायों के विषय में चिंतन करता रहता है । इस कारण सम्यग् दृष्टि जीव को 'भावयोगी' भी कहते हैं । उसका चित्त मोक्ष में होता है, शरीर–संसार में । "योगबिंदु" ग्रंथ में कहा गया है –

भिन्नग्रन्थे स्तु यत्प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः ।
तस्य तत्सर्वं एवेह योगो, योगो ही भावतः ॥ २०३ ॥

भिन्नग्रन्थि सम्यग् दृष्टि जीव के मन–वचन–काया के सभी योग भाव से योगरूप होते हैं, इसलिए वे भावयोगी कहलाते हैं ।

तीसरी अवस्था है देशविरति आत्मा की । भावयोगी आत्मा गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी लोभ, ममता आदि बंधनों से विमुक्त रहता है और आत्मध्यान

में लीन रहता है ।

इस प्रकार वह आचार-विचारों में विकसित होकर, अनेक प्रकार के कायक्लेश सहता हुआ, मार्गानुसारिता के गुणों का सम्यक् रूपेण पालन करता हुआ, श्रद्धालु, लोकप्रिय एवं पुरुषार्थी बन कर, शुभ परिणामों की वृद्धि करता हुआ, सर्वविरति की अंतिम भूमिका में पहुँचता है ।

'योगदृष्टि समुच्चय' में तीन योग :

योग की बात कर रहे हैं तो योग के कुछ अन्य प्रकार भी बता देना उचित होगा । 'योगदृष्टि समुच्चय' ग्रंथ में आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने तीन योगों का प्रतिपादन किया है –

१. इच्छायोग,

२. शास्त्रयोग,

३. सामर्थ्ययोग ।

– इच्छायोग का वर्णन करते हुए ग्रंथकार ने लिखा है –

कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः ।
विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ।।

ज्ञानीपुरुष को शास्त्रानुसार अनुष्ठान करने की इच्छा होती है, परंतु प्रमाद की वजह से उसके धर्मानुष्ठान विकल-दोषयुक्त होते हैं, यह इच्छायोग है । इच्छा को भी, सदिच्छा को भी उन्होंने योग में प्रवेश दिया है ।

– दूसरा है शास्त्रयोग ।

शास्त्रयोग स्तिह ज्ञेयो यथाश कत्यऽप्रमादिनः ।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ।।

इस योग में, साधक प्रमाद का त्याग कर, अपनी शक्ति के अनुसार श्रद्धायुक्त होकर अनुष्ठान करता है । इस साधक का शास्त्रज्ञान अच्छा होता है । वह दोषरहित धर्मानुष्ठान करता है ।

– तीसरा है सामर्थ्ययोग ।

शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।
शक्त्युद्रेका द्विशेषेण सामर्थ्या ख्योऽयमुत्तमः ।।

शास्त्र (योगशास्त्र) में बताये हुए उत्तम अनुष्ठानों को साधक योगी अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के उदेक से, मोक्षप्राप्ति के लिए करता है, यह सामर्थ्ययोग

है । यह योग प्रातिभ ज्ञान से युक्त एवं केवलज्ञान की प्राप्ति करानेवाला है । इस योग के साधक का अनुभव अनिर्वचनीय होता है ।

'योगबिंदु' में पाँच प्रकार के योग :

'योगबिंदु' ग्रंथ में आचार्यदेवश्री हरिभद्रसूरिजी ने आध्यात्मिक विकास की पाँच सीढ़ियाँ बतायी हैं । ये सीढ़ियाँ इस प्रकार हैं –

१. अध्यात्म योग,
२. भावना योग,
३. ध्यान योग,
४. समता योग,
५. वृत्तिसंक्षय योग ।

क्रमशः इस योगसाधना से चारित्र का क्रमशः विकास होता है । आज यहाँ मैं इन पाँच योगों का संक्षिप्त परिचय करा कर प्रवचन पूर्ण करूँगा ।

पहला है अध्यात्म योग :

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात्तत्त्व चिंतनम् ।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ।। ३५७ ।।

– जिस योग में उचित प्रवृत्ति हो ।

– व्रतयुक्तता हो, अणुव्रत हो या महाव्रत हो ।

– जिनप्रणीत तत्त्वों का चिंतन हो, यानी जीव–अजीवादि पदार्थों का पर्यालोचन हो ।

– मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावनाएँ हो, वह योग 'अध्यात्म योग' होता है ।

'अध्यात्म योग' का फल बताते हुए ग्रंथकार ने कहा है –

अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम् ।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ।। ३५८ ।।

इस अध्यात्म योग से

– पापक्षय होता है । यानी ज्ञानावरणादि क्लिष्ट कर्मों का नाश होता है ।

– सत्त्व उल्लसित होता है । अर्थात् आत्मवीर्य का उत्कर्ष होता है ।

– शील की यानी चित्त समाधि की प्राप्ति होती है, ।

– अप्रतिघाती–शाश्वत्–शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

– स्व–संवेदन सिद्ध अमृत की प्राप्ति होती है ।

– अति दारुण मोहविष के विकार नष्ट होते हैं ।

दूसरा है भावना योग :

अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसंगतः ।
मनःसमाधि संयुक्तः पौनः पुन्येन भावना ।। ३५९ ।।

– इसी अध्यात्म योग का पुनः पुनः अभ्यास करना भावना योग है ।

– परंतु प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए,

– प्रतिदिन उस अभ्यास में समुत्कर्ष का अनुभव होना चाहिए और

– मन की समाधि रहनी चाहिए । मनःसमाधि यानी मनोनिरोध ।

इस भावना योग का फल बताया गया है –

निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता ।
तथा सुचित्तवृद्धिश्च भावनायाः फलं मतम् ।।

इस भावना योग से

– काम, क्रोध, लोभ आदि अशुभ तत्त्वों से निवृत्ति होती है ।

– ज्ञान–दर्शन–चारित्र विषयक शुभ अभ्यास की अनुकूलता मिलती है ।

– चित्तशुद्धि में वृद्धि होती है ।

यह है भावना योग का फल ।

तीसरा है ध्यान योग :

शुभैकालंबनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः ।
स्थिरप्रदीप सदृशं सूक्ष्माभोग समन्वितम् ।। ३६१ ।।

ध्यानयोग में

– धर्मध्यान–शुक्लध्यान का समावेश होता है ।

– चित्त में प्रशस्त विषय का चिंतन चलता है, एक विषय पर ही चित्त स्थिर रहता है ।

– चित्त, स्थिर दीपक जैसा बन जाता है । यानी दीपक की ज्योत वायुरहित खंड में हिलती नहीं है, स्थिर रहती है, उसी तरह ध्यानयोगी का चित्त सूक्ष्म उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य आदि सूक्ष्म पदार्थों के चिंतन में स्थिर बनता है ।

इस ध्यान का फल बताते हुए ग्रंथकार ने कहा है –

वशिता चैव सर्वत्र भावस्तैमित्यमेव च ।
अनुबन्धव्यवच्छेद उदर्कोऽस्येति तद्विदः ।। ३६२ ।।

ध्यानयोग से योगी

– सभी कार्यों में सफलता पाता है ।

– स्तिमित भावना को पाता है, यानी मन स्थिर समुद्र जैसा हो जाता है ।

– भवांतर का आरंभ करनेवाले जो कर्म बाँधे हुए होते हैं, उन कर्मों का उच्छेद हो जाता है, इससे योगी समता योग की ओर गति करता है ।

चौथा योग है समता योग :

समता योग का वर्णन इस प्रकार है –

अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते ॥ ३६३ ॥

सारी मिथ्या वासनाएँ अविद्या की कल्पनाओं से पैदा होती हैं । वे अनादिकालीन वासनाएँ इष्ट–अनिष्ट की, प्रिय–अप्रिय की कल्पनाएँ करवाती हैं । शब्द–रूप–रस–गंध और स्पर्श के विषयों में मन और इन्द्रियाँ इष्टानिष्ट की कल्पना करती हैं । परंतु समतायोगी अपने विवेक से उन सभी कल्पनाओं का परिहार करता है । और, इष्टानिष्ट की कल्पना से मुक्त मन अपूर्व समता भाव का अनुभव करता है ।

समतायोग का फल बताते हुए ग्रंथकार कहते हैं –

ऋद्धि–अप्रवर्तनं चैव, सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा ।
अपेक्षातंतुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते ॥ ३६४ ॥

– समतायोगी को अनेक ऋद्धियाँ, लब्धियाँ, शक्तियाँ प्रकट होती हैं, परंतु योगी उनका उपयोग नहीं करते हैं ।

– जो केवल ज्ञानावरण, केवल दर्शनावरण, यथाख्यात चारित्रावरण वगैरह सूक्ष्म कर्म होते हैं उन कर्मों का क्षय हो जाता है ।

– कर्मबंध का हेतु है अपेक्षाएँ । सारी अपेक्षाएँ शान्त हो जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं ।

पाँचवा योग है वृत्तिसंक्षय :

वृत्तिसंक्षय योग की परिभाषा करते हुए ग्रंथकार कहते हैं –

अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा ।
अपुनर्भावरूपेण सतु तत्संक्षयो मतः ॥ ३६५ ॥

इस 'वृत्तिसंक्षय' योग में योगी निस्तरंग महोदधि के समान हो जाता है । स्वाभाविक रूप से (बिना प्रयत्न किये) ही विकल्प वृत्तियाँ उपशान्त हो जाती हैं । जो वृत्तियाँ अन्य संयोग से पैदा होती हैं, वे सब क्षीण हो जाती हैं । वृत्तियाँ

दो प्रकार की होती है – विकल्परूप और परिस्पंदरूप । तथाविध मनोद्रव्य के संयोग से उत्पन्न होने वाली विकल्परूप वृत्तियाँ होती हैं और शरीर के माध्यम से परिस्पन्दरूप वृत्तियाँ पैदा होती हैं । उन सभी वृत्तियों का इस योग में निरोध हो जाता है ।

यह वृत्तिसंक्षय योग, जब आत्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति होती तब होता है और अयोगी बनता है चौदहवे गुणस्थान पर, तब होता है ।

यह वृत्तिसंक्षय जो होता है वह पुनः पैदा न हो वृत्तियाँ, वैसे होता है ।

इस वृत्तिसंक्षय योग का फल बताते हुए ग्रंथकार ने कहा है –

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशी संपरिग्रहः ।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ।। ३६६ ।।

इस योग का फल बताते हुए कहा है –

– केवलज्ञान की प्राप्ति होती है,

– शैलेशी–सर्वसंवर की प्राप्ति होती है, और

– मोक्षप्राप्ति–निर्वाणप्राप्ति होती है !

– कोई भी शारीरिक, मानसिक व्यथा नहीं रहती मोक्ष में ! वहाँ होता है सर्वकाल आनन्द, आनन्द और आनन्द ।

उपसंहार :

इस प्रकार योग द्वारा साधक आत्मशक्ति की पहचान करता है । योगसाधना से योगी को अनेक लब्धियों की प्राप्ति भी होती है, लेकिन वह उनका प्रयोग लोभवृत्ति की पुष्टि के लिए नहीं करता है ।

योगी, योग के द्वारा दूसरों के मन की बात भी जान सकता है । योगी सर्वज्ञ भी बन सकता है । अंतिम अवस्था सिद्धावस्था को प्राप्त करता है । जब चार अघाती कर्मों का क्षय हो जाता है, तब मोक्षावस्था प्राप्त होती है । वहाँ आत्मा का अपना स्वतंत्र और शाश्वत् अस्तित्व रहता है । आत्मा जन्म–मरण से छूट जाती है ।

ऐसी पूर्णावस्था, योगाभ्यास के द्वारा प्राप्त करनेवाले बनो यही मंगल कामना।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

प्रवचन : ६०

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन के दैनिक कर्तव्यों का निर्देश करते हैं। दैनिक कर्तव्यों का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने एक विशिष्ट कर्तव्य का निर्देश किया है, वह कर्तव्य है योगाभ्यासः। रात्रि के समय साधुपुरुषों को विश्रामणा कर, (यदि गाँव में साधुपुरुष हों तो) उनके सान्निध्य में अथवा घर पर आने के बाद योग का अभ्यास करना चाहिए।

योग और आसन :

यौगिक क्रियाओं की निष्पन्नता के लिए अथवा चित्तस्थिरता के लिए आसनों का महत्त्व है। क्योंकि आसन में शरीर तथा मन अन्य चेष्टाओं से मुक्त बन, किसी एक दशा में केन्द्रित हो जाते हैं। अतः आसन मन को शक्तिशाली बनाने का साधन है। योग का आधार, मन एवं शरीर पर अधिकार पाना है।

पातंजल योग दर्शन के अनुसार सुखपूर्वक अधिकतम समय स्थिर होकर बैठना ही ध्यान है। जो आसन स्थिर एवं सुखद हो, वही आसन करना चाहिए। ऐसे आसनों में पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, पर्यंकासन आदि आसनों का वर्णन है।

हठयोग के अनुसार आसनों का मुख्य कार्य शरीर को स्वस्थ बनाना, आलस्य दूर करना तथा शरीर के भारीपन को दूर करना भी है। हठयोग में आसनों के साथ साथ विभिन्न मुद्राओं का भी निरूपण किया हुआ है।

बौद्ध योगसाधना में भी आसनों का महत्त्व है। उसमें पर्यंकासन को सबसे उत्तम आसन माना गया है। पर्यंकासन का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि बायीं जांघ पर दाहिना पैर रखना चाहिए तथा दाहिनी जांघ पर बायां पैर रखना चाहिए। ऐसा ही वर्णन पद्मासन का मिलता है। बौद्ध योगसाधना में बुद्धासन, सिद्धासन एवं वज्रासन का भी वर्णन मिलता है।

जैन योगसाधना में चित्त की स्थिरता के लिए अमुक आसन का ही प्रयोग करना चाहिए – ऐसा कोई नियम नहीं बताया गया है। परंतु जिस आसन से मन स्थिर होता हो, उसी आसन का उपयोग ध्यान के लिए उपयुक्त माना गया है। 'योगशास्त्र' में कहा गया है –

जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः ।
तत्तदेव विधातव्य मासनं ध्यान–साधनम् ।।

इस तरह जिन–जिन आसनों के द्वारा दीर्घकाल तक ध्यान सहजता से करना संभव हो उन उन आसनों का 'योगशास्त्र' में निर्देश भी किया गया है। पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दंडासन, उत्कटिकासन, गौदोहिकासन और कायोत्सर्गासन । दूसरे ग्रंथों में हंसासन, अश्वासन, गजासन, सुखासन इत्यादि आसनों के नाम भी मिलते हैं ।

योग के आठ अंग :

आसन का महत्त्व देखते हुए मैंने सर्वप्रथम आसन की बात की है । वैसे अष्टांग योग में आसन का स्थान तीसरा है । अष्टांग योग के नाम इस प्रकार हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ।

– पतंजलि ने पाँच यम गिनाये हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । अन्यत्र १० यम भी बताये गये हैं –

'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
श्रमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।।'

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच – ये दश यम हैं ।

पतंजलि ने नियमों की संख्या भी पाँच बतायी है – शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान ।

आसन के विषय में पहले ही बता दिया है । पतंजलि ने 'आसन' की परिभाषा करते हुए कहा है – स्थिरसुखमासनम् ! वह आसन ठीक होता है जिससे देर तक बैठा जा सकता है और सुख भी मिलता है ।

प्राणायाम :

योगसाधना में 'प्राणायाम' नितान्त आवश्यक होता है । इसके लिए आसन का सिद्ध होना उतना ही अपेक्षित होता है । क्योंकि प्राणों का नियंत्रण मन के निग्रह के लिए तथा मन का निग्रह आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक होता है ।

श्वास–उच्छ्वास की स्वाभाविक गति के अभाव को, 'प्राणायाम' कहते हैं । इसकी गति के व्युच्छेद के साथ–साथ चित्त की गति का भी व्युच्छेद होना

यथार्थ प्राणायाम है ।

'गीता' के अनुसार प्राणों का नियंत्रण ही प्राणायाम है । अर्थात् प्राणवायु को अपान में अथवा अपानवायु को प्राणवायु में ले जाना और इन दोनों की गति को अवरुद्ध करना प्राणायाम है ।

पतंजलि ने भी यही बात कही है । आसन स्थिर होने पर, श्वास–उच्छ्वास की गति को रोकना, प्राणायाम है । उनके ही शब्दों को ध्यान से सुनें–तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

'शिव संहिता' में प्राणायाम के पूरक, कुंभक और रेचक – इन तीन प्रकारों का वर्णन प्राप्त होता है । और कहा है कि प्राणायाम से पाप एवं दुःख का नाश होता है । तेज एवं सौन्दर्य बढ़ता है । दिव्यदृष्टि, श्रवणशक्ति, वाक्शक्ति आदि शक्तियाँ प्राप्त होती हैं । प्राणायाम से अनेक सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है ।

'बौद्धदर्शन' में प्राणायाम को आनापान स्मृति कर्मस्थान कहा गया है । 'आन' का अर्थ है सांस लेना और 'अपान' का अर्थ है सांस छोड़ना ।

जैन परंपरा में 'प्राणायाम' के संबंध में दो मत मिलते हैं । एक मत के अनुसार, प्राण का निरोध करने से शरीर में व्याकुलता उत्पन्न होती है और मन भी विचलित हो जाता है । मन स्वस्थ तथा स्थिर नहीं रह जाता है । पूरक, कुंभक और रेचक (प्राणायाम) करने में परिश्रम करना पड़ता है, जिससे मन में संक्लेश पैदा होता है । 'योगशास्त्र' में कहा गया है –

पूरणे कुम्भने चैव रेचने च परिश्रमः ।
चित्तसंक्लेश करणान्मुक्तेः प्रत्यूह–कारणम् ।।

'ज्ञानार्णव' में कहा गया है कि बाहर के वायु को शरीर के भीतर लेकर उसे अपान तक भर लेना 'पूरक' है । नाभि से अत्यंत प्रयत्नपूर्वक वायु को बाहर निकालना, बाहर फेंकना ही रेचक' है । पूरक से उपलब्ध वायु को नाभिस्थल में रोकना कुंभक है ।

प्राणायाम का आध्यात्मिक अर्थघटन भी किया गया है । 'द्वात्रिंशिका' में कहा गया है –

रेचकः स्याद्बहिवृत्तिरन्तर्वृत्तिश्च पूरकः ।
कुंभकः स्तंभवृत्तिश्च प्राणायामस्त्रिधत्थयम् ।।

बहिर्वृत्ति को, बाह्यभाव को बाहर फेंकना रेचक है, अन्तर्वृत्ति ग्रहण करना

पूरक है और उसी अन्तर्वृत्ति को हृदय में स्थिर करना कुंभक है ।

जैन योग-ग्रंथों में प्राणायाम के विषय में कई प्रकार के विवेचन विश्लेषण प्राप्त होते हैं । यदि आप लोगों को जिज्ञासा हो तो किसी अनुभवी, ज्ञानी साधक पुरुष के चरणों में बैठ कर 'योगशास्त्र', 'ज्ञानार्णव' और पतंजलि का 'योगदर्शन' ये तीन ग्रंथ पढ़ना । हालाँकि योगसाधना में प्राणायाम अपेक्षित होता है । क्योंकि इससे शरीर तथा मन का शुद्धीकरण होता है । प्राणायाम सिद्ध होने पर मृत्युकाल का एवं शुभाशुभ का ज्ञान होता है ।

प्रत्याहार :

प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का भी बड़ा महत्त्व है । क्योंकि प्रत्याहार के सिद्ध होने पर चित्त निरुद्ध हो जाता है और चित्तनिरोध से इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं ।

पतंजलि ने प्रत्याहार की परिभाषा में कहा है कि इन्द्रियों का अपने विषय से संबंध छूट जाने पर चित्त के स्वरूप में विलीन हो जाना ही प्रत्याहार है । जिससे इन्द्रियाँ पूर्णतः वश में हो जाती हैं ।

जैन परंपरा के अनुसार बाह्य तथा अभ्यंतर विषयों से इन्द्रियों को हटाना प्रत्याहार है । शांत योगी, इन्द्रियाँ तथा मन को विषयों से निवृत्त कर, इच्छानुसार जहाँ जहाँ धारण करता है उसे प्रत्याहार कहते हैं । संपूर्ण राग-द्वेष से मन को हटाकर अपने को आत्मा में केन्द्रित कर लेना प्रत्याहार है ।

धारणा :

योगसाधना के लिए 'धारणा' की भूमिका आवश्यक है ।

'योगशास्त्र' में कहा गया है – चित्त को स्थिर करना ही धारणा है । नाभि, हृदय, नासिका का अग्र भाग, कपाल, भृकुटी, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक, ये धारणा के स्थान हैं । इन स्थानों में से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना, धारणा के लिए आवश्यक है । तात्पर्य यह है कि चित्त को किसी एक स्थान पर एकाग्र करना, धारणा है ।

ध्यान : समाधि :

योग में ध्यान का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । चित्त कभी स्थिर नहीं रहता और किसी भी ध्येय वस्तु पर अधिक समय तक ध्यान ठहरता भी नहीं है । इसलिए योग में सर्वप्रथम चित्त की विकलता दूर कर, उसे स्थिर करने का निर्देश

किया गया है ।

अब मैं आपको भिन्न-भिन्न भारतीय दर्शनों के अनुसार ध्यान की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ बताता हूँ । साथ-साथ समाधि की भी व्याख्याएँ बताता हूँ ।

'ब्रह्मबिंदूपनिषद्' में कहा गया है कि हृदय में मन का तब तक निरोध करना चाहिए जब तक कि उसका क्षय न हो जाय ! समाधि की ऐसी अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी नहीं रहती है ।

सांख्यदर्शनानुसार 'ध्यानं निर्विषयं मनः ।' कहा गया है । मन का निर्विषय होना ही ध्यान है ।

योगदर्शनानुसार आत्मचिंतन करते-करते ईश्वर के एक ही प्रत्यय में तल्लीन हो जाना ही ध्यान है । इस ध्यान में केवल आत्मतत्त्व अनुभव में आना ही 'समाधि' है ।

हठयोग संहिता में बताया गया है कि प्राणायाम के द्वारा समाधि की सिद्धि अर्थात् वायु के निरोध के द्वारा मन का निरोध होता है ।

पतंजलि के अनुसार समाधि के दो भेद हैं – संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात । संप्रज्ञात समाधि में समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता है । असंप्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है ।

संप्रज्ञात समाधि चार प्रकार की है –

१. वितर्कानुगत, २. विचारानुगत, ३. आनन्दानुगत एवं ४. अस्मितानुगत । इस समाधि को 'सवितर्क समाधि' भी कहा गया है । चित्त को स्थिर करने के लिए इस समाधि में स्थूल वस्तु का आलंबन लिया जाता है । इन चारों का अभ्यास करते-करते चित्तवृत्तियों के सिर्फ संस्कार ही शेष रहते हैं । और वैराग्य के अभ्यास से शेष संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं । इन चारों संप्रज्ञात समाधियों को पार कर के साधक-योगी 'विवेकख्याति' प्राप्त करता है । चित्त में निरंतर विवेकख्याति का प्रवाह बहने से योगी के समस्त क्लेश तथा कर्म नष्ट हो जाते हैं । इसी परिपक्व स्थिति को 'धर्ममेघ समाधि' कहा है । इससे ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न होती है और उनके द्वारा योगी असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर, कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है ।

बौद्ध दर्शन में ध्यान :

वैदिक परंपरा की तरह बौद्ध दर्शन में भी चित्त को स्थिर करने के लिए ध्यान

की महत्ता का स्वीकार किया गया है । यह दर्शन कहता है ध्यान का उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति ही है । हीनयान परंपरा के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है और अर्हत् पद की प्राप्ति प्रधान उद्देश्य है । अर्हत् पद की प्राप्ति के लिए चार 'आयतन' का विधान है –

१. आकाशानन्त्यायतन, २. विज्ञानानन्त्यायतन, ३. अकिंचनायतन एवं ४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन । साधक जब इन आयतनों को पार करता हुआ अन्तिम अवस्था के पार पहुँचता है तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

महायान परंपरा के अनुसार बुद्धत्व की प्राप्ति करना चरम उद्देश्य है और कहा गया है कि जब तक प्रज्ञा–पारमिताओं का उदय नहीं होता तब तक बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती । प्रज्ञा–पारमिताओं के उदय के लिए समाधि आवश्यक है तथा समाधि के चार प्रकार बताये गये हैं ।

पहला प्रकार है वितर्क–विचार प्रीतिसुख एकाग्रसहित । यह समाधि, विषयभोग और अकुशल प्रवृत्तियों से अलग होकर वितर्क एवं विचार से उत्पन्न प्रीति और सुख की संवाहक है । इसमें चित्त सदैव चंचल रहता है ।

दूसरा प्रकार है प्रीतिसुख एकाग्रसहित । इस समाधि में वितर्क एवं विचार नहीं रहने से चित्त शांत रहता है । और प्रीति, सुख एवं एकाग्र – इन तीन अंगों के शेष रहने के कारण यह समाधि (ध्यान) आन्तरिक चित्त की एकाग्रतासहित प्रीतिसुख वाली होती है ।

तीसरा प्रकार है सुख एकाग्रसहित । इस ध्यान में योगी स्मृति और सम्प्रजन्ययुक्त होकर सुख का अनुभव करता है ।

चौथा प्रकार है एकाग्रतासहित । इस ध्यान में सुख–दुःख का प्रश्न ही नहीं उठता है । सभी वृत्तियाँ शांत होती हैं । बौद्ध दर्शन कहता है कि सौमनस्य और दौर्मनस्य के अस्त हो जाने पर सुख एवं दुःख भी नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार योगी समदर्शी अवस्था प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार बौद्ध दर्शन में भी अपनी अकुशल प्रवृत्तियाँ छोड़कर, एकाग्रता से चित्तस्वरूप को जानने के लिए समाधि को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है ।

जैनदर्शन में योगः ध्यान और समाधि :

जैनदर्शन में, संयम अथवा चारित्र की शुद्धि एवं वृद्धि के लिए ध्यान सर्वोत्तम साधन माना गया है । चित्त को किसी एक विषय पर केन्द्रित करना 'ध्यान'

है । ध्यान को निर्जरा एवं संवर का कारण भी बताया है । 'तत्त्वानुशासन' में कहा गया है – 'तद्ध्यानं निर्जरा हेतुः संवरस्य च कारणम् ।' परंतु चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिंदु पर केन्द्रित करना सरल नहीं है । क्योंकि चित्त, किसी भी विषय पर अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा टिक नहीं पाता है । स्थिर नहीं रहता है । ध्यान में एक मुहूर्त व्यतीत हो जाने के पश्चात् चित्त स्थिर नहीं रहता है । यदि स्थिर रह भी जायं तो वह चिंतन कहलायेगा अथवा आलंबन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलायेगा ।

योगी जब ध्यान में तन्मय हो जाता है तब उसे द्वैत–ज्ञान नहीं रहता है । वह समस्त राग–द्वेषादि से ऊपर उठकर चित्स्वरूप आत्मा के ही ध्यान में निमग्न हो जाता है । इस ध्यान को 'समरसीभाव' तथा 'सवीर्यध्यान' भी कहते हैं ।

'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा गया है –

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् । उत्तम संघयणवालों का एकाग्र चिंतानिरोध ध्यान है ।

वास्तव में तीर्थंकरों ने ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकात्मकता को ही ध्यान कहा है । जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्याता है । जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय है और ध्याता का ध्येय में स्थिर होना ही ध्यान है । यह कथन 'तत्त्वानुशासन' का है ।

'ध्यायते येन तद् ध्यानं, यो ध्यायति स एव वा ।
यत्र वा ध्यायते यद्धा, ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ।।

ध्यान कौन कर सकता है ?

यह महत्त्वपूर्ण बात है कि ध्यान कौन कर सकता है । ध्याता की योग्यता कैसी होनी चाहिए । ध्याता

१. परिग्रहत्यागी होना चाहिए ।

२. कषायों का निग्रह करनेवाला चाहिए ।

३. व्रतों को धारण करनेवाला चाहिए ।

४. मनोजय एवं इन्द्रियविजय करनेवाला चाहिए !

ध्यान की सिद्धि के लिए योगी को अपने चित्त का दुर्ध्यान, वचन का असंयम एवं काया की चंचलता का त्याग करना चाहिए । तभी वह तत्त्व में तल्लीनता प्राप्त कर सकता है । यह बात 'योगसार' नामक ग्रंथ में कही गई है –

निरुन्ध्यात् चित्त दुर्ध्यानं, निरुन्ध्यादयतं वचः ।
निरुन्ध्यात् कायचापल्यं तत्त्वतल्लीनमानसः ।।

अन्यत्र ध्यान के पाँच हेतु बताये गये हैं । वैराग्य, तत्त्वज्ञान, निर्ग्रन्थता, समचित्तता एवं परीषहजय । ये पाँच, ध्यान के हेतु हैं । "तत्त्वानुशासन" में चार हेतु भी बताये हैं – गुरु–उपदेश, श्रद्धा, सदा अभ्यास और स्थिर मन ।

मन की, चित्त की निर्मलता, शुद्धि ही यथार्थ शुद्धि है । इसके बिना ध्यान, व्रत, जप आदि से कोई लाभ नहीं है । मन की शुद्धि के बिना व्रतों का अनुष्ठान करना वृथा कायक्लेश है । मनःशुद्धि के लिए इन्द्रियजय और कषायजय करना, अति आवश्यक माना गया है ।

ध्यान के चार प्रकार :

अपने आगम–ग्रंथों में और योगसंबंधी अन्य साहित्य में ध्यान के प्रमुख चार प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है : १. आर्तध्यान, २. रौद्रध्यान, ३. धर्मध्यान और ४. शुक्लध्यान । इनमें पहले दो ध्यान आर्त एवं रौद्र अप्रशस्त, अशुभ ध्यान हैं । धर्म और शुक्ल प्रशस्त एवं शुभ ध्यान हैं । अप्रशस्त ध्यान दुःख देनेवाले होते हैं तथा प्रशस्त ध्यान मोक्षप्राप्ति के हेतु हैं ।

पहले मैं आपको आर्तध्यान के विषय में कुछ बातें बताता हूँ ।

आर्तध्यान :

दुःख के निमित्त या दुःख में होनेवाला ध्यान आर्तध्यान होता है ।

अथवा, मनोज्ञ वस्तु के वियोग एवं अमनोज्ञ वस्तु के संयोग आदि के कारण होनेवाला ध्यान आर्तध्यान कहलाता है ।

अथवा मोह के कारण सांसारिक वस्तुओं में रागभाव करना आर्तध्यान है । रागभाव से जो उन्मत्तता होती है वह अज्ञान के कारण होती है । आर्तध्यान के चार भेद 'स्थानांग सूत्र' में बताये गये हैं :

१. अनिष्ट संयोग से होनेवाला आर्तध्यान, पहला भेद है । अग्नि, सर्प, सिंह, जल आदि तथा शरीर, स्वजन, धन आदि के निमित्त मन को जो क्लेश होता है, वह आर्तध्यान है ।

२. इष्टवियोग से होनेवाला आर्तध्यान, दूसरा भेद है । मन की प्रिय वस्तुओं अर्थात् ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, परिवार आदि का वियोग होने पर वह आर्तध्यान होता है । अथवा इन्द्रियों के विषयों की क्षति होने पर मोह के कारण जो पीड़ा

होती है, वह 'इष्टवियोग' नाम का आर्तध्यान होता है ।

३. शूल, सिरदर्द आदि रोगों की वेदना के कारण उत्पन्न चिन्तापूर्ण विचार, 'रोगचिंता' नाम का तीसरा आर्तध्यान है ।

४. चौथा आर्तध्यान है भोगार्त आर्तध्यान । भोगेच्छाओं से लौकिक एवं पारलौकिक भोग्य वस्तुओं का चिंतन करना, यह आर्तध्यान है ।

इस ध्यान के कारण जीव सर्वदा भयभीत, शोकाकुल, संशयी, प्रमादी, कलहकारी, विषयी, निद्राशील, शिथिल, खिन्न एवं मूर्च्छाग्रस्त रहता है । उसकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती, विवेकशून्य होता है और वह राग–द्वेष के कारण संसार में भटकता है । 'ध्यानशतक' में कहा गया है :

रागी दोसो मोहो य जेण संसार हेयवो भणिया ।
अट्टंमि य ते तिण्णि वि तो तं संसार–तरुबीयं ।। १३ ।।

राग, द्वेष और मोह संसार के हेतु कहे गये हैं । ये तीनों का समावेश आर्तध्यान में होता है, इसलिए ये रागादि संसार–वृक्ष के बीज हैं ।

आर्तध्यान के कारण जीव 'तिर्यंचगति' प्राप्त करता है । इस ध्यान में जीव की लेश्याएँ कृष्ण, नील एवं कापोत होती हैं । यह ध्यान अशुभ कहा गया है ।

रौद्रध्यान :

रौद्रध्यान भी अशुभ–अप्रशस्त ध्यान है । इसमें कुटिल भावों की चिंतना होती है । जीव सभी प्रकार के पापाचार करने में उद्यत होता है । वह निर्दयी एवं क्रूर कार्य करनेवाला होता है । इसलिए रूद्र जीव के भाव को 'रौद्र' कहा गया है । 'ज्ञानार्णव' में कहा गया है – 'रूद्रस्य खलु भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते ।' इस ध्यान में हिंसा, झूठ, चोरी एवं धनरक्षा में मन का लीन होना तथा छेदन–भेदन आदि प्रवृत्तियों का समावेश होता है । इस ध्यान के भी चार भेद बताये गये हैं । एकाग्र चित्त से सुनना ।

१. अन्य प्राणियों को मारना या मरवाना, अन्य जीवों को काटना..... छेदना अथवा वध–बंधन द्वारा पीड़ित करना और उसमें हर्षित होना 'हिंसानन्द' नाम का पहला रौद्रध्यान है । ऐसा ध्यान करनेवाला जीव निर्घृण, निर्दय, कृतघ्न होता है और वह नरकगामी बनता हैं । वह कुटिल, मायावी, ईर्ष्यालु..... आदि होता है ।

दूसरा प्रकार है मृषानंद रौद्रध्यान का । असत्य, झूठी कल्पनाओं से ग्रस्त होकर

दूसरों को धोखा देने अथवा ठगने का चिंतन करना मृषानन्द रौद्रध्यान है। मृषानन्दी मनुष्य मनोवांछित फल की प्राप्ति के लिए सत्य को झूठ अथवा झूठ को सत्य बना कर लोगों को ठगता है और अपने आपको चतुर समझता है।

तीसरा भेद है चौर्यानन्द रौद्रध्यान का। चोरी संबंधी कार्यों, उपदेशों अथवा चोर-प्रवृत्तियों में कुशलता दिखाना चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। इस ध्यान के अन्तर्गत चोरी के कार्य के लिए निरन्तर व्याकुल रहना, चिन्तित होना अथवा दूसरों की संपत्ति के हरण से हर्षित होना, अथवा दूसरों की संपत्ति को हरण करने का उपाय बताना.... आदि का समावेश होता है।

चौथा प्रकार है संरक्षणानन्द रौद्रध्यान का। क्रूर परिणामों से जीवात्मा तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों से शत्रुओं को नष्ट करके, उनके ऐश्वर्य तथा संपत्ति को भोगने की इच्छा रखना, यह 'संरक्षणानन्द' नाम का रौद्रध्यान है। अथवा शत्रु से भयभीत होकर अपने धन, स्त्री, पुत्र, राज्यादि के संरक्षणार्थ तरह-तरह की चिंता करना संरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।

इस प्रकार रौद्रध्यान सर्वथा अपध्यान में लीन रहता है और दूसरे जीवों को कष्ट पहुँचाने के उपाय सोचता रहता है। इससे वह स्वयं पीड़ित होता है, ऐहिक-पारलौकिक भय से आतंकित रहता है, अनुकंपारहित होता है, निर्लज्ज बन कर नीच कर्म करता रहता है और पापों में आनन्द मनानेवाला होता है। 'आवश्यक सूत्र' में यह बात बतायी गई है। अब धर्मध्यान के विषय में संक्षेप में कुछ बातें बताता हूँ।

धर्मध्यान :

धर्मध्यान शुभ ध्यान है। क्योंकि इस ध्यान से जीव के राग-द्वेष मंद होते हैं। जीव आत्मचिंतन की ओर प्रवृत्त होता है। "स्थानांग सूत्र" में इस ध्यान को श्रुत एवं चारित्र धर्म से युक्त कहा है। धर्मध्यान के अधिकारी वे होते हैं, जो क्षमादि दश धर्मों का पालन करते हैं, इंद्रियों के विषयों से निवृत्त होते हैं तथा जीवदया में जो रत होते हैं।

एक धर्मग्रंथ में कहा गया है कि शास्त्रवचनों के अर्थों का, व्रतों का, समिति-गुप्तियों का एवं भावनाओं का चिंतन करना धर्मध्यान है।

योगी को इन्द्रिय संयम एवं मनोनिग्रह करनेवाली यथावस्थित वस्तु का आलंबन लेते हुए एकाग्रचित्त होकर ध्यान करना चाहिए। निर्विघ्न ध्यान, देश-काल एवं

परिस्थिति के अनुसार संपादित होता है। इस ध्यान के लिए ध्याता में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य होना चाहिए। इससे सहजता से मन को स्थिर किया जाता है। कर्मों को रोका जाता है और आत्मा वीतरागता की ओर अग्रसर होती है।

'ज्ञानार्णव' में कहा गया है –

चतस्रो भावना धन्याः पुराणपुरुषाश्रिताः ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते विधेया धर्म सिद्धये ।।

धर्मध्यान की सिद्धि के लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ – इन चार भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए।

धर्मध्यान कहाँ और कैसे करेंगे ? :

ध्यानविषयक ग्रंथों में कहा गया है कि ध्याता ऐसी जगह ध्यान न करे कि जहाँ स्त्री, पशु, क्षुद्र, प्राणी वगैरह हों। वह ऐसे निर्जन वन में चला जायं, जहाँ किसी प्रकार की बाधा का संभव न हो। वह किसी भी जगह, दिन अथवा रात्रि के समय ध्यान के लिए बैठ जायं। ध्यान का आसन सुखदायक होना चाहिए। बैठकर, खड़े रहकर अथवा लेटकर भी ध्यान किया जा सकता है। यही बात 'ध्यान–शतक' में कही गयी है –

जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोपरोहिणी होइ ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ, निसण्णो निवण्णो च ।। ३९ ।।

– दृष्टि स्थिर होनी चाहिए।
– श्वास–उच्छ्वास की गति मंद होनी चाहिए।
– बाह्य विषयों से अलगाव होना चाहिए।
– निद्रा, भय और आलस नहीं होना चाहिए।
– सभी प्रकार की चिन्ताओं से साधक मुक्त होना चाहिए।

इस प्रकार धर्मध्यान में लीन जीव आत्मविकास में द्रुतगति से अग्रसर होता है।

धर्मध्यान के चार प्रकार :

धर्मध्यान के चार प्रकार बताये गये हैं। 'योगशास्त्र' में कहा गया है –

आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात् ।
इत्थं वा ध्येय भेदेन धर्मध्यानं चतुर्विधम् ।।

१. आज्ञाविचय, २. अपायविचय, ३. विपाकविचय और ४. संस्थानविचय – यह चार प्रकार का धर्मध्यान है। ये प्रकार ध्येय की भिन्नता की दृष्टि से हैं।

'विषय' का अर्थ है चिन्तन। चार प्रकार का चिंतन ही चार प्रकार का धर्मध्यान है।

पहला है आज्ञाविचय। इस ध्यान में तीर्थंकर के उपदेशवचनों का चिंतन किया जाता है। तीर्थंकर सर्वज्ञ होते हैं, इसलिए उनके उपदेश में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती, उपदेश तर्क से बाधित नहीं होता और असत्य नहीं होता।

दूसरा धर्मध्यान है अपायविचय। राग–द्वेषादि कषाय तथा प्रमाद द्वारा उत्पन्न होनेवाले कष्ट और दुर्गति आदि का मनन करना अपायविचय धर्मध्यान है।

तीसरा है विपाकविचय। कर्मों के शुभ–अशुभ फल को विपाक कहते हैं। कर्मफल के क्षण–क्षण में उदित होनेवाली प्रक्रियाओं के बारे में विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान है। यह ध्यान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से किया जाता है।

चौथे संस्थानविचय धर्मध्यान के विषय में 'योगशास्त्र' में कहा गया है –

अनाद्यनंतस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः।
आकृतिं चिन्तयेद्यत्र संस्थानविचयः स तु ॥

अनादि–अनंतकाल से, अव्याहत रूप से जो अस्तित्व में है, उस जगत का ध्यान करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। वस्तुतः यह जगत उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त है। पर्याय की दृष्टि से पदार्थों का उत्पाद और व्यय होता रहता है, लेकिन द्रव्य की दृष्टि से पदार्थ नित्य ही रहता है। इस ध्यान में चौदह राजलोक की आकृति का चिंतन किया जाता है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक का चिंतन किया जाता है।

शुक्लध्यान :

चार प्रकार के ध्यान में चौथा और अंतिम ध्यान है शुक्लध्यान। आत्मा की अत्यंत विशुद्धावस्था को शुक्लध्यान कहा गया है।

'समवायांग सूत्र' में कहा गया है कि श्रुत के आधार से मन की आत्यंतिक स्थिरता एवं योग का निरोध शुक्लध्यान है।

'ठाणांग सूत्र' में शुक्लध्यान के प्रकार, लक्षण, आलंबन तथा अनुप्रेक्षाओं का निरूपण है।

शुक्लध्यान, कषायों के सर्वथा उपशांत होने पर होता है। यहाँ चित्त, ध्यान-धारणा के विकल्प से भी मुक्त होता है।

'शुक्लध्यान' के चार आलंबन होते हैं : क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति। 'ध्यानशतक' में कहा गया है –

अह खंति-मद्दव-ऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्प हाणाओ ।
आलंबणाइ जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ ।। ६९ ।।

शुक्लध्यान में प्रवेश पाने के ये चार आलंबन बताये गये हैं। क्षमा से, मृदुता से, सरलता से एवं परमानन्द ध्यान से आत्मा शुक्लध्यान में प्रवेश पाती है।

शुक्लध्यान के भी चार प्रकार हैं। कल उन प्रकारों का वर्णन करूँगा और साथ-साथ ८ योगदृष्टि का भी।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ६१

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या का प्रतिपादन किया है। दिनचर्या में उन्होंने 'योगाभ्यास' करने का विधान किया है। इसलिए योग के विषय में कुछ विस्तार से बता रहा हूँ! कल मैंने योग के अनन्य अंग ध्यान के विषय में बात की थी। आर्तध्यान, रौद्रध्यान एवं धर्मध्यान समझाने के बाद शुक्लध्यान की बात की थी।

शुक्लध्यान के चार प्रकार :

शुक्लध्यान के चार प्रकार बताये गये हैं – १. पृथक्त्व–वितर्क सविचार, २. एकत्व–वितर्क–अविचार, ३. सूक्ष्म क्रिया–अप्रतिपाती, और ४. व्युच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति।

पहले इन शब्दों को समझाता हूँ। 'गुणस्थान क्रमारोह' नाम के ग्रंथ में इन शब्दों की परिभाषा दी गई है –

श्रुतचिंता वितर्कः स्यात्, विचारः संक्रमो मतः।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं, भवत्येतत् त्रयात्मकम्॥ ६१॥

– पृथक्त्व = अनेकत्व। ध्यान करने की विविधता।

– वितर्क = श्रुतचिंता। चौदह पूर्वगत श्रुतज्ञान का चिंतन।

– विचार = संक्रम। परमाणु, आत्मा आदि पदार्थ, उनके वाचक शब्द एवं कायादि योग। इन तीनों में विचरण, संचरण एवं संक्रमण। यह पहला शुक्लध्यान है।

दूसरा प्रकार है – एकत्व–वितर्क–अविचार। इस ध्यान में एकत्व, अविचारता एवं सवितर्कता होती है। अर्थात् इस दूसरे प्रकार में एक ही आत्मद्रव्य का अथवा पर्याय का अथवा गुण का निश्चल ध्यान होता है। इस ध्यान में अर्थ, शब्द और योगों में विचरण नहीं होता है। यहाँ भावश्रुत के आलंबन से शुद्ध आत्मस्वरूप में चिंतन होता रहता है।

शुक्लध्यान के ये दो प्रकार, आत्मा को उपशमश्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी में चढ़ानेवाले होते हैं। अर्थात् ये दो प्रकार इन दो श्रेणियों में ही होते हैं। दूसरे

प्रकार के ध्यान का परिणाम वीतरागता होता है। क्षपक श्रेणीवाला ध्यानी आत्मा, ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त कर सर्वज्ञ बनता है।

तीसरा प्रकार है सूक्ष्मक्रिया–अप्रतिपाती। यह ध्यान चिंतनस्वरूप नहीं है। सर्वज्ञ वीतराग आत्मा को सब कुछ आत्मप्रत्यक्ष होने से उनको चिन्तनात्मक ध्यान की आवश्यकता ही नहीं रहती है। इस तीसरे प्रकार में मन–वचन–काया के बारह योगों का रुंधन होता है। सूक्ष्म मन–वचन–काया के योगों का रुंधन करनेवाला एक ही सूक्ष्म काययोग अवशिष्ट रहता है। यह तीसरे प्रकार का ध्यान, आत्मा की ऐसी अवस्था होती है कि जो 'अप्रतिपाती'–अविनाशी होती है।

चौथा प्रकार है व्युच्छिन्नक्रिया–अनिवृत्ति। इस ध्यान में सभी योग समाप्त हो जाते हैं। सभी योग विच्छिन्न हो जाते हैं। इस अवस्था का कभी परावर्तन नहीं होता है। यह अवस्था ही ध्यानस्वरूप होती है।

'आवश्यक सूत्र' में श्री हरिभद्रसूरिजी ने कहा है –

'**योगनिरोधो जिनानाममेव ध्यानम्।**' इसी बात को दूसरे शब्दों में आचार्यश्री रत्नशेखरसूरिजी ने कही है –

'**वपुषः स्थैर्यं ध्यानं केवलिनो भवेत्।**' काया की स्थिरता ही केवलज्ञानी का ध्यान होता है।

चार प्रकार के ध्यान के विषय में इतनी बातें बता कर, अब मैं आपको आठ प्रकार की योगदृष्टि के विषय में कुछ बातें बताना चाहता हूँ।

आठ योगदृष्टि :

आत्मा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखकर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने योग की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है। 'दृष्टि' की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है –

'**सच्छ्रद्धासंगतो बोधो दृष्टि रित्यभिधीयते!**' दृष्टि उसको कहते हैं जिससे समीचीन श्रद्धा के साथ बोध हो, ज्ञान हो। इससे असत् प्रवृत्तियाँ छूट जाती हैं और सत्प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं।

ये दृष्टियाँ आठ हैं : १. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा, ६. कान्ता, ७. प्रभा और ८. परा। 'योगदृष्टि समुच्चय' नाम के ग्रंथ में इन आठ दृष्टियों के विषय में विस्तार से बताया गया है। ग्रंथकार हैं आचार्यश्री हरिभद्र सूरिजी!

इन आठ दृष्टियों में जीव को किस प्रकार का ज्ञान, सविशेष तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, उसको आठ दृष्टांतों के द्वारा समझाया गया है – १. तृणाग्नि, २. गोमयाग्नि, ३. काष्ठाग्नि, ४. दीपकाग्नि, ५. रत्नप्रभा, ६. नक्षत्रप्रभा, ७. सूर्यप्रभा, ८. चंद्रप्रभा । जिस प्रकार इन अग्नियों की प्रभा उत्तरोत्तर तीव्र और स्पष्ट होती जाती है उसी प्रकार इन आठ दृष्टियों में भी सविशेष बोध की प्राप्ति स्पष्ट होती जाती हैं ।

इन आठ योगदृष्टियों के साथ–साथ चित्त के आठ दोष दूर होते जाते हैं – १. खेद, २. उद्वेग, ३. क्षेप, ४. उत्थान, ५. भ्रान्ति, ६. अन्यमुद्, ७. रुग् और ८. आसंग ।

आठ योगदृष्टियों के साथ–साथ यम, नियम आदि योगों के अंगों की क्रमशः प्राप्ति होती जाती है । इतनी भूमिका बताकर अब संक्षेप में आठ दृष्टियों का वर्णन शुरू करता हूँ ।

मित्रा दृष्टि :

इस दृष्टि में दर्शन की मंदता होती हैं, अहिंसादि यमों का पालन करने की इच्छा होती है और देवपूजा आदि धार्मिक अनुष्ठानों में खेद नहीं होता है । यद्यपि इस दृष्टि में जीव को ज्ञान प्राप्त होता है, परंतु स्पष्ट तत्त्वबोध नहीं होता है । इस भूमिका पर जीव का मिथ्यात्व अथवा अज्ञान इतना घना होता है कि वह ज्ञान पर आवरण डाल देता है ।

फिर भी साधक में कुछ योगबीज होते हैं –

१. सर्वज्ञ को वह अन्तःकरणपूर्वक नमस्कार करता है ।

२. आचार्य एवं तपस्वी की यथोचित सेवा करता है ।

३. औषधदान व शास्त्रदान देता है ।

४. वैराग्यभाव सहजरूप से होता है ।

५. देवपूजा करता है ।

६. शास्त्रों का श्रवण–पठन..... स्वाध्याय करता है ।

७. मैत्र्यादि भावनाओं का चिंतन–मनन करता है ।

८. मोक्ष की कारणभूत सामग्री को जुटाता रहता है ।

इस 'मित्रा दृष्टि' का बोध तृण के अग्नि जैसा होता है ।

२. तारा दृष्टि :

तारा दृष्टि में साधक मनुष्य, योगबीजों की पूर्णतः तैयारी कर विशेष ज्ञान प्राप्त करता है। यहाँ मनुष्य शौच–संतोष आदि नियमों का पालन करता है और आत्महित की प्रवृत्ति में उसको उद्वेग नहीं होता है। उसकी तात्त्विक जिज्ञासा भी प्रकट होती है।

तारायां तु मनाक् स्पष्टं, नियमश्च तथाविधः।
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥ ४१ ॥

'योगदृष्टि समुच्चय' ग्रंथ का यह श्लोक है।

दूसरी दृष्टि में गोमय–अग्नि की तरह क्षणिक सत्य का बोध होता है। अलबत्ता, गुरुसंग के कारण साधक की अशुभ प्रवृत्तियाँ बंद हो जाती हैं। उसको संसारसंबंधी किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। परिणामस्वरूप वह उचित प्रवृत्ति अवश्य करता है। अनजाने में भी वह अनुचित वर्तन नहीं करता है।

– वह इतना सावधान रहता है कि अपने द्वारा किये गए व्रतपूजनादि क्रियाकलापों से दूसरों को तनिक भी दुःख न हो।

– साधक इस दृष्टि में, वैराग्य की तथा संसार–असारता संबंधी योगकथाएँ सुनने में प्रीति रखता है।

– बड़े लोगों के प्रति आदरभाव रखता है और उनका बहुमान करता है।

– योगी, साधु, संन्यासी आदि के प्रति प्रेमपूर्ण एवं सद्भावपूर्ण व्यवहार करता है।

– इस दृष्टि में साधक, संसार एवं मोक्ष के विषय में गहरा मनन चिंतन करने में समर्थ नहीं होता है, फिर भी सर्वज्ञभाषित कथनों पर श्रद्धा रखता है।

– यहाँ इस दृष्टि में जीव योगलाभ प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा रखते हुए भी, सम्यग्दर्शन के अभाव के कारण न करने योग्य कार्य करता रहता है।

बला दृष्टि :

इस दृष्टि में योग का तीसरा अंग 'आसन' सिद्ध होता है। इसलिए कहा कि – "सुखासनसमायुक्तम्" यहाँ साधक का ज्ञान, काष्ठ के अग्नि जैसा स्पष्ट होता है। उसे तत्त्वज्ञान की अभिरुचि उत्पन्न होती है। उसको योगसाधना में किसी प्रकार का उद्वेग नहीं होता है।

जिस प्रकार सुंदर युवक, सुंदर युवती के साथ नाच–गान सुनने में दत्तचित्त

होकर अतीव आनन्द पाता है, उसी प्रकार शान्त, स्थिर योगी भी शास्त्र श्रवण करने में, तत्त्वज्ञान पाने में उत्साहित एवं आनन्दित होता है ।

इस दृष्टि में साधक विविध आसनों का सहारा लेकर, चारित्रविकास की सारी क्रियाओं को आलसरहित होकर संपादित करता है ।

उसकी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा–आसक्ति कम हो जाती है और वह धर्मक्रिया में निरत हो जाता है ।

– भले ही तत्त्वज्ञान सुनने को मिले अथवा न मिले, परंतु उसकी भावना इतनी निर्मल एवं पवित्र हो जाती है कि उसका कर्मक्षय होने लगता है ।

– शुभ परिणाम के कारण उसके समताभाव का विकास होता है । वह अनाग्रही बनता है । उसे जैसी भी वस्तु जीवनयापन के लिए मिल जाती हैं, उसी में वह संतुष्ट रहता है ।

– इस प्रकार, इस दृष्टि में साधक की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, सुखासनों द्वारा मन स्थिर होता है, समताभाव का उदय होता है और आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है ।

दीप्रा दृष्टि :

दीप्रा दृष्टि में योगांग प्राणायाम होता है, चौथा चित्तदोष 'उत्थान' दूर होता है । तत्त्वश्रवण होता है और सूक्ष्म बोध नहीं होता है ।

प्राणायामवती दीप्रा, न योगोत्थानवत्यलम् ।
तत्त्वश्रवण संयुक्ता सूक्ष्मबोध–विवर्जिता ।।

'योगदृष्टि समुच्चय' की यह बात है । दीपक के प्रकाश की तरह इस दृष्टि का दर्शन स्पष्ट और स्थिर होता है । फिर भी जैसे हवा के झोंके से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार तीव्र मिथ्यात्व के कारण यह दर्शन भी नष्ट हो सकता है।

'प्राणायाम' की यौगिक क्रिया से इस दृष्टि में शारीरिक तथा मानसिक स्थिरता आती है । 'भाव प्राणायाम' का भी प्रारंभ हो जाता है –

रेचनाद् बाह्यभावानामन्तर्भावस्य पूरणात् ।
कुंभनान्निश्चितार्थस्य प्राणायामश्च भावतः ।।

बाह्यभावों का रेचन, आन्तरभावों का पूरण एवं निश्चित अर्थबोध का कुंभक – यह है भाव प्राणायाम । इस भाव प्राणायाम पर जिस साधक ने अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह बिना संशय के प्राणों से भी ज्यादा धर्म पर श्रद्धा रखता

है। वह धर्म के लिए प्राणत्याग कर सकता है, परंतु प्राणों की रक्षा के लिए धर्म का त्याग नहीं करता।

इस दृष्टि में साधक यम–नियमों का अच्छा पालन करता है। बाधा या संकट उपस्थित होने पर व्रतपालन से मुँह नहीं मोड़ता है। इस दृष्टि में साधक अपने चारित्र का विकास तो करता है लेकिन पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। वह बाह्य पदार्थों की क्षणिकता और सांसारिक सुख–शान्ति के मर्म को पहचानता है, इसलिए वह जगत, आत्मा, पुण्य–पाप, वगैरह तत्त्वों के विषय में जानने के लिए ज्ञानी गुरु... मुनि आदि के पास जाने को उत्सुक रहता है। फिर भी मिथ्यात्व के कारण वह ज्यादा कर्मक्षय करने में समर्थ नहीं होता। यह दृष्टि भी मिथ्यात्व से प्रभावित होती है।

ये प्रथम की चार दृष्टियाँ योगदृष्टि होते हुए भी मिथ्यात्व से प्रभावित होती हैं। इसलिए धार्मिक व्रत–नियमों का यथाविधि पालन करने पर भी सम्यग् ज्ञान नहीं होता है। तत्त्वज्ञान की जो भी प्राप्ति होती है वह अस्पष्ट होती है।

संक्षेप में, ये चार दृष्टियाँ मिथ्यात्व–अवस्था की हैं। इन अवस्थाओं में जीव यम, नियम तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के विधिवत् पालन करने से शान्त, भद्र, विनीत, मृदु एवं चारित्र संपन्न बनते हैं। मिथ्यात्व को क्रमशः विनष्ट करते हुए अध्यात्मसाधना में अग्रसर बनते हैं।

स्थिरा दृष्टि :

जब साधक मनुष्य इस दृष्टि में प्रवेश करता है, तब 'प्रत्याहार' नाम का योगांग उसमें जाता है। उसका दर्शन सम्यक् बनता है। वह अभ्रान्त, निर्दोष एवं सूक्ष्म बोधवाला होता है। प्रत्याहार के कारण इस दृष्टि में साधक की मानसिक स्थिति संतुलित रहती है। अर्थात् वह बाह्य भोग–विलास की ओर से, अपनी इन्द्रियों के विषयों से मुक्त होकर मात्र चारित्रविकास पर ही अपने को केन्द्रित करता है। फलस्वरूप उसकी भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं। सूक्ष्मबोध हो जाता है। शरीर–आत्मा का भेदज्ञान हो जाता है। इंद्रियाँ संयमित हो जाती हैं। इस दृष्टि को रत्नप्रभा की उपमा दी गई है। रत्नप्रभा जिस प्रकार स्थिर, सौम्य, शान्त और दीप्त होती है वैसे ही इस दृष्टि का दर्शन भी स्थिर, सौम्य, शान्त और दीप्त होता है।

कान्ता दृष्टि :

– छट्ठी है कान्ता। यह दृष्टि, तारों के आलोक के समान शान्त और चिर

प्रकाशमान् होती है ।

– इस दृष्टि में 'धारणा' नाम के योगांग के संयोग से योगी को सुस्थिर अवस्था प्राप्त होती है । परोपकार एवं सद्विचारों से उसका हृदय प्लावित होता है । उसके चित्त की विकलता दूर होती है ।

– इस दृष्टि में साधक चारित्रविकास की अपूर्वता प्राप्त कर लेता है । चित्त की सारी मलिनताओं को दूर कर देता है और उसकी प्रत्येक क्रिया अहिंसा–वृत्ति की परिचायिका बन जाती है ।

– इन्द्रियों के शान्त हो जाने से तथा धार्मिक सदाचारों के सम्यक् परिपालन से उसका स्वभाव क्षमाशील बन जाता है । वह जहाँ भी जाता है वहाँ सभी प्राणियों का प्रियपात्र बन जाता है । कहा गया है –

'प्रियो भवति भूतानां, धर्मैकाग्रमनास्तथा ।'

– इस प्रकार, पूर्ववर्ती दृष्टियों की अपेक्षा इस दृष्टि में साधक को परम आनन्द की अनुभूति होने लगती है । सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति से उसे स्व–पर वस्तु का बोध हो जाता है तथा ईर्ष्या, क्रोध, मत्सर आदि दोषों का सर्वथा परिहार हो जाता है ।

प्रभा दृष्टि :

– इस दृष्टि में योगांग 'ध्यान' का प्रवेश होता है । कहा गया है – 'ध्यान–प्रिया प्रभा ।' प्रभा दृष्टि को 'ध्यान' प्रिय होता है ।

– इस दृष्टि में सूर्य के प्रकाश की तरह अत्यंत सुस्पष्ट दर्शन की प्राप्ति होती है । इस दृष्टिवाले साधक को किसी भी प्रकार का रोग नहीं होता है और 'तत्त्वप्रतिपत्ति' नामक गुण का आविर्भाव होता है ।

– ध्यान के कारण योगी के मानसिक अन्तर्द्वंद्व में कमी आ जाती है । उसकी समत्व–बुद्धि विकसित होने लगती है । वह दृढ़ता से आत्मचिंतन में लीन हो जाता है ।

– इस दृष्टि में वह साधक शान्त एवं क्षमाशील बन जाता है । शत्रु–मित्र को समभाव से देखता है ।

– सुख–दुःख, अच्छा–बुरा आदि भावनाओं से ऊपर उठकर, आत्मसुख की प्राप्ति में लग जाता है ।

– उसकी इच्छाओं का नाश हो जाता है । सदाचारों का पालन करते हुए

मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता जाता है । 'असंग–अनुष्ठान' यहाँ इस दृष्टि में प्रकट होता है ।

– चार प्रकार के अनुष्ठान, षोडषक–प्रकरण में बताये गये हैं –

तत्प्रीति–भक्ति–वचनासंगोपददं चतुर्विधं गीतम् ।
तत्त्वाभिज्ञैः परमपदसाधनं सर्वमेवैतत् ।।

१. प्रीति अनुष्ठान, २. भक्ति अनुष्ठान, ३. वचन अनुष्ठान, और ४. असंग अनुष्ठान ।

वचनानुष्ठान में स्वाभाविक प्रवृत्ति होना, असंगानुष्ठान होता है । इस प्रभा दृष्टि में साधक की अवस्था को प्रशांतवाहिता, विसभागपरिक्षय, शिववर्त्म, ध्रुवाध्वा भी कहा गया है । यह आत्मा की उत्कृष्ट दशा होती है, यहाँ जीव को परमानंद की प्राप्ति होती है ।

परा दृष्टि :

यह आठवी परा दृष्टि समाधिनिष्ठ होती है, यानी योग का आठवा अंग 'समाधि' यहाँ होता है । संगादि दोषों से यह दृष्टि मुक्त होती है । यहाँ सभी प्रवृत्तियाँ सात्मीकृत होती हैं और कोई भी आशय.... इच्छा.... यहाँ अवशिष्ट नहीं रहती है । इस दृष्टि का दर्शन चंदप्रभा की तरह शान्त एवं सौम्य माना गया है । यह दृष्टि समाधि की दृष्टि मानी गई है । यहाँ मन के सभी विचार नष्ट हो जाते हैं । आत्मा केवल आत्मा के रूप को ही देखता है । समाधि में ध्येय, ध्याता तथा ध्यान – इस त्रिपुटी का अंश भी नहीं रहता । यह अवस्था आसक्तिरहित और दोषरहित होती है । इस अवस्थावाले योगी को सांसारिक वस्तुओं के प्रति न मोह होता है, न आसक्ति रहती है ।

– इस दृष्टि में मोक्ष की भी इच्छा नहीं रहती है । इस प्रकार अनाचार तथा अतिचार से वर्जित होने के कारण साधक योगी क्षपक श्रेणी अथवा उपशम श्रेणी द्वारा आत्मा की पूर्णता पा लेता है ।

– आठवे गुणस्थान के द्वितीय चरण से योगी क्षपक श्रेणी द्वारा चार घाती कर्मों को नष्ट करके पूर्ण कर्म संन्यासयोग प्राप्त करता है । और बिना किसी बाधा के केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

– इस क्रम में योगी निर्वाण पाने की स्थिति में 'योगसंन्यास' नामक योग प्राप्त करता है । उसके अन्तिम समय में शेष चार अघाती कर्म नष्ट करके वह

मुक्ति पाता है ।

– मुक्त हो जाने पर वह पुनः न उस अवस्था में आता है, न संसार में आता है । मुक्त आत्मा अनंत शक्ति–अनंत वीर्य धारण कर आत्मसुख में लीन होता है । मुक्तावस्था में मन के कोई विचार नहीं होते ! न इच्छाएँ होती हैं, न व्याधियाँ होती हैं । वहाँ आत्मा अरूपी, अनामी और अव्याबाध स्थितिवाला होता है ।

इस प्रकार संक्षेप में आठ दृष्टि का विवेचन किया है ।

मोक्ष :

योग की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि 'मोक्षेण योजनाद् योगः' मोक्ष के साथ जीव को जोड़ने से योग कहा गया है । लक्ष्य, ध्येय, उद्देश्य की दृष्टि से मोक्ष का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है । आत्मविकास की परम स्थिति ही मोक्ष है । इसे पाने के लिए सम्यग् दर्शन–ज्ञान एवं चारित्र की एकरूप आराधना अपेक्षित होती है । जो योग का ही आनुषंगिक रूप है । राग–द्वेषादि भावों से युक्त होने पर आत्मा चार गतियों में भ्रमण करता है और जब राग–द्वेषादि भाव नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा निज स्वरूप में स्थित हो जाता है । जब संपूर्ण योग निरोध रूप चारित्र पूर्ण होता है, तभी मुक्ति होती है । अर्थात् संवर एवं निर्जरा द्वारा कर्मों का संपूर्ण उच्छेद ही मोक्ष है । संपूर्ण कर्मों का नाश होने पर आत्मा स्वयं ही सिद्धावस्था को प्राप्त होती है । सिद्धावस्था में आत्मा अशरीरी बन जाती है ।

– मोक्ष में प्रत्येक जीव का अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रहता है । ऐसी सिद्धात्मा संसार में पुनरागमन नहीं करती है । सिद्धों में 'अगुरुलघु' नामक गुण होता है, जिसके कारण, लोहे के समान गुरुता के कारण नीचे आने को विवश नहीं होना पड़ता और न रूई की तरह हलका होने से वायु का अनुसरण करता है । 'योगबिंदु' में कहा गया है –

एकान्तक्षीण संक्लेशो, निष्ठितार्थस्ततश्च सः ।
निराबाधः सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठते ॥ ५०४ ॥

आत्मा की सिद्धावस्था कर्मयुक्त, निराबाध, संक्लेशरहित, सर्वशुद्ध एवं सदानन्दी होती है ।

वहाँ निन्द्रा, तंद्रा, भय, भ्रान्ति, राग–द्वेष, पीड़ा, संशय, शोक, मोह, जन्म–जरा–मरण, क्षुधा, तृष्णा, खेद, मद, मूर्च्छा, मत्सर आदि दोष नहीं रहते हैं । आत्मा

वहाँ सदा एक अवस्था में रहती है । आत्मा एक अनिर्वचनीय सुखानुभूति का अनुभव करती है ।

वैदिक शास्त्रों में मोक्ष :

अब अपन भारतीय अन्य दर्शनों में मोक्ष के विषय में जो बातें बतायी गई हैं, उसका थोड़ा सा उल्लेख करेंगे ।

उपनिषद्, गीता, पुराण, योगवासिष्ठ आदि ग्रंथों में बताया गया है कि जब योगी 'चित्' को पूर्णतः विशुद्ध बना लेता है तब कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

'अमृतबिंदु' उपनिषद् में मन के अवरोध के मोक्ष का उपाय बतलाते हुए, योगाभ्यास से ज्ञान प्राप्त करने तथा मुक्ति प्राप्त करने का उल्लेख है ।

'ध्यानबिंदु' उपनिषद् एवं 'योगचूडामणि' उपनिषद् के अनुसार कुंडलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर मोक्षद्वार खुलता है ।

'योगदर्शन' में कहा गया है कि जीवात्मा का सृष्टि के साथ कर्तापन व भोक्तापन का संबंध अथवा पुरुष व प्रकृति का संयोग ही दुःख का कारण है । इस संयोग का कारण 'अविद्या' है । अविद्या के बंधन को तोड़ने के लिए 'योग' के अनेक उपाय हैं । वासना, क्लेश और कर्म ही संसार है । अथवा संसार के कारण हैं । इसलिए, इन वासनाओं को पूर्णतः नष्ट करके स्वरूप में अवस्थित हो जाना ही मोक्ष है । दूसरे शब्दों में कहें तो वासना का क्षय ही मोक्ष अथवा जीवनमुक्ति है ।

'तैत्तिरीय' उपनिषद् में कहा है कि मोक्ष, वाणी तथा मन से परे है, अगोचर है ।

'सांख्यदर्शन' में कहा गया है कि योगी जब संचित तथा क्रियमाण कर्मों को नष्ट कर देता है तथा प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है, अर्थात् सत्व, रज एवं तम के कार्य बंद हो जाते हैं, तब वह योगी 'विदेहमुक्त' कहलाता है ।

बौद्ध दर्शन में मोक्ष :

अब बौद्ध दर्शन की मान्यता भी सुन लो । वह भी मोक्ष की, निर्वाण की बात करता है ।

'मिलिन्दप्रश्न' में कहा है कि कर्म ही संसार की जड़ है । वह कर्म, कभी पीछा न छोड़नेवाली मनुष्य की छाया के समान है । कर्म से ही पुनर्जन्म एवं

संसारचक्र प्रारंभ होता है । इसलिए कर्म अथवा संसार से विमुक्त होने के लिए बौद्धधर्म में शील एवं समाधि का सतत अभ्यास करने का निर्देश है । जिनके द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

'विसुद्धिमग्ग' में कहा गया है –

'विसुद्धीति सव्वमलविरहितं अच्चंतपरिसुद्ध निव्वाणं वेदितव्यं ।'

निर्वाण एक आध्यात्मिक अनुभव है । उसकी प्राप्ति के लिए चित्तशुद्धि अपेक्षित है । क्योंकि चित्तशुद्धि अथवा जीवनशुद्धि ही निर्वाण है । निर्वाण की अवस्था में कोई चित्तमल नहीं रहता । अर्थात् यह संपूर्ण कर्मक्षय होनेवाली अन्तिम भूमिका है ।

'धम्मपद' में कहा गया है – 'निव्वाणं परमं सुखम् ।' आगे इसी ग्रंथ में कहा गया है – 'छेत्वा रागच्च दोषच्च ततो निव्वाणामेहेसि ।'

तात्पर्य यह है कि निर्वाण ही परम सुख है, राग–द्वेष का उच्छेद करने पर ही निर्वाण प्राप्त होता है ।

'मिलिंदप्रश्न' में कहा गया है कि – तृष्णा के निरोध से उपादान का, उपादान के निरोध से भव का, भव के निरोध से जन्म का और पुनर्जन्म रूक जाने से वृद्धत्व, मृत्यु, शोक, दुःख, बेचैनी आदि सभी प्रकार के दुःख समाप्त हो जाते हैं ।

राग–द्वेषादि एवं मोह का क्षय कर देना ही निर्वाण है । निर्वाण की स्थिति में दुःख का लेश भी नहीं रहता । वह स्थिति आनंद की अत्यधिक पराकाष्ठा होती है ।

वैदिक परंपरा की तरह बौद्ध दर्शन में भी निर्वाण के दो प्रकार बताये गये हैं – सोपाधिशेष और अनुपाधिशेष । सोपाधिशेष का अर्थ है जीवन्मुक्ति । अनुपाधिशेष का अर्थ है विदेहमुक्ति ।

श्री हरिभद्रसूरिजी की योगविषयक रचनाएँ :

जैन धर्म की परंपरा में आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी की योगविषयक रचनाएँ विशेष महत्त्व रखती हैं । उनकी प्रमुख छह रचनाएँ हैं –

१. योगशतक
२. ब्रह्मसिद्धान्तसार
३. योगविंशिका

४. योगदृष्टि समुच्चय

५. योगबिंदु

६. षोडशक ।

योगशतक और योगविंशिका प्राकृत भाषा में हैं, शेष चार कृतियाँ संस्कृत भाषा में हैं । अब इन छह ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय देकर प्रवचन पूर्ण करूँगा ।

१. योगशतक :

१०१ प्राकृत गाथाओं के इस ग्रंथ के प्रारंभ में ही निश्चय योग और व्यवहार योग का स्वरूप बताया गया है । गाथा ३८ से ५० तक साधक के आध्यात्मिक विकास के उपाय बताये गये हैं । गाथा ५९ से ८० तक बताया गया है कि चित्त को स्थिर करने के लिए साधक को किस तरह अपने रागादि दोषों का तथा उनके परिणामों का चिंतन करना चाहिए । इनमें शयन, आसन, आहार तथा लब्धियों का भी वर्णन है । योग का स्वरूप, योगाधिकारी के लक्षण एवं ध्यानरूप योगावस्था का सामान्य वर्णन है ।

२. ब्रह्मसिद्धान्तसार :

इस ग्रंथ में ४२३ श्लोक हैं । ब्रह्मादि सिद्धान्तों का वर्णन जैन योग की पद्धति से किया गया है । इस ग्रंथ में सभी दर्शनों का समन्वयवाला अंग महत्त्वपूर्ण है ।

३. योगविंशिका :

यह २० गाथाओं की छोटी सी रचना है । इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने आचारनिष्ठ एवं चारित्रसंपन्न व्यक्ति को ही योग का अधिकारी माना है । मोक्ष के साथ संबंध जोड़नेवाले धर्मानुष्ठानों को योग कहा है । योग के पाँच भेद – स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन तथा अनालंबन का वर्णन है । इस ग्रंथ में चैत्यवंदन की क्रिया का महत्त्व बताया गया है । इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि – ये चार यम बताये हैं । प्रीति, भक्ति, वचन और असंग अनुष्ठानों का वर्णन है । इस ग्रंथ पर महोपाध्याय श्री यशोविजयजी की एक टीका भी उपलब्ध है ।

४. योगदृष्टि समुच्चय :

इस ग्रंथ में २२७ संस्कृत श्लोक हैं । आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है ।

प्रथम प्रकार है योगदृष्टि का । आठ दृष्टि बतायी गई हैं ।

दूसरे प्रकार में इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग – ये तीन योग बताये हैं ।

तीसरे प्रकार में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी का वर्णन है ।

इस ग्रंथ पर स्वयं ग्रंथकार ने एक स्वोपज्ञ टीका रची है । वह ११७५ श्लोक प्रमाण है ।

५. योगबिंदु :

इस ग्रंथ में ५२७ संस्कृत पद्य हैं । इस ग्रंथ में योग के विस्तृत प्ररूपण के साथ-साथ अन्य परंपरासंमत योग की भी चर्चा हैं । उन योगों के साथ जैन योग की समालोचना भी की गयी है । योगाधिकारी दो प्रकार के बताये हैं – चरमावर्ती तथा अचरमावर्ती । चरमावर्ती योगी ही मोक्ष के अधिकारी बताये हैं ।

अपुनर्बंधक, सम्यग् दृष्टि, भिन्नग्रंथि, देशविरत तथा सर्वविरत का भी वर्णन किया गया है । योग की पूर्वसेवा का सुंदर वर्णन प्राप्त होता है ।

आध्यात्मिक विकास के क्रमशः अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय – इन पाँच योगों का वर्णन हैं ।

विष, गरल, सद्-असद्, तद्हेतु और अमृत – ये पाँच अनुष्ठान भी बताये हैं ।

६. षोडशक प्रकरण :

इस ग्रंथ के चौदहवें प्रकरण में योगसाधना में बाधक आठ चित्तदोषों का वर्णन किया गया है ।

सोलहवें प्रकरण में उक्त आठ दोषों के प्रतिपक्षी अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति – आठ गुणों का वर्णन हैं ।

योगसाधना द्वारा क्रमशः स्वानुभूतिरूप परमानन्द की प्राप्ति का निरूपण है । इस ग्रंथ पर महोपाध्याय यशोविजयजी की एक टीका भी है । 'योगदीपिका' उसका नाम है ।

इस प्रकार, "योगाभ्यासः" सूत्र के विषय में चार प्रवचन दिये हैं । इनमें कोई क्षति रह गई हो अथवा जिनाज्ञा से विपरीत बोला गया हो तो मिच्छामि दुक्कडं ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

प्रवचन : ६२

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी ने 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में गृहस्थ धर्म का समुचित प्रतिपादन किया है। गृहस्थ धर्म में 'योगाभ्यास' का भी समावेश किया है।

सामान्यतया लोग ऐसा समझते हैं कि 'योगाभ्यास' तो साधु-संतों का विषय है। योगीपुरुष ही योगाभ्यास करते हैं। गृहस्थ लोग योगाभ्यास कैसे करेंगे ? ग्रंथकार आचार्यदेव ने गृहस्थों को भी अल्प काल के लिए योगी बनने का उपदेश दिया है ! वैसे आप लोग अंतःकरण से तो योगी ही हो न ? आपकी चाहना योगी बनने की है न ? तो आप अवश्य योगाभ्यास में प्रवृत्त होंगे। आपको योगाभ्यास अच्छा लगेगा !

'योगाभ्यास' के बाद ग्रंथकार ने सूत्र दिया है –

तथा–नमस्कारादिचिन्तनम् ।। ८६ ।।

आपको 'श्री नमस्कार महामंत्र' आदि के विषय में चिंतन-मनन करना है। 'आदि' पद से 'लोगस्स सूत्र' के विषय में, 'नमुत्थुणं सूत्र' के विषय में, 'उवसग्गहरं सूत्र' के विषय में भी चिंतन-मनन करना चाहिए।

अध्ययन के बिना चिंतन नहीं :

चिंतन-मनन आप तभी कर सकेंगे, जब आपने अध्ययन किया होगा ! ज्ञानी गुरुदेव के पास विनय से बैठकर आपने नमस्कार महामंत्र के अर्थ का, रहस्य का विस्तृत एवं गहन अध्ययन किया होगा तो आप उस विषय में चिंतन-मनन कर सकेंगे। अध्ययन करना अति आवश्यक है।

सभा में से : समय ही नहीं मिलता !

महाराजश्री : सारा समय अर्थपुरुषार्थ में और कामपुरुषार्थ में चला जाता है। धार्मिक अध्ययन के लिए समय बचता ही नहीं है ! सही बात है न ? जितनी उपयोगिता अर्थ और काम की समझे हो, उतनी उपयोगिता धार्मिक अध्ययन की समझे हो क्या ? समय मिल सकता है। आपकी तमन्ना होनी चाहिए ! कई गृहस्थ नियमित अध्ययन-चिंतन-मनन करते हैं। वैसे कुछ महानुभावों को मैं जानता हूँ।

आज-कल कुछ २५-३० वर्षों से आप लोगों का लोभ बढ़ता जा रहा है। धन कमाने का लोभ बढ़ गया है और पाँच इन्द्रियों के विषयसुख भोगने का लोभ बढ़ गया है। ऐसे धनलोभी और विषयलोभी लोग अध्ययन नहीं कर सकते ! उनका मन प्रायः धन-संपत्ति में और विषयों में ही भटकता रहता है। ऐसे लोगों के लिए स्वर्ग के द्वार बंद रहते हैं !

धनलोभ स्वर्ग में नहीं जाने देता :

जिसस क्राइस्ट के पास एक युवक गया। युवक धनाढ्य था। उसने कहा : 'जिसस, मुझे ऐसा कोई मार्ग बतायें कि जिससे मुझे प्रभुप्राप्ति हो सके। आप मुझे स्वर्ग में जाने का सही रास्ता बताने की कृपा करें।'

जिसस ने कहा : 'मेरे भाई, स्वर्गप्राप्ति का मार्ग तो मैं तुझे बता सकता हूँ, परंतु उस मार्ग पर तू चल सकेगा क्या ?'

उस युवक ने कहा : 'मुझे मार्ग तो बताइये....'

जिसस ने कहा : 'ईश्वर से प्रेम करना; विनम्र एवं प्रामाणिक बने रहना; निरभिमान, अहिंसा, त्याग वगैरह गुण होने चाहिए।'

युवक ने कहा : 'ओह.... ये सारी बातें मेरे जीवन में हैं। बचपन से इन बातों का पालन मैं कर रहा हूँ। मैं नीति से धन कमाता हूँ, अभिमान मेरे में है ही नहीं, प्रामाणिक हूँ एवं सबके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखता हूँ।'

जिसस ने कहा : 'तब तो तुम्हारा मार्ग सरल बन जायेगा ! अब एक काम करना है !'

'वह क्या है ?' उत्सुकता से युवक ने पूछा।

'तू तेरी सारी संपत्ति का त्याग करके, तेरा धन दीन-अनाथ लोगों को बाँट दे। एक पैसा भी तुझे तेरे पास नहीं रखना है। इस प्रकार यदि तू संपत्ति का त्याग करता है तो तेरे लिए स्वर्ग के द्वार खुल जायेंगे ! वहाँ तुझे श्रेष्ठ सुख मिलेगा।'

युवान मौन रहा।

जिसस ने पूछा : 'क्यों भाई, तू तेरी सारी संपत्ति छोड़ने को तैयार है ?'

'नहीं प्रभो ! संपत्ति का त्याग करने की मेरी शक्ति नहीं है।'

वह युवक चला गया ! शिष्यों ने जिसस को पूछा :

'प्रभो, उस युवक को क्या स्वर्ग नहीं मिलेगा ?'

'नहीं, धन–दौलत के प्रलोभन में आकंठ डूबे हुए मनुष्य कभी स्वर्ग में नहीं जा सकते !'

वह युवक तो स्वर्ग में नहीं जा सकेगा, आप लोग मोक्ष में जायेंगे न ?

सभा में से : परिग्रही के लिए तो नरक है.... आप कहते हो न ?

महाराजश्री : तो फिर परिग्रह का त्याग करना है न ? यदि नरक का भय लगता हो, नरक में नहीं जाना हो, तो परिग्रह का त्याग करना ही होगा। परिग्रह की भयानकता का खयाल दिमाग में बना रहे, इसलिए धार्मिक अध्ययन करना आवश्यक है। जब विशिष्ट अध्ययन करानेवाले सद्गुरु का योग मिले, तब तो हजार काम छोड़कर, अध्ययन कर लेना चाहिए। सूत्रों के सामान्य अर्थ, शब्दार्थ तो सामान्य शिक्षक भी समझा सकता है। सूत्रों का रहस्य, तात्पर्यार्थ.... ऐदंपर्यार्थ, विशिष्ट ज्ञानीपुरुष ही बता सकते हैं। तमन्ना चाहिए, जिज्ञासा चाहिए अध्ययन करने की !

श्री पंचमंगल–महाश्रुतस्कंध :

इस ग्रंथ में कहा गया है – 'नमस्कारादिचिन्तनम्।' इसलिए आज मैं श्री नमस्कार महामंत्र के अर्थ के विषय में ही विवेचन करूँगा। यह विवेचन 'श्री महानिशीथ सूत्र' के आधार पर करूँगा। आप लोग एकाग्र मन से और अप्रमत्त भाव से सुनना। याद रखने का प्रयत्न करना। याद रहेगा तो ही चिंतन कर सकोगे। आप चिंतन कर सको, इसलिए ही ये सारी बातें बताने की हैं। केवल श्रवण करके ही कृतार्थ नहीं बन जाना !

श्रमण भगवान महावीर स्वामी को, उनके प्रथम शिष्य इन्द्रभूति गौतम प्रश्न करते हैं –

'से भयवं ! किमेयस्स अचिंतचिंतामणिकप्पभूयस्स णं पंचमंगल–महासुयक्खंधस्स णं सुत्तत्थं पन्नत्तं ?'

'हे भगवन्, अचिन्त्य चिन्तामणि रूप श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध–सूत्र के अर्थ कैसे कहे हुए हैं ?'

भगवंत ने कहा : 'हे गौतम ! जिस प्रकार तिल में तेल होता है, कमल में मकरंद होती है, लोक में पाँच अस्तिकाय होते हैं, वैसे सभी आगम–ग्रंथों में यह पंचमंगल महाश्रुतस्कंध रहा हुआ है। यह श्रुतस्कंध यथार्थ है, अद्भुत गुणों का कीर्तन–स्वरूप है और यथेच्छ फल प्रसाधक एवं स्तुतिवादरूप है।'

गौतमस्वामी ने पूछा : 'भगवंत, परम स्तुति किसकी करनी चाहिए ?'

भगवंत ने कहा : 'सकल विश्व में जो उत्तम हों, उसकी परम स्तुति करनी चाहिए। सकल विश्व में जो कोई उत्तमोत्तम हो गए और जो कोई होंगे, वे सभी अरिहंत, सिद्ध आदि ही हैं। उनके अलावा दूसरे कोई नहीं हैं। वे पाँच इस प्रकार हैं – अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

इन पाँचों का परम रहस्यभूत अर्थ अब बताया जा रहा है। सर्वप्रथम अरिहंत आदि पाँचों का संक्षिप्त अर्थ बताऊँगा, बाद में विस्तार से बताऊँगा।

१. 'अरिहंत' का अर्थ :

सर्वप्रथम 'अरहंत' नाम का अर्थ बताता हूँ। जो प्रवर उत्तमताओं के लिए योग्य होते हैं, वे 'अरहंत' कहलाते हैं। उनमें श्रेष्ठ आठ महाप्रातिहार्य की योग्यता होती है। वे मनुष्य, देव एवं दानवों से पूजित होने की योग्यता रखते हैं। उनकी महिमा अचिंत्य होती है। वे केवलज्ञान से अधिष्ठित होते हैं।

दूसरा नाम है 'अरूहंत'। सभी कर्मों का क्षय होने से, संसार के सभी अंकुर जल जाने से पुनः पैदा नहीं होते हैं, पुनः वे जन्म नहीं लेते हैं, पुनः उत्पन्न नहीं होने के कारण वे 'अरूहंत' कहलाते हैं।

तीसरा नाम है 'अरिहंत'। यह नाम अपने यहाँ प्रचलित है। 'अरि' यानी शत्रु और 'हंत' का अर्थ है 'हनन करना।' जिन्होंने आठ प्रकार के कर्मरूप शत्रुओं का नाश कर डाला है, भगा दिये हैं, पराजित कर दिये हैं, पीस डाले हैं.... वे "अरिहंत" कहलाते हैं।

यह संक्षिप्त अर्थ है अरिहंत का।

२. 'सिद्ध' का अर्थ :

अब 'सिद्ध' का अर्थ सुन लो।

अचल शुक्ल ध्यान की अचिंत्य शक्ति से एवं अपूर्व पराक्रम से योगनिरोध करके जिन्होंने परमानन्दरूप, महोत्सवरूप एवं महाकल्याणरूप अनुपम सुख सिद्ध किया है वे 'सिद्ध' कहलाते हैं।

– आठ प्रकार के कर्मों का क्षय करने से जो सिद्ध बने हैं और बनेंगे, वे सिद्ध कहलाते हैं।

– अथवा जिनके सभी प्रयोजन सिद्ध हो गये हैं यानी समाप्त हो गये हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

इस प्रकार स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग, नपुंसकलिंग, अन्यलिंग, गृहस्थलिंग, प्रत्येकबुद्ध, बुद्धबोधित.... यावत् कर्मक्षयसिद्ध आदि अनेक प्रकार से सिद्ध होते हैं ।

'आचार्य' का अर्थ :

– जो १८ हजार शीलांगों को धारण करते हैं, ३६ प्रकार के आचारों का यथार्थरूप से, बिना ग्लानि प्रतिसमय पालन करते हैं एवं प्रवर्तन करते हैं वे 'आचार्य' कहलाते हैं ।

– दूसरा अर्थ – दूसरों का एवं अपना आत्महित करते हैं इसलिए 'आचार्य' कहे जाते हैं । हित का आचरण करने से आचार्य कहे जाते हैं ।

– तीसरा अर्थ – प्राण जाते हों तो जायं परंतु जो पृथ्वीकाय वगैरह जीवों का समारंभ (हिंसा) करते नहीं हैं, कराते नहीं हैं और करने की आज्ञा देते नहीं हैं, इसलिए वे 'आचार्य' कहलाते हैं ।

– चौथा अर्थ – किसी ने बड़ा अपराध किया हो, तो भी, उसका मन से भी अशुभ नहीं करते हैं, इसलिए वे 'आचार्य' कहलाते हैं । मन से भी पापाचरण नहीं करते हैं इसलिए वे 'आचार्य' कहलाते हैं ।

इस प्रकार 'आचार्य' के चार अर्थ बताये । अब 'उपाध्याय' का अर्थ बताता हूँ ।

'उपाध्याय' का अर्थ :

– जो महापुरुष आश्रव के द्वार बंद करके,

– मन–वचन–काया के शुभ योगों में लीन बन के,

– विधिपूर्वक स्वर, व्यंजन, मात्रा, बिंदु, पद एवं अक्षरों से विशुद्ध बारह अंगरूप श्रुतज्ञान का स्वयं अध्ययन करके, दूसरों को अध्यापन कराते हैं ।

इस प्रकार वे स्व–पर के मोक्ष के उपायों का ध्यान करते हैं, इसलिए 'उपाध्याय' कहलाते हैं ।

दूसरा अर्थ सुन लो –

जो अनंत 'गम' एवं पर्याय के अर्थों के द्वारा १२ अंगरूप श्रुतज्ञान को स्थिर–परिचित करते हुए चिंतन करते हैं, अनुस्मरण करते हैं एवं एकाग्र मन से ध्यान करते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं ।

साधु का अर्थ :

– जो अत्यंत कठोर, उग्रतर एवं घोर तपश्चर्या करते हैं,

– अनेक प्रकार के व्रत, नियम, उपवास एवं विविध अभिग्रहों से जो संयम का परिपालन करते हैं,

– जो परीषह और उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं,

– जो सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त ऐसे मोक्ष को साधते हैं वे साधु कहलाते हैं।

ये अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु 'परमेष्ठि' कहे जाते हैं। इन पाँच परमेष्ठि को नमस्कार करने से कौन से फल की प्राप्ति होती है, यह बताता हूँ।

चूलिका का अर्थ :

'एसो पंचनमुक्कारो
सव्व पावप्पणासणो,
मंगलाणं च सव्वेसिं
पढमं हवइ मंगलं।'

इसको 'चूलिका' कहते हैं। इसका अर्थ सुन लो –

यह पाँच नमस्कार, ज्ञानावरणीयादि जो पापकर्म है, उन पापकर्मों का समूल नाश कर देते हैं। इसलिए ये नमस्कार सभी प्रकार के मंगलों में उत्कृष्ट मंगल है।

यहाँ तक मैंने आपको 'नमस्कार महामंत्र' का संक्षिप्त अर्थ बताया, अब विस्तार से भावार्थ एवं रहस्यार्थ बताता हूँ। शान्ति से सुनना। समझने का प्रयत्न करना। कुछ शास्त्रीय परिभाषा के शब्द सुनोगे ! जो समझ में नहीं आये, बाद में मेरे से समझ लेना।

नमस्कार महामंत्र का विस्तृत अर्थ :

'णमोकारणिज्जुत्ती' नाम के ग्रंथ में, जो कि 'श्री आवश्यक सूत्र' के अन्तर्गत है, उसमें श्री नमस्कार महामंत्र का ज्ञान प्राप्त करने के ग्यारह द्वार बताये हैं। यानी चिंतन के ११ प्रकार बताये हैं।

उप्पत्ति निक्खेवो पयं पयत्थो परुवणा वत्थुं।
अक्खेव पसिद्धि कमो पओयणं फलं नमुक्कारो॥

१. उत्पत्ति, २. निक्षेप, ३. पद, ४. पदार्थ, ५. प्ररूपणा, ६. वस्तु, ७. आक्षेप, ८. प्रसिद्धि, ९. क्रम, १०. प्रयोजन, ११. फल ।

इन ग्यारह प्रकार से नमस्कार महामंत्र का विचार किया जा सकता है । 'नमस्कार–निर्युक्ति' नाम के इस ग्रंथ में इन ग्यारह प्रकार से वर्णन मिलता है । कभी इस विषय के ज्ञाता विद्वान् महात्मा से सुनना–पढ़ना इस ग्रंथ को ।

सभा में से : आप ही सुनाने की कृपा करें ।

महाराजश्री : तो फिर 'धर्मबिंदु' ग्रंथ कौन सुनायेगा ? अधुरा रह जायेगा यह ग्रंथ ! इसलिए मैं तो 'नमस्कार–नियुक्ति' में से जितना मुझे आपके लिए उपयुक्त लगता है उतना अंश ही सुनाऊँगा । संक्षेप में इन ग्यारह द्वारों से नमस्कार महामंत्र का विवेचन करता हूँ –

१. उत्पत्ति :

नमस्कार की उत्पत्ति तीन प्रकार से बतायी गई है : (१) समुत्थान, (२) वाचना, (३) लब्धि । पहले 'समुत्थान' का अर्थ समझ लो :

समुत्थान : प्रणिपात के लिए शरीर के हाथ, पैर आदि अंगों का समुचित उत्थान । इससे नमस्कार उत्पन्न होता है । नमस्कार के लिए शरीर ही प्रमुख कारण है । नमस्कार का आधार और नमस्कार का सामीप्य शरीर का ही होता है ।

वाचना : नमस्कार की उत्पत्ति का दूसरा कारण है वाचना । दूसरों से अध्ययन ग्रहण करना, श्रवण करना अथवा नमस्कार का अर्थसहित ज्ञान प्राप्त करना, इसको 'वाचना' कहते हैं । वाचना नमस्कार का कारण होने से कहा जाता है कि वाचना से नमस्कार उत्पन्न होता है ।

लब्धि : तीसरा कारण है लब्धि । श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होना 'लब्धि' कहा जाता है । श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से नमस्कार उत्पन्न होता है । इस प्रकार पहला 'उत्पत्ति' द्वार बताया । अब दूसरा 'निक्षेप' द्वार बताता हूँ ।

२. निक्षेप :

निक्षेप का अर्थ है न्यास । प्रत्येक शब्द के कम से कम चार अर्थ देखे जाते हैं । ये चार अर्थ, शब्द के चार विभाग कहे जाते हैं । ये चार विभाग यानी चार निक्षेप ! चार प्रकार का न्यास ! (१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य और (४) भाव ।

नाम–नमस्कार : किसी वस्तु का नाम 'नमस्कार' दिया गया हो।

स्थापना–नमस्कार : किसी वस्तु पर 'नमस्कार' लिखकर, उसकी स्थापना की जाय।

द्रव्य–नमस्कार : कोई भावरहित नमस्कार करता हो। अथवा भाव–नमस्कार की पूर्वअवस्था एवं उत्तर अवस्था द्रव्य–नमस्कार है।

भाव–नमस्कार : सम्यग्दृष्टि जीव का उपयोग के साथ अरिहंत आदि परमेष्ठियों को जो नमस्कार करता है, वह भाव–नमस्कार है।

३. पद :

जिसके द्वारा अर्थबोध होता है उसे 'पद' कहते हैं। पद के पाँच प्रकार बताये गये हैं – (१) नामिक, (२) नैपातिक, (३) औपसर्गिक (४) आख्यातिक एवं (५) मिश्र।

(१) नामिक पद : संज्ञावाचक प्रत्ययों से सिद्ध होनेवाले शब्दों को 'नामिक पद' कहते हैं। जैसे अश्व, घट वगैरह।

(२) नैपातिक पद : अव्ययवाची शब्द। जैसे 'खलु', ननु.... आदि।

(३) औपसर्गिक पद : उपसर्गवाची शब्द। जैसे 'परि,' परा.....आदि।

(४) आख्यातिक पद : क्रियावाचक धातुओं से निष्पन्न शब्द। जैसे पचति, धावति... वगैरह।

(५) मिश्र पद : 'कृदंत' एवं 'तद्धित' प्रत्ययों से निष्पन्न शब्द। जैसे संयत, नायक, पावक..... इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि नमस्कार मंत्र के पदों की, प्रकृति एवं प्रत्यय की दृष्टि से व्याख्या करना, यह पद–द्वार है। प्रस्तुत में 'नमः' का नैपातिक पद में समावेश होता है।

४. पदार्थ :

'द्रव्य' एवं 'भाव' से नमस्कार मंत्र के पदों की व्याख्यान करना यह पदार्थ–द्वार है। उदाहरण देकर यह द्वार समझाता हूँ।

"नमो अरिहंताणं" में 'नमो' शब्द पूजार्थक है। पूजा दो प्रकार से संपन्न होती है –

(१) द्रव्यसंकोच से, एवं

(२) भावसंकोच से ।

– हाथ, मस्तक वगैरह नम्र बनाना, झुकाना, द्रव्यसंकोच है ।

– अरिहंत वगैरह के गुणों में विशुद्ध मन को जोड़ना, भावसंकोच है ।

द्रव्यसंकोच और भावसंकोच के संयोग से चार भंग होते हैं –

१. द्रव्यसंकोच हो, परंतु भावसंकोच न हो,

२. भावसंकोच हो, परंतु द्रव्यसंकोच न हो,

३. द्रव्यसंकोच हो और भावसंकोच भी हो ।

४. द्रव्यसंकोच न हो, भावसंकोच भी न हो ।

तीसरा भंग सर्वथा शुद्ध है । दूसरा भंग भी शुद्ध माना गया है । चूँकि भावसंकोच सर्वथा शुद्ध एवं श्रेष्ठ है । इस विषय में इसी ग्रंथ में महाराजा श्रीकृष्ण के दो पुत्र – पालक और शांबकुमार का उदाहरण दिया है ।

पालककुमार और शांबकुमार :

उस समय की यह बात है जब श्रीकृष्ण द्वारिका में राज्य करते थे । २२ वे तीर्थंकर श्री नेमिनाथ द्वारिका के बाह्य उद्यान में पधारे थे । महाराजा श्रीकृष्ण, भगवान नेमनाथ के प्रति अनन्य श्रद्धाभाव–स्नेहभाव रखते थे । उन्होंने अपने दो राजकुमारों को बुलवाये । पालक और शांबकुमार उपस्थित हुए । श्रीकृष्ण ने दोनों पुत्रों को कहा :

'तुम दोनों में से, कल सुबह जो सर्वप्रथम भगवान नेमिनाथ को वंदन करेगा, उसको उत्तम अश्व भेंट दिया जायेगा ।'

दोनों कुमार प्रसन्नचित्त हुए । अपने अपने कमरे में चले गए । पालन सोचता है : 'कल सुबह शीघ्र उठकर भगवान के पास जाऊँगा । शांब के पहले पहुँच जाऊँगा.... मुझे अश्व मिलेगा ।'

शांब सोचता है : 'कल सुबह भगवान नेमनाथ के दर्शन होंगे । मैं धन्य हो जाऊँगा ! तीर्थंकर के दर्शन महान् पुण्योदय से ही प्राप्त होते हैं ।'

पालक सुबह में उठते ही अश्व पर बैठकर, जहाँ भगवान, नेमिनाथ बिराजमान थे, वहाँ पहुँचा । उसके हृदय में भगवान के प्रति कोई भक्तिभाव नहीं था । उसके मन में अश्वरत्न की लालसा थी । उसने भगवान को वंदन किया, परंतु भाव से नहीं, मात्र द्रव्यसंकोचरूप द्रव्य–वंदन किया ।

शांबकुमार ने प्रातः उठते ही, शय्या में बैठकर, आँखें मूँदकर, दो हाथ की

अंजलि मस्तक पर रचाकर, भावपूर्ण वंदन किया। बाद में स्नानादि से निवृत्त होकर, उत्तम वस्त्र पहन कर, रथ में बैठकर समवसरण में गया। भगवंत को देखकर वह भावविभोर हो गया। उसने भगवंत को वंदना की और उचित जगह पर बैठ गया।

महाराज श्रीकृष्ण परिवार के साथ समवसरण में आये। भगवंत को वंदना कर, भगवंत को पूछा :

'भगवंत, आपको पहला वंदन पालक ने किया या शांब ने किया ? भगवंत ने कहा : 'हे राजन्, पहला वंदन शांब ने किया है।'

श्रीकृष्ण ने शांब को अश्व भेंट किया।

पालक का वंदन मात्र द्रव्य–वंदन था।

शांब का वंदन भाव–वंदन था।

कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्यविशुद्धि एवं भावविशुद्धि के द्वारा नमस्कार मंत्र का स्मरण, मनन एवं जाप करना चाहिए। श्रद्धा से पंचपरमेष्ठि की शरण लेना.... शरण ग्रहण करने की शारीरिक क्रियाएँ भी करना। इससे आत्मा में शक्ति जाग्रत होती है। कर्मबद्ध जीव, कर्मरहित विशुद्ध आत्माओं को द्रव्यशुद्धि एवं भावशुद्धि से नमस्कार करता है, तो वह जीव विशुद्धात्मा बनने का आदर्श फलीभूत करता है। यानी अशुद्ध आत्मा विशुद्ध बन जाती है।

'पदार्थ' द्वार का इतना विवेचन करने के बाद, अब 'प्ररूपणा' द्वार का विवेचन करता हूँ।

५. प्ररूपणा :

नमस्कार महामंत्र की प्ररूपणा दो प्रकार से की गई है –

(१) छह प्रकार से,

(२) नौ प्रकार से !

पहले मैं आपको छह प्रकार की प्ररूपणा बताता हूँ –

१. किम् ? नमस्कार मंत्र क्या है ?

२. कस्य ? नमस्कार किसको किया जाता है ? यानी अधिकारी कौन है ?

३. केन ? किसके द्वारा नमस्कार किया जाता है ?

४. क्व ? नमस्कार कहाँ रहता है ? उसका अधिकरण क्या है ?

५. कियत कालं ? नमस्कार कितना समय रहता है ?

६. कतिविधं ? नमस्कार के कितने प्रकार हैं ?

अब संक्षेप में इन ६ प्रकारों को समझाता हूँ –

पहला है 'किम्'। यानी प्रश्न किया गया है कि नमस्कार मंत्र क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? वह जीव है या अजीव ?

तात्पर्य यह है कि जीव ही नमस्कार है ! क्योंकि जीव ज्ञानमय है और नमस्कार मंत्र भी श्रुत–ज्ञानमय है। इसलिए कह सकते हैं कि पंच परमेष्ठिवाचक नमस्कार मंत्र जीव ही है। हाँ, नमस्कार मंत्र के जो आकृतिस्वरूप शब्द है, उन शब्दों को 'अजीव' कह सकते हैं, परंतु भाव तो ज्ञानमय ही है, इसलिए जीवस्वरूप है।

द्रव्य और गुण में कथंचित् भेदाभेदात्मक संबंध है, इसलिए नमस्कार मंत्र कथंचित् द्रव्यात्मक है और कथंचित् गुणात्मक है। इस विषय पर चिंतन करोगे, तो ही समझ पाओगे।

दूसरा प्रकार है 'कस्य'। यानी 'नमस्कार किसको किया जाता है ?' यह प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर सरल है।

जिसको नमस्कार किया जाता है वह पूज्य होता है, पूज्य को नमस्कार किया जाता है। जो नमस्कार करता है वह पूज्य का पूजक–दास होता है।

जो पूज्य होते हैं वे दो प्रकार के होते हैं – १. जीव, और २. अजीव। अरिहंत वगैरह जीवरूप होते हैं, जिनप्रतिमा वगैरह अजीवरूप होते हैं।

तीसरा प्रकार है 'केन'! प्रश्न है – 'नमस्कार मंत्र की उपलब्धि किस प्रकार होती है ?' इसका उत्तर यानी प्ररूपणा इस प्रकार बतायी गई है – जब तक आत्मा में कर्मों का क्षयोपशम (क्षयसहित उपशम होना 'क्षयोपशम' कहलाता है।) नहीं होता है, तब तक श्री नमस्कार महामंत्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती है। ज्ञानावरणीय एवं दर्शनमोहनीय कर्मों के क्षयोपशम से नमस्कार मंत्र की प्राप्ति हो सकती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के साथ ही मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने पर नमस्कार मंत्र की प्राप्ति होती है। नमस्कार मंत्र श्रुतज्ञानरूप है और श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। इसलिए मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के साथ ही मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होना आवश्यक है।

मिथ्यात्व–मोहनीय कर्म के अभाव में ही आत्मस्वरूप की श्रद्धा उत्पन्न होती है। अनन्तानुबंधी क्रोध–मान–माया और लोभ के साथ मिथ्यात्व का क्षय, उपशम

अथवा क्षयोपशम होना नमस्कार मंत्र की उपलब्धि के लिए आवश्यक है ।

चौथा प्रकार है 'क्व' ? प्रश्न है – 'नमस्कार कहाँ रहता है ? उसका आधार क्या है ?'

नमस्कार मंत्र का आधार एक नहीं है, आठ आधार हैं । एक समय में एक ही आधार बनता है, आठ आधारों में से !

नमस्कार मंत्र के आठ आधार इस प्रकार हैं –

१. जीव, २. अजीव, ३. अनेक जीव, ४. अनेक अजीव, ५. जीव–अजीव, ६. एक जी–अनेक अजीव, ७. अनेक जीव–एक अजीव, ८. अनेक जीव–अनेक अजीव ।

पाँचवा प्रकार है 'कियत् कालम् ?' प्रश्न है – 'नमस्कार मंत्र की काल–मर्यादा कितनी है ?'

'उपयोग' की दृष्टि से नमस्कार की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है । कम और ज्यादा अन्तर्मुहूर्त ही होता है ।

क्षयोपशमरूप लब्धि की अपेक्षा से जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है, उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ ज्यादा होती है ।

छट्ठा प्रकार है 'कतिविधम् ?' प्रश्न है – 'नमस्कार के प्रकार कितने होते हैं ?'

नमस्कार के मुख्य रूप से पाँच प्रकार होते हैं । अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु – इन पाँच पदों के पूर्व 'नमः' पद जुड़ा हुआ है, इसलिए नमस्कार पाँच प्रकार के हैं, ऐसा कह सकते हैं ।

नौ प्रकार से प्ररूपणा :

६ प्रकार की प्ररूपणा बताने के बाद अब नौ प्रकार की प्ररूपणा बताता हूँ। श्री नमस्कार महामंत्र का चिंतन कितना व्यापक हो सकता है – आप समझते हो न ? यह सब चिंतन की सामग्री है । नौ प्रकार इस तरह हैं –

१. सत्पद, २. द्रव्यप्रमाण, ३. क्षेत्र, ४. स्पर्शना, ५. काल, ६. अंतर, ७. भाग, ८. भाव और ९. अल्पबहुत्व ।

पहला है सत्पद यानी सत्ताद्वार । इसमें यह विचार करने का है कि – नमस्कार को प्राप्त जीव चारों गति में अवश्य होते हैं, परंतु नमस्कार को प्राप्त करते हुए जीव कभी होते हैं, कभी नहीं भी होते हैं । यदि होते हैं तो कम से कम एक–

दो या तीन होते हैं । उत्कृष्ट से सूक्ष्म क्षेत्र–पल्योपम के असंख्येय भाग के प्रदेशराशि–प्रमाण होते हैं ।

'क्षेत्रपल्योपम' शायद आप लोग नहीं जानते होंगे । यह 'काल' का नाप है । अध्ययन का विषय है ।

दूसरा प्रकार है 'द्रव्यप्रमाण' का । द्रव्यप्रमाण यानी संख्या । नमस्कार को पूर्वप्रतिपन्न जीव जघन्य से सूक्ष्म क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवे भाग के प्रदेशराशि–प्रमाण होते हैं, उत्कृष्ट से कुछ ज्यादा ।

तीसरा प्रकार है क्षेत्र का । नमस्कार प्राप्त जीव ऊर्ध्वलोक में अनुत्तर देवलोक में जाते समय सात भाग प्रमाण लोकाकाश में होते हैं । अधोलोक में छट्ठी नरक में जाते समय पाँच भाग प्रमाण लोकाकाश में होते हैं ।

चौथा प्रकार है स्पर्शना का । क्षेत्र और स्पर्शना में थोड़ा सा अन्तर है । क्षेत्र के विषय में केवल आधारभूत आकाश ही लिया जाता है और स्पर्शना में आधारक्षेत्र के चारों ओर का आकाशप्रदेश लिया जाता है, जिसको छूकर आधेय रहा हुआ हो । नमस्कारप्राप्त जीव की स्पर्शना, क्षेत्र की तरह ही समझना ।

पाँचवा प्रकार है 'काल' का । नमस्कार का काल दो प्रकार का है – १. उपयोग काल, २. लब्धिकाल ।

– उपयोग की अपेक्षा से नमस्कार का काल अन्तर्मुहूर्त का है ।

– लब्धि की अपेक्षा से नमस्कार की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है ।

छट्ठा प्रकार है 'अंतर' का । अंतर यानी विरहकाल । एक जीव की अपेक्षा से विरहकाल होता है । विविध–अनेक जीवों की अपेक्षा से अंतर नहीं होता है । एक जीव की अपेक्षा नमस्कार का अंतर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से 'अर्धपुद्गलपरावर्त' में कुछ न्यून वैसा अनंतकाल होता है । 'पुद्गल–परावर्त' अध्ययन का विषय है । अवश्य अध्ययन करना चाहिए ।

सातवा प्रकार है 'भाग' का । जो जीव नमस्कार नहीं पाये हैं वे जीव, नमस्कारप्राप्त जीवों की तुलना में अनन्तगुण ज्यादा हैं ।

आठवा प्रकार है 'भाव' का । भाव तीन प्रकार के हैं – उपशम, क्षयोपशमिक और क्षायिक । नमस्कार का समावेश क्षयोपशम भाव में होता है । यह सामान्य नियम है । राजा श्रेणिक, श्रीकृष्ण वगैरह को क्षायिकभाव में था नमस्कार और जीव जब उपशम श्रेणि में होता है तब उपशमभाव में होता है नमस्कार ।

नौवा प्रकार है 'अल्पबहुत्व' का ।

– नमस्कार को पा रहे जीव सबसे कम होते हैं ।

– जो जीव नमस्कार पाये हुए हों वे असंख्यातगुण ज्यादा होते हैं ।

– नमस्कारप्राप्त जीव, जघन्य से उत्कृष्ट में विशेष ज्यादा होते हैं ।

– उपशमभाववाले नमस्कारप्राप्त जीव सबसे कम होते हैं, ।

– क्षयोपशमवाले नमस्कारप्राप्त जीव ज्यादा होते हैं ।

– क्षायिकभाववाले (सिद्धपरमात्मा) सबसे ज्यादा होते हैं ।

संसारी जीवों की अपेक्षा से, क्षायिक भाववालों से क्षयोपशम भाववाले अधिक होते हैं ।

इस प्रकार, आज 'प्ररूपणाद्वार' तक पाँच द्वार बताये । नमस्कार महामंत्र के विषय में चिन्तन करते रहो ! शेष ६ द्वार आगे बताऊँगा ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

प्रवचन : ६३

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने 'धर्मबिन्दु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या बताते हुए कहा है –

'तथा–नमस्कारादिचिन्तनम्' ।। ८६ ।।

नमस्कार महामंत्र आदि का चिन्तन करना चाहिए । यह महत्त्वपूर्ण बात कही है ग्रन्थकार ने । आप गृहस्थ हैं, फिर भी श्रावक हैं, तो आपको तत्त्वचिंतन करना ही चाहिए । तत्त्वचिंतन आप तभी कर पाओगे जब आपके पास तत्त्वज्ञान होगा । ज्ञानी सद्गुरु से आपने तत्त्वज्ञान पाया होगा तो ही आपके पास तत्त्वज्ञान होगा ।

आप तत्त्वज्ञानी बनें इस भावना से, 'श्री नमस्कार निर्युक्ति' ग्रंथ के माध्यम से श्री नमस्कार महामंत्र को विस्तार से समझाने का प्रयत्न करता हूँ । आप लोग समझने का प्रयत्न करें । जो बात आप नहीं समझें, प्रवचन के बाद योग्य समय में आकर समझ सकते हैं ।

अब अपन, कल जहाँ से विषय छोड़ा था, आगे बढ़ते हैं । कल 'प्ररूपणा' तक के ५ द्वारों का विवेचन किया था, आज ६ से ११ द्वारों का विवेचन करने की भावना है । यदि कुछ द्वार शेष रह जायेंगे तो कल उनका विवेचन करूँगा!

६. वस्तु :

'वस्तु' द्वार से यह सोचने का है कि 'नमस्कार के योग्य पूज्य कौन है ?'

अनंत गुणों के निधानस्वरूप अरिहंत आदि पंचपरमेष्ठि ही 'वस्तु' हैं, यानी नमस्करणीय हैं, पूज्य हैं ! नमस्करणीय पाँच वस्तु अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं । ये गुणमय होने से मूर्तिमंत गुण जैसे ही हैं । इसलिए जो गुणार्थी भव्य जीव हैं, उनके लिए पूज्य हैं, मोक्षार्थी भव्य जीवों के लिए ये पंचपरमेष्ठि मोक्ष के हेतु हैं, इसलिए पूज्य हैं ।

अरिहंत आदि पंचपरमेष्ठि मोक्षमार्ग के हेतु किस प्रकार हैं, यह बताते हुए 'नमस्कार निर्युक्ति' में कहा गया है –

मग्गो अविप्पणासो आयारे विणयया सहायत्तं ।
पंचविहनमुक्कारं करेमि एएहिं हेऊहिं ।। १७ ।।

नमस्कार के पाँच हेतु बताये गये हैं –

१. मोक्षमार्ग, २. अविनाशिता, ३. आचार, ४. विनय, और ५. सहायता ।

– मोक्षमार्ग का उपदेश देने से अरिहंत मोक्ष के हेतु हैं । चूँकि मोक्षमार्ग उनके आधीन होता है ! वे ही मोक्षमार्ग के उपदेशक हैं । सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग अरिहंत ही बताते हैं, इसलिए वे नमस्करणीय हैं, पूज्य हैं ।

– सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप मोक्षमार्ग की आराधना के फलस्वरूप जो 'सिद्ध' बने हैं, मोक्ष पाये हुए हैं, वे कृतार्थ होते हैं, इसलिए वे पूज्य हैं । वे गुणमय हैं इसलिए पूज्य हैं । यदि सिद्ध भगवंत नहीं होते तो 'मोक्ष में आत्मा अविनाशी होती है,' ऐसा हम नहीं सोच सकते थे । 'मोक्ष अविनाशी है, मोक्ष में सभी सिद्ध भगवंत अविनाशी है,' ऐसा ज्ञान जो होता है, वही सिद्धों का उपकार है !

दूसरी बात यह है कि 'हमें जो अभीष्ट है उस मोक्ष का यह ज्ञानादि सन्मार्ग है' – ऐसा निश्चय सिद्धों के कारण ही होता हैं । 'मोक्ष अविनाशी है' इस बोध के कारण ही 'सम्यग्दर्शन आदि सन्मार्ग है,' ऐसा विश्वास मुमुक्षु जीव को होता है । यदि सिद्ध नहीं होते तो यह विश्वास कैसे होता ?

तीसरी बात यह है कि – 'सिद्ध अविनाशी होते हैं और उनका सुख अनंत –अनुपम होता है,' यह बात जानने से मोक्षमार्ग में प्रीति होती है । मोक्षमार्ग में प्रीति होना, यह कोई छोटी बात नहीं है । यह उपकार सिद्ध भगवंतों का है ।

अब निश्चयनय और व्यवहारनय की अपेक्षा से यह बात बताता हूँ ।

– निश्चयनय से आत्मा ही मोक्षमार्ग है और मोक्षमार्ग की रुचिस्वरूप सम्यक्त्व भी आत्मा ही है !

– व्यवहारनय से जिस प्रकार अरिहंत मोक्षमार्ग के उपदेशक होने से उपकारी हैं वैसे क्षीणसंसारी सिद्धभगवंत भी अविनाशिता के कारण उपकारी माने गये हैं ।

– आचार्य भगवंत आचारों का उपदेश देते हैं, इस कारण वे परमोपकारी हैं, अतः वे पूज्य हैं ।

– उपाध्याय भगवंत सूत्रपाठ देते हैं और शिष्यों को विनीत बनाते हैं इसलिए वे पूज्य हैं ।

– साधु भगवंत आचारवान् एवं विनयवान् होते हैं, वे मोक्षमार्ग की आराधना

में दूसरों को सहाय करते हैं, इस कारण वे पूज्य हैं ।

अरिहंत आदि पंचपरमेष्ठि स्वर्ग, अपवर्ग आदि फल के निमित्त बनते हैं, इसलिए वे पूज्य हैं ।

अरिहंत :

मार्गदर्शक : निर्यामक : महागोप :

अरिहंत भगवंत की विशेषताएँ बताते हुए 'नमस्कार निर्युक्ति' के रचयिता कहते हैं –

अडवीइ देसिअत्तं तहेव निज्जामणा समुद्दम्मि ।
छक्कायरक्खणट्ठा, महागोवा तेण वुच्चति ।।

– संसाररूप अटवी में भटक गये जीवों को अरिहंत सही मार्ग बताते हैं, इसलिए वे 'मार्गदर्शक' कहलाते हैं ।

– संसाररूप समुद्र में डूबते हुए जीवों को, समुद्र में डूबती हुई नैया को पार लगाते हैं, इसलिए वे 'निर्यामक' कहलाते हैं ।

– षट्काय (पृथ्वी–जल–तेज–वायु–वनस्पति और त्रस) जीवों की रक्षा का प्रयत्न करने से वे 'महागोप' कहलाते हैं ।

इस कारण अरिहंत नमस्कार–योग्य पूजनीय हैं ।

अरिहंत : गुणों के कारण पूजनीय :

अरिहंत परमात्मा के कुछ विशिष्ट गुणों को बताते हुए कहा है –

राग–द्वेस–कसाए इंद्रियाणि अ पंच वि परीसहे ।
उवस्सग्गे नायमंता नमोऽरिहा तेण वुच्चंति ।। ३२ ।।

अरिहंत राग, द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परीषह और उपसर्गों को नमाते हैं इसलिए वे नमस्कार के लिए योग्य हैं, पूज्य हैं । "अरिहंत" की परिभाषा करते हुए ग्रंथकार ने यही कहा है –

'इन्द्रिय, विषय–कषाय–परीषह, वेदना एवं उपसर्ग – इन शत्रुओं का नाश करनेवाले 'अरिहंत' कहलाते हैं ।

'अरिहंत' की परिभाषाएँ :

– दूसरी परिभाषा इस प्रकार है – सभी जीवों के आठ प्रकार के जो कर्म होते हैं वे ही जीव के शत्रु होते हैं । कर्मरूप शत्रुओं का नाश करनेवाले 'अरिहंत' कहलाते हैं ।

– तीसरी परिभाषा इस प्रकार है – अज्ञान.... मोह आदि दुःखों का जो नाश कर देते हैं वे 'अरिहंत' कहलाते हैं ।

– चौथी परिभाषा इस प्रकार है – वंदन एवं नमस्कार के जो योग्य होते हैं, पूजा एवं सत्कार के जो योग्य होते हैं और मुक्ति पाने के लिए जो योग्य होते हैं वे 'अरहंत' कहलाते हैं ।

– पाँचवी परिभाषा इस प्रकार है – जिसमें जीव स्थिरभाव को पाते हैं वह सिद्धि कहलाती है, वह सिद्धि लोकाग्र पर स्थित है । वहाँ जानेवाले 'अरिहंत' होते हैं । यानी वैसी योग्यता धारण करनेवाले 'अरिहंत' कहलाते हैं ।

छट्ठी परिभाषा सुन लो – जो देव, असुर एवं मनुष्यों द्वारा पूजा पाते हैं, जो राग–द्वेषादि शत्रुओं का हनन करते हैं और जो कर्मरूपी मेल का नाश करनेवाले होते हैं वे 'अरिहंत' कहलाते हैं ।

नमस्कार का प्रभाव :

परिभाषाएँ बताने के बाद, अरिहंत–नमस्कार का प्रभाव बताता हूँ ।

– अरिहंत को किया हुआ भावपूर्वक नमस्कार, जीव को हजारों भवों से मुक्त करता है और बोधिबीज आत्मभूमि में बो देता है ।

– भवक्षय की इच्छावाला मनुष्य, यदि अपने हृदय में अरिहंत को नमस्कार करता है, उसके दुर्ध्यान का निवारण अवश्य हो जाता है । वह धर्मध्यान में लीन रहता है ।

– जिस प्रकार अग्नि का भय उत्पन्न होने पर, सब कुछ छोड़कर, मूल्यवान रत्न लिया जाता है, युद्धभय उत्पन्न होने पर विशिष्ट शस्त्र ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार मृत्य के समय बारह अंगों का अध्ययन छोड़कर 'अरिहंत' को ही नमस्कार किया जाता है । इसलिए इस नमस्कार में बारह अंगों का समावेश हुआ है । नमस्कार १२ अंगों का सार है ।

– अरिहंत को किया हुआ नमस्कार, सभी पापों का नाश करनेवाला है और सभी मंगलों में उत्कृष्ट मंगल है ।

पाँच 'वस्तु' में पहली वस्तु 'अरिहंत' का वर्णन पूर्ण किया । अब दूसरी वस्तु 'सिद्ध' का वर्णन करता हूँ ।

सिद्ध :

'सिद्ध' सामान्यतया १४ प्रकार के बताये गये हैं – १. नामसिद्ध, २. स्थापनासिद्ध,

३. द्रव्यसिद्ध, ४. कर्मसिद्ध, ५. शिल्पसिद्ध, ६. विद्यासिद्ध, ७. मंत्रसिद्ध, ८. योगसिद्ध, ९. आगमसिद्ध, १०. अर्थसिद्ध, ११. यात्रासिद्ध, १२. अभिप्रायसिद्ध, १३. तपसिद्ध, १४. कर्मक्षयसिद्ध ।

प्रस्तुत में हमें 'कर्मक्षयसिद्ध' की बात करना है । जिन्होंने कर्म के सभी अंशों का नाश किया है, वे 'कर्मक्षयसिद्ध' कहलाते हैं ।

– ध्यानरूप अग्नि से आठ प्रकार के कर्म भस्मीभूत करने से सिद्ध को सिद्धपना प्राप्त होता है ।

– सिद्ध भगवंतों की आत्माएँ लोकाकाश के अग्रभाग पर प्रतिष्ठित हैं । वहाँ प्रतिष्ठित आत्माएँ वापस इस संसार में लौटती नहीं हैं ।

– उस सिद्धभूमि का नाम ईषद् प्राग्भारा है । दूसरा नाम 'सीता' है । उससे एक योजन दूर लोक का अंतभाग है । अनुत्तर देवलोक के सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन दूर वह सिद्धभूमि है ।

– वह सिद्धभूमि निर्मल जलबिंदुओं के वर्णसमान है, हिम जैसे वर्ण की है, अथवा गाय के दूध के रंग जैसी है ।

– उस सिद्धभूमि के एक क्षेत्र में अनन्त सिद्ध रहे हुए हैं ।

– सिद्ध अशरीरी होते हैं । आत्मप्रदेश घन हुए होते हैं । वे ज्ञान और दर्शन में उपयुक्त बने हुए होते हैं । वे साकार एवं निराकार उपयोगवाले होते हैं ।

– सिद्ध भगवंतों का जो सुख होता है वैसा सुख न तो मनुष्य का होता है, न सभी देवों का ! वैसा सुख चक्रवर्ती राजा को नहीं होता है, किसी देव को भी वैसा सुख नहीं होता है । सिद्धों को किसी प्रकार की पीड़ा भी नहीं होती है ।

– सिद्धों का सुख विशिष्ट आह्लादरूप होता है । यह आह्लाद अत्यंत उपमातीत, एकान्त, उत्सुकतारहित एवं स्थिर होता है ।

– वे सिद्ध भगवंत दुःखरहित, जन्म–जरा–मृत्युरहित होते हैं । शाश्वत् एवं अव्याबाध सुख का वे अनुभव करते हैं ।

– सिद्धों को किया हुआ भाव–नमस्कार, हजारों भवों से मुक्ति दिलाता है और बोधिबीज को आत्मभूमि में बो देता है ।

– भवक्षय करने की इच्छावाला मनुष्य, अपने हृदय में सिद्ध को नमस्कार करता रहता है, वह दुर्ध्यान से मुक्त होता है और धर्मध्यान में लीनता पाता है।

– मृत्यु के समय निरंतर... पुनःपुनः सिद्धों को नमस्कार करना चाहिए ।

इस प्रकार दूसरी 'वस्तु' सिद्ध का वर्णन किया । अब तीसरी वस्तु 'आचार्य' का वर्णन करता हूँ । आप एकाग्रचित्त से सुनना ।

आचार्य :

पाँच प्रकार के आचारों का पालन करनेवाले, उपदेश देनेवाले और आचारों को बतानेवाले होने से वे 'आचार्य' कहलाते हैं । पाँच प्रकार के आचार के नाम हैं – ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार तपाचार एवं वीर्याचार ।

आचार्य को किया हुआ भाव–नमस्कार हजारों भवों से मुक्ति दिलाता है, सम्यक्त्व प्राप्त कराता है, दुर्ध्यान का नाश करता है । मृत्यु के समय पुनःपुनः आचार्य को नमस्कार किया जाता है ।

आचार्य को किया हुआ यह नमस्कार, सभी पापों का नाश करनेवाला है और सभी मंगलों में यह तीसरा मंगल है ।

उपाध्याय :

चौथी वस्तु है उपाध्याय । जिनके पास आकर साधु गण धार्मिक सूत्रों का अभ्यास करते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं ।

– तीर्थंकर परमात्मा द्वारा प्ररूपित द्वादशांगी – आचारांग से दृष्टिवाद पर्यंत सूत्रों को गणधर आदि महापुरुष स्वाध्याय कहते हैं । उपाध्याय ऐसे स्वाध्याय का उपदेश देते हैं ।

– 'उपाध्याय' का दूसरा अर्थ भी बताया गया है :

'उ' यानी उपयोग करना और 'ज्झा' यानी ध्यान करना । उपयोगपूर्वक जो ध्यान करते हैं वे 'उज्झा' कहलाते हैं । 'उज्झा' यानी उपाध्याय ! ऐसे उपाध्याय को भावपूर्वक किया हुआ नमस्कार, जीव को हजारों भवों से मुक्त करता है और सम्यक्त्व देता है । जो मुमुक्षु आत्मा अपने हृदय में उपाध्याय को नमस्कार करता है उसका दुर्ध्यान दूर हो जाता है । मृत्यु के समय यह नमस्कार पुनःपुनः किया जाता है । उपाध्याय को किया हुआ नमस्कार सभी पापों का नाश करनेवाला है और सभी मंगलों में यह चौथा मंगल है ।

साधु :

अब पाँचवी वस्तु 'साधु' का भावार्थ बताता हूँ ।

जो इच्छित अर्थ को साधते हैं वे साधु कहलाते हैं । साधु निर्वाणसाधक सम्यग्

दर्शनादि योगों की साधना करते हैं, अनुष्ठान करते हैं एवं सभी जीवों के प्रति समभावी होते हैं ।

प्रश्न : साधुओं में कौन सा तप, नियम एवं संयम का गुण होता है कि जिसके कारण उनको वंदन किया जाता है ?

उत्तर : साधु विषयसुख से दूर रहनेवाले होते हैं, निर्मल चारित्र उनका नियम होता है और गुणप्राप्ति एवं आत्मकार्य में वे सदैव उद्यमशील होते हैं, इसलिए उनको वंदन किया जाता है ।

– मोक्षमार्ग की आराधना में जो असहाय होते हैं, उनको साधु सहाय करते हैं, इसलिए उनको वंदन किया जाता है । पारमार्थिक साधना की प्रवृत्ति में जगत जब असहाय होता है तब असहाय जीव को संयम–पालन में सहाय करते हैं साधु, इसलिए उनको वंदन किया जाता है ।

– साधु को किया हुआ भाव–नमस्कार, जीव को संसारपरिभ्रमण से मुक्त करता है और सम्यक्त्व प्रदान करता है ।

– अपने हृदय में साधु–नमस्कार करनेवालों का दुर्ध्यान दूर होता है । मृत्यु के समय यह नमस्कार बार–बार किया जाता है ।

– साधु को किया हुआ नमस्कार, सभी पापों का नाश करता है और वह सभी मंगलों में पाँचवा मंगल है ।

इस प्रकार 'वस्तु' द्वार के माध्यम से नमस्कार महामंत्र का पंचपरमेष्ठि भगवंतों का भावार्थ बताया । पुनःपुनः चिंतन करने जैसी बाते हैं । अब सातवा द्वार 'आक्षेप' बताता हूँ ।

७. आक्षेप और ८. प्रसिद्धि :

नमस्कार महामंत्र को विशेषरूप से समझने के लिए जो शंकाएँ की जाती हैं, उसको 'आक्षेप' कहते हैं । आक्षेप यानी शंका । इन शंकाओं का समाधान आठवे 'प्रसिद्धि' द्वार में किया गया है ।

शंका : नमस्कार संक्षिप्त नहीं है और विस्तृत भी नहीं है ! यदि संक्षिप्त होता तो मात्र सिद्धों को और साधुओं को ही नमस्कार किया जाता । विस्तार से नमस्कार होता तो अनेक प्रकार से होता ! पंचविध नमस्कार योग्य नहीं लगता !

यह नमस्कार मंत्र, सामायिक सूत्र की तरह संक्षिप्त नहीं है वैसे १४ पूर्वों की तरह विस्तृत भी नहीं है ! इन दोनों से नमस्कार मंत्र का सूत्र भिन्न है !

समाधान : नमस्कार–सूत्र संक्षिप्त ही है। परंतु संक्षिप्त अर्थ जो आपने किया वह नहीं है कि सिद्धों को और साधुओं को ही नमस्कार करना ! चूँकि अरिहंत वगैरह अवश्य साधु हैं, परंतु सभी साधु अरिहंत नहीं हैं !

अरिहंत वगैरह अवश्य साधु है, क्योंकि उनमें साधु के गुणों का सद्भाव है, परंतु सभी साधु अरिहंत वगैरह नहीं हैं ! कितने साधु अरिहंत हैं, कितने साधु केवलज्ञानी हैं, कितने साधु आचार्य हैं, कितने साधु उपाध्याय हैं और कितने साधु हैं। वे सभी अरिहंत नहीं हैं।

इसलिए केवल साधु को नमस्कार करने से, अरिहंत आदि को नमस्कार करने से जो फल मिलता है वह फल नहीं मिलता है। इसलिए नमस्कार के पाँच प्रकार मानने चाहिए। दो प्रकार का नमस्कार नहीं मानना चाहिए।

'सिद्ध' को नमस्कार करने मात्र से 'अरिहंत' के सभी गुणों का बोध नहीं होता है। वैसे 'साधु' कहने से आचार्य एवं उपाध्याय के गुणों का बोध नहीं होता है।

९. क्रम :

आक्षेप (शंका) एवं प्रसिद्धि (समाधान) द्वारों का वर्णन कर, अब 'क्रम' द्वार के माध्यम से नमस्कार मंत्र का विशेष अर्थ बताता हूँ।

प्रश्न : नमस्कार मंत्र में सर्वप्रथम अरिहंत, दूसरे सिद्ध, तीसरे आचार्य, चौथे उपाध्याय और पाँचवे साधु – यह क्रम क्यों रखा गया है ?

उत्तर : क्रम दो प्रकार का होता है – (१) पूर्वानुपूर्वी और (२) पश्चानुपूर्वी। 'अनानुपूर्वी' क्रम नहीं है। नमस्कार महामंत्र में पंचपरमेष्ठि का क्रम पूर्वानुपूर्वी का है।

– अरिहंत के उपदेश से सिद्धों का ज्ञान होता है, इसलिए सर्वप्रथम 'अरिहंत' को नमस्कार किया गया है। बाद में ध्येयरूप सिद्धों को नमस्कार किया गया है। अरिहंत जब पृथ्वी पर नहीं होते हैं तब आचार्य उनका कार्य करते हैं, इसलिए तीसरा क्रम आचार्य का है। मोक्षमार्ग का ज्ञान उपाध्याय देते हैं इसलिए चौथा क्रम उपाध्याय का है और मोक्षमार्ग की साधु स्वयं साधना करते हैं एवं दूसरों को सहायता करते हैं इस दृष्टि से उनका क्रम पाँचवा है।

१०. प्रयोजन और ११. फल :

क्रम बताने के बाद प्रयोजन और फल बताया जाता है।

– प्रयोजन है कर्मक्षय एवं मोक्षप्राप्ति। नमस्कार करने से शीघ्र कर्मक्षय होता

है । भाव–नमस्कार किये बिना अनंत कर्मपुद्गलों का नाश नहीं होता है ।

– फल है मंगल की प्राप्ति ! इहलौकिक सुखों की प्राप्ति एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति ! नमस्कार–निर्युक्ति में कहा गया है –

इहलोई अत्थकामा आरुग्गं अभिरई अ निप्फत्ति ।
सिद्धयी सग्ग सकुलप्पच्चयाई य परलोए ।। १३७ ।।

इस गाथा का अर्थ सुन लो –

'इस लोक में (इस वर्तमान जीवन में) अर्थ, काम, आरोग्य और अभिरति की प्राप्ति होती है और परलोक में सिद्धि, स्वर्ग और उत्तम कुल की प्राप्ति होती है ।'

– अर्थ–काम की प्राप्ति होती है यानी अर्थ–काम शुभ विपाकवाले बनते हैं । इस जीवन में अर्थ–काम से अनुकूल आनंद प्राप्त होता है उसको 'अभिरति' कहते हैं ।

– नमस्कार का मुख्य फल है सिद्धि, इसलिए प्रथम फल सिद्धि का बताया। परंतु विरल आत्माएँ ही सिद्धि पाते हैं, दूसरे आराधक जीव, दूसरे जन्म में सुकुल में जन्म पाते हैं अथवा स्वर्ग में जाते हैं ।

इस प्रकार 'नमस्कार–निर्युक्ति' ग्रंथ के माध्यम से नमस्कार मंत्र का विशिष्ट बोध करानेवाले ११ द्वारों से विवेचन किया है । नमस्कार महामंत्र के विषय में चिंतन करने की बातें बतायी हैं । करोगे न चिंतन ?

सभा में से : इतनी सारी बातें याद नहीं रहेगी ।

महाराजश्री : याद रखने के लिए अध्ययन करना होगा । सुनने मात्र से याद नहीं रह सकती ये सारी बातें ! और ये बातें याद रहेगी तो ही चिंतन कर पाओगे !

फल दो प्रकार के बताये हैं – इहलौकिक और पारलौकिक ! इहलौकिक फल में प्रधान फल माना गया है धनप्राप्ति का ! नमस्कार महामंत्र का भावपूर्वक स्मरण करने से, वह मंत्र धन भी देता है ! शास्त्र में उदाहरण मिलते हैं । एक उदाहरण 'त्रिदंडी' का बताता हूँ :

त्रिदंडी का उदाहरण :

एक गाँव था ।

उस गाँव में श्रेष्ठिपुत्र शिवकुमार रहता था । माता–पिता की मृत्यु के बाद

वह निर्धन हो गया ! वह गाँव में भटकता रहता था ।

एक दिन एक त्रिदंडी संन्यासी के साथ उसकी मैत्री हो गई ।

संन्यासी ने शिवकुमार को पूछा :

'तुझे धनवान् होना है ?'

'अवश्य !'

'तो मैं कहूँ वैसा काम करना होगा ।'

'करूँगा ।'

'जिसका कोई मालिक न हो वैसा अखंडित मृतदेह मनुष्य का ले आ । तो मैं तुझे धनवान् बना दूँगा ।'

शिवकुमार मनुष्य का मृतदेह ले आया । संन्यासी को बताया । संन्यासी ने मृतदेह देखा । जैसा चाहिए था वैसा ही था । उसने शिवकुमार को कहा : 'अब, इस मृतदेह को रात्रि के समय स्मशान में ले जाना होगा । वहाँ ही सारा विधि-विधान किया जायेगा । कल ही तू धनवान बन जायेगा !'

शिवकुमार इस प्रकार कभी स्मशान में गया हुआ नहीं था । उसको भय लगा... परंतु उसके पास नमस्कार महामंत्र था । उसके पिता ने उसको कहा था : 'बेटा, जब तुझे भय लगे तब इस मंत्र का जाप करना, यह मंत्र महान् विद्या है ।'

शिवकुमार मृतदेह लेकर, संन्यासी के साथ स्मशान में गया । एक जगह पसंद कर, वहाँ मुरदा रखा । मुरदे के हाथ में तलवार थमा दी । शिवकुमार को मुरदे के पास बिठा दिया । संन्यासी वहाँ बैठ गया और मंत्रजाप करने लगा ।

संन्यासी के मंत्रजाप से मुरदे के शरीर में वेताल का प्रवेश हुआ । मुरदा, जो लेटा हुआ था, धीरे धीरे खड़ा होने लगा ।

शिवकुमार भय का मारा काँपने लगा । परंतु अपने मन में श्री नमस्कार महामंत्र का स्मरण करने लगा । महामंत्र के प्रभाव से, मुरदा जो खड़ा हो गया था, जमीन पर गिर पड़ा । पुनः संन्यासी के मंत्रजाप के प्रभाव से मुरदा खड़ा हुआ, शिवकुमार के मंत्रजाप के प्रभाव से मुरदा जमीन पर गिर पड़ा । संन्यासी ने शिवकुमार को पूछा : 'क्या तू कोई मंत्र जानता है ? मंत्रजाप करता है ?' शिवकुमार ने अपना सिर हिलाकर मना कर दिया । संन्यासी ने तीसरी बार मंत्रजाप किया । मुरदा खड़ा हो गया । परंतु शिवकुमार के मंत्रजाप के प्रभाव से जमीन पर गिर पड़ा । मुरदे में प्रविष्ट वेताल-देव क्रोधायमान हुआ । उसने तलवार से संन्यासी के दो टूकड़े

कर डाले । संन्यासी का शरीर सोना बन गया । शिवकुमार ने देखा । वेताल मुरदे में से निकल कर चला गया ।

शिवकुमार सोना काट-काट कर अपने घर ले गया ! वह श्रीमंत बन गया ! नमस्कार मंत्र का उसको फल मिला ।

यह दृष्टांत है इहलौकिक फल की प्राप्ति के विषय में । अब पारलौकिक फल के विषय में एक दृष्टांत देकर प्रवचन पूर्ण करूँगा ।

मथुरा नगरी में जिनदत्त नाम का श्रावक रहता था ।

जिनदत्त श्रावक दया, दान, दक्षता आदि गुणों से शोभायमान था । उसके पास धन-संपत्ति और वैभव भी बहुत था । श्री नमस्कार मंत्र का प्रतिदिन जाप करता था । परमात्मा जिनेश्वरदेव का पूजक था ।

मथुरा में 'हुंडिक' नाम का चोर भी रहता था । वह रोजाना मथुरा में चोरी करता था । एक दिन नगररक्षकों ने उसको पकड़ लिया, राजा के पास ले आये । राजा ने उसको फाँसी दे दी । परंतु जब उसको नगर के बाहर फाँसी पर लटकाने ले जा रहे थे तब उसके पीछे गुप्तचर लगा दिये गये थे, यह मालुम करने के लिए कि इस चोर के कौन-कौन साथी हैं ।

चोर को रास्ते में जोरों की प्यास लगी । उसने आसपास देखा । वहाँ जिनदत्त श्रावक खड़ा था । चोर ने उसको कहा :

'जिनदत्त, तुम दयावंत हो ! मुझे तीव्र प्यास लगी है । पानी के बिना मैं मर जाऊँगा ।'

जिनदत्त ने कहा : 'मैं तुझे पानी लाकर देता हूँ, परंतु जब तक मैं पानी ले कर नहीं आता हूँ तब तक तू श्री नमस्कार महामंत्र का स्मरण करना । मैं तुझे नमस्कार महामंत्र देता हूँ । यदि तूने जाप नहीं किया तो मैं तुझे पानी देनेवाला नहीं हूँ ।'

चोर को मंत्र देकर जिनदत्त पानी लेने गया । इधर नगररक्षक चोर को फाँसी की जगह ले गये । उसको ज्यों ही फाँसी पर लटकाया... जिनदत्त पानी लेकर उधर पहुँचा ।

'अभी मैं तुझे पानी पिलाता हूँ....' बोलता जिनदत्त उसके पास पहुँचा ही था... कि वह चोर जोर से 'नमो अरिहंताणं' बोलता हुआ मर गया ।'

मर कर वह चोर व्यंतरयोनि में यक्षदेव बना ।

नगररक्षकों ने जिनदत्त को पकड़ लिया और राजा के पास ले गये। राजा को कहा : 'यह श्रावक हुंडिक चोर का साथी है। वह चोर को पानी पिलाने आया था।'

राजा जिनदत्त के ऊपर रोषायमान हुआ। उसने आज्ञा की –

'इस सेठ को भी फाँसी पर लटका दो।'

सैनिक जिनदत्त को फाँसी देने, फाँसी की जगह ले गये। उस समय हुंडिक यक्ष ने 'अवधिज्ञान' के प्रकाश में देखा कि 'मैं देव कैसे बना!' उसने मथुरा को देखा... जिनदत्त श्रावक को फाँसी देने की तैयारी करते हुए राजपुरुषों को देखे। जिनदत्त के प्रति यक्ष को पूर्ण प्रीति थी। उसने पर्वत की एक बड़ी शिला उठायी और मथुरा के बाह्यप्रदेश में जा पहुँचा। राजसैनिकों को बोला : 'हे दुष्टों, क्या तुम इस महाश्रावक को नहीं जानते? उससे क्षमा मांगो... छोड़ दो उसको, अन्यथा इस शिला से तुम सब मर जाओगे!' राजसैनिक बहुत घबराये। जिनदत्त को छोड़ दिया।

राजा ने पूर्वदिशा में हुंडिक यक्ष का मंदिर बनवाया।

यह है नमस्कार महामंत्र के पारलौकिक फल का दृष्टान्त।

'नमस्कार–निर्युक्ति' के रचयिता :

इस ग्रंथ के रचयिता हैं प्रतिभावंत एवं श्रुतज्ञान के रहस्यवेत्ता श्री भद्रबाहुस्वामी! श्री भद्रबाहुस्वामी 'निर्युक्ति' ग्रंथों की रचना करनेवाले के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। उन्होंने ११ द्वारों से नमस्कार महामंत्र की जो महत्ता बतायी है – वही उनकी प्रतिभा का परिचय कराता है।

मैंने मेरी अल्पबुद्धि से इस निर्युक्ति ग्रंथ के सहारे श्री नमस्कार महामंत्र की महत्ता बताने का स्वल्प प्रयत्न किया है – इसमें मेरी क्षति रह गयी हो.... भूल हो गई हो, तो आप लोग क्षमा करें।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ६४

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक की दिनचर्या बताते हुए कहा है – 'नमस्कारादि–चिन्तनम् ।' श्रावक को श्री नमस्कार महामंत्र आदि सूत्रों के विषय में चिंतन करना चाहिए । अध्ययन के बिना चिंतन नहीं हो सकता है इसलिए श्री नमस्कार महामंत्र के विषय में आपको विशेष बातें बता रहा हूँ । आज तीसरा दिन है । आज तो अति गंभीर बातें बताना है ।

कुंडलिनी–उत्थान :

वैदिक परंपरा में कुंडलिनी के उत्थान के लिए षट्चक्रभेदन की परंपरा प्रचलित है । परंतु अपनी जैन परंपरा में शायद 'कुंडलिनी' शब्द सुनने में भी नहीं आया होगा ! मैं भी पहले यही समझता था कि जैन परंपरा में कुंडलिनी–उत्थान जैसी बात ही नहीं है ! परंतु जब प्राकृत भाषा में रचा हुआ १२ गाथाओं का एक स्तोत्र 'नमस्कार स्वाध्याय' नाम के संग्रहग्रंथ में पढ़ा, तब गहन विचार में डूब गया !

जैन परंपरा में कुंडलिनी–उत्थान के लिए षट्चक्र नहीं है, परंतु दशचक्र है । जब यह स्तोत्र पढ़ा तब मालुम हुआ कि इस विषय में दूसरा भी साहित्य होना चाहिए ! हालाँकि अभी तक मिला नहीं हैं.... जब मिलेगा तब बहुत ही आनन्द होगा । ध्यानसाधना में उपयोगी बनेगा !

आज मैं आपको १० चक्रों के विषय में बताता हूँ ।

१. मूलाधार चक्र : (गुदा और लिंग के मध्य)

पहला है मूलाधार चक्र । इस चक्र के चार पत्र हैं । उन चार पत्रों पर चार अक्षरों का मंत्र है – 'नमःसिद्धम् ।'

कर्णिका में पंचपरमेष्ठि के पाँच अक्षरों से निष्पन्न 'ॐ'कार की स्थापना कर ध्यान करना चाहिए ।

यह ध्यान सुखदायक होता है ।

२. स्वाधिष्ठान चक्र : (लिंग–मूल में)

दूसरा है स्वाधिष्ठान चक्र । इस चक्र के ६ कोने हैं । ६ कोने की आकृतिवाला है । मध्यभाग से 'नमो अरिहंताणं' के अक्षरों का प्रारंभ कर, ६ कोने में अक्षरों

की स्थापना कर, ध्यान किया जाय तो ध्याता के दुःख दूर हो जाते हैं ।

३. मणिपूर चक्र : (नाभि में)

तीसरा चक्र है मणिपुर चक्र । यह चक्र आठ पत्रों का है ।

मध्य में 'श्री अर्हद्भ्यो नमः' मंत्र की स्थापना करें । दिशाओं में 'श्री सिद्धेभ्यो नमः', 'श्री सूरिभ्यः नमः', 'श्री उपाध्यायेभ्यो नमः', 'श्री सर्वसाधुभ्यो नमः' इस प्रकार क्रमशः चार पत्रों में चार परमेष्ठि के मंत्रों की स्थापना करें । विदिशाओं में क्रमशः श्री दर्शनाय नमः, श्री ज्ञानाय नमः, श्री चारित्राय नमः, श्री तपसे नमः – इस प्रकार स्थापना कर ध्यान करना चाहिए ।

४. अनाहत चक्र : (हृदय में)

चौथा चक्र है अनाहत चक्र । १६ पत्र हैं इस चक्र के । १६ पत्रों में षोडशाक्षरी महाविद्या रही हुई है – 'अरिहंत–सिद्ध–आयरिय उवज्झाय–साहू ।' दूसरे १६ पत्रों में १६ स्वरों की स्थापना है और तीसरे १६ पत्रों के चक्र में १६ विद्यादेवियों की स्थापना है । केन्द्र में 'श्री गौतमस्वामिने नमः' मंत्र की स्थापना है ।

५. विशुद्ध चक्र : (कंठ में)

पाँचवा चक्र है विशुद्ध चक्र । इसके प्रथम २४ पत्र हैं । उन पत्रों में २४ तीर्थंकरों की स्थापना है । दूसरे २४ पत्रों में तीर्थंकरों की २४ माताओं की स्थापना है । तीसरे २४ पत्रों में २४ यक्षों की स्थापना है । चौथे २४ पत्रों में २४ यक्षिणी की स्थापना है और कर्णिका में 'अर्हं नमः' रूप जिनशक्ति की स्थापना है । इस प्रकार विशुद्ध चक्र का ध्यान करना चाहिए ।

६. ललना चक्र : (घंटिका में)

छट्ठा चक्र है ललना चक्र । इस चक्र के ३२ पत्र हैं । इन पत्रों में 'क' से 'स' पर्यंत ३२ अक्षरों की स्थापना है । दूसरे ३२ पत्रों में ३२ इन्द्रों की स्थापना है । कर्णिका में 'सरस्वत्यै नमः' इस मंत्र की स्थापना है । इस प्रकार इस चक्र का ध्यान करना है ।

७. आज्ञा चक्र : (भ्रमर में)

सातवा चक्र है आज्ञा चक्र । इसके तीन पत्र हैं । उनमें ह, ल, क्ष से युक्त ॐ नमः को एवं ह्रींकार की स्थापना है । यह महाविद्या समग्र सिद्धि को देती है ।

८. सोम चक्र : (मस्तक में)

आठवा चक्र है सोम चक्र। यह अर्धचंद्र की आकृति जैसा है। उसमें "अ सि आ उ सा नमः" इस मंत्र की स्थापना है। चन्द्र जैसे श्वेत वर्ण में ध्यान करने से मोक्ष का हेतु बनता है।

९. ब्रह्मबिंदु चक्र : (ब्रह्मद्वारे)

नौवा चक्र है ब्रह्मबिंदु चक्र। यह चक्र ब्रह्मनाडी यानी सुषुम्णा नाडी के साथ संयुक्त है। इसमें प्रणव (ॐ) की स्थापना कर ध्यान किया जाता है।

१०. हंसनाद चक्र : (ब्रह्मद्वार के ऊपर)

दसवा चक्र है हंसनाद चक्र। यह चक्र अत्यंत शुद्ध स्फटिक रत्न जैसा होता है। हंस यानी जीव। क्षीण वृत्ति योगी पुरुष आत्मा का ध्यान करता है, उसको सभी सिद्धियाँ वशीभूत होती हैं। 'योगशास्त्र' में भी कहा है – अर्हन्तं मूर्ध्नि ध्यायेत् शुद्ध स्फटिक निर्मलं। यानी – शुद्ध स्फटिक जैसे निर्मल अरिहंत का मस्तक पर ध्यान करना।

यह सारी प्रक्रिया ध्यान की है। अपने ही शरीर के भिन्न–भिन्न भागों में मन को केन्द्रित कर, परम तत्त्वों का ध्यान करने का है। कितनी अच्छी प्रक्रिया है! और श्री पंचपरमेष्ठि भगवंतों का प्रभाव, ध्यान से फलित होता है।

मन बड़ा चंचल है। मन को पंचपरमेष्ठि भगवंतों के ध्यान में जोड़ने के लिए, पहले पंचपरमेष्ठि भगवंतों की स्तवना में जोड़ना चाहिए।

सभा में से : पंचपरमेष्ठि भगवंतों की स्तवना किस प्रकार करनी चाहिए?

महाराजश्री : आज मैं आपको 'कुवलयमाला' ग्रंथ के माध्यम से, पंचपरमेष्ठि भगवंतों की स्तवना करके बताता हूँ। 'कुवलयमाला' ग्रंथ में यह बताया गया है कि महारथ नाम के महामुनि, जब उनको मालुम हुआ कि 'मेरा आयुष्य पूर्ण होने आया है,' तब उन्होंने गुरुदेव के पास अपने पापों की आलोचना की, सभी पापस्थानकों का प्रतिक्रमण किया और शरीर एवं कषायों की संलेखना की। अपने सभी कर्तव्यों को पूर्ण कर वे संस्तारक में बैठे और समाधिमृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए श्री पंचपरमेष्ठि भगवंतों की स्तवना करने लगे।

अरिहंत भगवंत की स्तवना :

एस करेमि पणामं अरहंताणं विसुद्ध कम्माणं।
सव्वातिसय – समग्गा अरहंता मंगलं मज्झ॥

१. विशुद्ध अनुष्ठानवाले श्री अरिहंत भगवंतों को मैं प्रणाम करता हूँ। सभी अतिशयों से परिपूर्ण श्री अरिहंत मेरे लिए मंगलरूप हो।

२. श्री ऋषभदेव आदि सभी २४ जिनेश्वरों को मैं नमस्कार करता हूँ। जो वर्तमानकाल में हैं, उन विहरमान जिनेश्वरों को भी मैं नमस्कार करता हूँ।

३. भूतकाल में सभी उत्सर्पिणी में उत्पन्न एवं भविष्य में होनेवाले सभी अरहंतों को मैं वंदन करता हूँ।

४. भरतक्षेत्र में, पश्चिम महाविदेह में, पूर्व महाविदेह में, ऐरवत क्षेत्र में, पुष्करार्ध द्वीप में एवं घातकी खंड में रहे हुए तीर्थंकरों को मैं वंदन करता हूँ।

५. जो आत्माएँ वर्तमान में मनुष्य, तिर्यंच, देव और नरक गति में रहे हुए हैं, एक या अनेक भवों के बाद तीर्थंकर होनेवाले हैं, उनको मैं वंदन करता हूँ।

६. जो तीर्थंकर नाम–गोत्र का वेदन करते हैं, बाँधते हैं, बाँध लिया है अथवा बाँधेंगे, उन सभी जीवों को भी मैं आज वंदन करता हूँ।

७. भविष्य में होनेवाले तीर्थंकर की आत्माएँ जो वर्तमान में मुनिरूप में या गृहस्थरूप में रहे हुए हैं, अथवा उनको ज्ञानरत्न की प्राप्ति हुई है, उन सभी आत्माओं को मैं त्रिविध वंदन करता हूँ।

८. जो तीर्थंकर अभी पर्षदा में हैं अथवा समवसरण के मध्य भाग में हैं अथवा 'देवछंदा' में हैं, जो पृथ्वी पर विचरते हैं, जिन्होंने मद और मोह का छेदन किया है, जो धर्मोपदेश देते हैं, अथवा जो धर्मोपदेश नहीं देते हैं, उन सभी तीर्थंकरों को मैं वंदन करता हूँ।

९. श्याम वर्ण के, कृष्ण (नील) वर्ण के, गौर वर्ण के, मुक्ताफल जैसे श्वेत उज्ज्वल वर्ण के, पद्म जैसे रक्त वर्ण के सभी तीर्थंकरियों को एवं तीर्थंकरों को मैं त्रिविध वंदन करता हूँ।

१०. जिन्होंने राज्य का त्याग किया है अथवा जो कुमारअवस्था में है, अथवा जो स्त्रीयुक्त है, जो संतानवाले हैं अथवा संतानरहित हैं, उन सभी तीर्थंकरों को मैं वंदन करता हूँ।

११. भवसमुद्र में डूबते हुए भव्य जीवों को तारने के लिए जिन्होंने तीर्थ–प्रवर्तन किया, उन तीर्थंकरों को मैं नमस्कार करता हूँ।

१२. लोकगुरु वैसे सर्वदर्शी एवं सर्वज्ञ तीर्थंकरों को, सर्वभाव से पुनःपुनः मैं नमस्कार करता हूँ।

१३. भावपूर्वक अरिहंत को किया हुआ नमस्कार, मोक्षप्राप्ति कराता है एवं हर भव में बोधिलाभ कराता है, इसलिए सर्वभावपूर्वक मैं अरिहंत को नमस्कार करता हूँ, जिससे सभी दुःखों से मुक्त ऐसे मोक्ष की मुझे प्राप्ति हो ।

१४. देव–दानव–किन्नर–गंधर्व एवं मुनिवर जिनके चरणयुगल में नमन करते हैं वैसे अरिहंत जयवंत हो ! संपूर्ण निर्मल केवलज्ञानवाले जिनेश्वर भगवंतों ! आपकी जय हो ! आपको मेरा नमस्कार हो !

१५. हे देवाधिदेव, मैं देव बनूँ या नरक में जाऊँ, मनुष्य–भव पाऊँ या तिर्यंच बनूँ, मुझे 'सम्यक्त्व' देना ! कि जो सम्यक्त्व विश्व के सभी सुखों का मूल है।

१६. जिसमें ज्ञान–दर्शन एवं चारित्र का पुरुषार्थ ही श्रेष्ठ है वैसा मोक्षमार्ग है और जो शाश्वत् कल्याण एवं शाश्वत् सुख का मूल है, वैसा जिनमार्ग साक्षात् जयवंत है ।

१७. जिस प्रकार रोगी को चिकित्सा–क्रिया से वैद्य दुःखों से मुक्त करता है वैसे जिनेश्वर, जीवों के दुःखों को धर्मक्रिया से दूर करते हैं ।

१८. जिस प्रकार राजा, चोर–डाकू वगैरह से प्रजा की रक्षा करता है, वैसे जिनेश्वर सभी जीवों की कर्म–चोरों से रक्षा करते हैं ।

१९. जिस प्रकार माता अपने दूध से बच्चे को पुष्ट करती है वैसे श्री जिनेश्वर अपने वचन–रसायण से सभी जीवों को पुष्ट करते हैं ।

२०. जिस प्रकार धावमाता बच्चे की आँखों में अंजन करती है वैसे तीर्थंकर भी भव्य जीवों की आंतरचक्षु में ज्ञानशलाका से अंजन करते हैं ।

२१. हे जिनेश्वर ! मैं आपको माता, पिता, भ्राता, स्वामी... गुरु और जीवन मानता हूँ । मैं आपको अपने प्राणों से भी अधिक मानता हूँ ।

२२. हे जिनेश्वर ! तीन लोक में आप ही मेरे हृदयवल्लभ हो और कोई नहीं है, ऐसा मैंने जान लिया है ।

२३. हे जिनेश्वर ! आप ही सभी जीवों के बंधु हो, संसार समुद्र में नैया समान हो, जन्म–जरा–मृत्यु से विमुक्त हो.... आपकी जय हो ।

२४. हे पुरुषसिंह ! आप अद्वितीय प्रतापवाले हो । मोह का सर्वथा नाश करनेवाले हो । युद्ध में सभी कर्मशत्रुओं को जीतनेवाले हो ।

२५. हे सर्वज्ञ ! हे महायश ! हे अद्वितीय ज्ञान दिवाकर ! जगनाथ ! आपकी जय हो । आप ही मोक्षमार्ग के नायक हो । भवसागर से पार लगानेवाले जहाज हो !

२६. हे सर्वज्ञ ! सिद्धिपुरी में जानेवाले जगत के जीवों के आप सार्थवाह हो ! हे भगवंत, आपकी विजय हो ! हे सर्वदर्शी, आप मेरे सर्वत्र शरण्य हो ।

२७. जो प्रियतमा के विरहाग्नि के ताप से संतप्त हैं, जो दुःसह महादरिद्रता से दुःखी हैं, जिनके सभी धन–वैभव नष्ट हो गये हैं, उनको हे जिनेश्वर ! आपकी आज्ञा के अलावा दूसरा कौन शरण हो सकता है ?

२८. दरिद्रतारूप कीचड़ से, शंकारूप कलंक से एवं कर्ममल से उत्पन्न कालुष्य से दुःखी बने जीवों की हे भगवंत, आप ही रक्षा कर सकते हो ।

२९. दुर्जय मोहरूप महागजेन्द्र का विदारण करने में सिंहसमान, विषम कर्मवन को जलाने के लिए प्रचंड अग्निसमान हे जिनेश्वर ! आपकी जय हो ।

३०. हे जिनेश्वर ! क्रोधरूप अग्नि को शान्त करने के लिए आप विवेकजल से परिपूर्ण श्रेष्ठ पुष्करावर्त मेघ हो ! मानरूपी ऊँचे पर्वत को तोड़ने के लिए आप वज्र हो । मायारूप रोषायमान महानागिन को वश करने के लिए नागमणि हो । लोभरूप महाराक्षस का हनन करने के लिए सिद्धमंत्र हो !

३१. हे भगवंत ! आप ही मेरे नाथ हो, आप ही शरण्य हो, आप ही माता–पिता एवं भ्राता हो । जिनेश्वर, आपने ही मुझे शाश्वत् सुख का मार्ग बताया है ।

– इस प्रकार अरिहंत परमात्मा की स्तवना करनी चाहिए । समय निकाल कर प्रतिदिन स्तवना करते रहो ! भावविभोर बनकर स्तवना करें । अब सिद्ध परमात्मा की स्तवना करें –

सिद्ध भगवंत की स्तवना :

सिद्धाण णमोक्कारो करेमु भावेण कम्म–सुद्धाण ।
भव–सय सहस्स–बद्धं धंतं कम्मिंधणं जेहिं ।।

१. लाखों भवों में बँधे हुए कर्मेन्धनों को जिन्होंने जला दिये हैं और जो कर्ममल से मुक्त बने हैं उन सिद्धों को हम भाव से नमस्कार करते हैं ।

२. जो कर्मक्षय कर वर्तमानकाल में सिद्ध होते हैं, भूतकाल में सिद्ध हुए हैं और भविष्य में सिद्ध होंगे, उन सभी को मन–वचन–काया से मैं नमस्कार करता हूँ ।

३. जो तीर्थसिद्ध हुए हैं, अतीर्थसिद्ध हुए हैं, एक सिद्ध एवं अनेक सिद्ध हुए हैं, स्वलिंग से एवं गृहस्थ लिंग से सिद्ध हुए हैं, जो अन्य लिंग से सिद्ध हुए

हैं, जो तीर्थंकर सिद्ध और सामान्य केवलि–सिद्ध हुए हैं, स्त्रीलिंग से, पुरुषलिंग से एवं नपुंसकलिंग से सिद्ध हुए हैं, प्रत्येकबुद्ध सिद्ध, बुद्धबोधित सिद्ध एवं स्वयंबुद्ध सिद्ध हुए हैं, जो बैठे–बैठे सिद्ध हुए हैं और खड़े–खड़े काउस्सग्ग में सिद्ध हुए हैं, जो चित्त से सोये हुए सिद्ध हुए हैं और जो करवट से सोये हुए सिद्ध हुए हैं, उन सभी को मैं त्रिविध वंदन करता हूँ ।

४. रात्रि के समय, दिवस के समय, संध्या के समय, मध्याह्न के समय अथवा सुबह के समय जो सिद्ध हुए हैं, अथवा बिना कालापेक्षा जो सिद्ध हुए हैं, उन सभी को मैं भावपूर्वक वंदन करता हूँ ।

५. जो यौवन में सिद्ध हुए हैं, बाल्यकाल में सिद्ध हुए हैं, वृद्धावस्था में सिद्ध हुए हैं, जो अधेड़ वय में सिद्ध हुए हैं, जो द्वीप पर अथवा समुद्र में सिद्ध हुए हैं, उन सभी को मैं त्रिविध वंदन करता हूँ ।

६. जिनका देवों ने अपहरण किया हो और जो सिद्ध हुए, जो समुद्र में सिद्ध हुए, जो पर्वत के ऊपर सिद्ध हुए और जो भावसिद्ध हुए, उन सभी को मैं त्रिविध करण से वंदन करता हूँ ।

७. किसी भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो सिद्ध हुए हैं, उन सभी सिद्धों को मैं त्रिविध योग से वंदन करता हूँ ।

८. मृत्यु के समय यदि सिद्धों को नमस्कार हो जाय तो सद्गति अथवा मोक्ष प्राप्त होता है । निःसंगभाव से सिद्धों को नमस्कार किया जाय तो दुर्गति का मार्ग बंद हो जाता है और सद्गति का मार्ग खुल जाता है ।

९. मैं सर्वादर से सिद्धों को नमस्कार करता हूँ.... जिससे मोहजाल को तोड़कर मैं मुक्ति पा सकूँ ।

१०. जिन्होंने ध्यानाग्नि द्वारा कर्मरूप ईंधन को जलाकर, भवभ्रमण मिटा दिया है और जहाँ से वापस संसार में आना नहीं पड़ता है ऐसा स्थान प्राप्त किया है वे सिद्ध भगवंत सदाकाल जयवंत हैं ।

– इस प्रकार सिद्ध भगवंतों की स्तवना कर, अब तीसरे परमेष्ठि आचार्य भगवंत की स्तवना करता हूँ ।

आचार्यभगवंत की स्तवना :

पणमामि गणहराणं जिण–वयणं जेहिं सुत्त–बंधेणं ।
बंधेऊण तह कयं पत्तं अम्हारिसा जाव ।।

१. जिन्होंने जिनेश्वर के वचन को सूत्रबंधन से ऐसा बाँधा कि जो वचन हमारे जैसे जीवों के पास आया, उन गणधरों को (आचार्यों को) मैं नमस्कार–प्रणाम करता हूँ ।

२. चौदहपूर्वी, न्यूनपूर्वी आचार्यों को नमस्कार करता हूँ । वाचकवृषभ आचार्यों को एवं ग्यारह अंग के धारक आचार्यों को नमस्कार करता हूँ ।

३. आचारधारक एवं सकल प्रवचनधारक तथा ज्ञानधारक आचार्यों को मैं नमन करता हूँ ।

४. ज्ञानाचार के धारक, दर्शन एवं चारित्र में विशुद्ध भाववाले, तप और वीर्य के धारक तथा महा धीर आचार्यों को नमन करता हूँ ।

५. अपनी शक्ति से देदीप्यमान जिनवचन को जो पुनःपुनः प्रकाशित करते हैं, उन प्रवचन को शोभायमान करनेवाले आचार्यों को मैं नमन करता हूँ ।

६. प्रवचन का सार समुद्रसमान अंग–उपांग में रहा हुआ है, उसको हमारे जैसे अल्प बुद्धिवाले कैसे जान सकते हैं ? आचार्यों की परंपरा ने हम तक वह प्रवचनसार पहुँचाया है । यदि आचार्य नहीं होते तो यह प्रवचनसार कौन जान सकता था ?

७. बुद्धिरूपी स्नेह (तैल) से युक्त और आगमरूपी ज्योतिवाले आचार्य दीपक समान हैं । इस दीपक के सहारे ही जगत के जीव देख सकते हैं ।

८. चारित्र और शील जिनके किरण हैं, जो अज्ञान–अंधकार को नष्ट करते हैं.... वैसे चन्द्र समान आचार्य हैं । कुमुद जैसे भव्य जीवों को वे विकसित (प्रबुद्ध) करते हैं ।

९. सूर्यसमान उद्योतक, कल्पवृक्ष के समान वांछित फल के दाता और चिंतामणि की तरह सुख देनेवाले जंगम तीर्थस्वरूप आचार्य को मैं नमस्कार करता हूँ ।

१०. आचार्य को किया हुआ नमस्कार, तीन शल्यों को मिटाता है, मानवीय एवं दैवी सुख देता है तथा अक्षय फल प्रदान करता है ।

११. भिन्न–भिन्न प्रकार की लब्धियों से समृद्ध, श्रुतज्ञानरूप सागर के पारगामी.... मुक्तिगामी ऐसे सभी गणधरों को मैं वंदन करता हूँ ।

– इस प्रकार आचार्य भगवंत की स्तवना की । अब उपाध्याय भगवंत को वंदना करेंगे.....

उपाध्याय भगवंत की वंदना :

उवज्झायाणं च णमो संगोवंगं सुयं धरेंताणं ।
सिस्स–गण–हियट्ठाए, झरमाणाणं तयं चेय ।।

१. अंग–उपांग–शास्त्रों को धारण करनेवाले और शिष्य समुदाय के हित के लिए स्मरण करनेवाले उपाध्यायों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

२. जिस प्रकार पहाड़ में से सतत झरना बहता रहता है वैसे उपाध्याय में से सतत स्वाध्याय का झरना बहता रहता है । शास्त्रों का अध्यापन करानेवाले उपाध्यायों को परमभाव से नमस्कार करता हूँ ।

३. जो शुद्ध लेश्यावाले होते हैं, जो कर्मक्षय के लिए सूत्र पढ़ाते हैं और पढ़ाने में जो अपने कष्ट की चिंता नहीं करते हैं, उन उपाध्यायों को मैं नमन करता हूँ ।

४. जिनके पास ज्ञान एवं दर्शन की समृद्धि है, जो अनेक भव्य जीवों को प्रतिबोध करनेवाले सूत्रों का अध्ययन–अध्यापन करते हैं, उन उपाध्यायों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

५. उपाध्यायों को किया हुआ नमस्कार बोधिलाभ कराता है, इसलिए मुनिजनों को ज्ञान देनेवाले उपाध्यायों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

६. उपाध्याय को किया हुआ नमस्कार सभी सुखों का मूल है, सभी दुःखों का नाश करनेवाला है और जीवों को मोक्ष में ले जानेवाला है । इसलिए मैं उपाध्यायों को नमस्कार करता हूँ ।

७. श्रुतज्ञान का अभ्यास करना, याद करना, पढ़ना, पढ़ाना.... उसी में ही तल्लीन और उपकार करने के स्वभाववाले उपाध्याय भगवंतों को मैं वंदन करता हूँ ।

– इस प्रकार उपाध्याय भगवंत की स्तवना की । अब पाँचवे परमेष्ठि साधु भगवंत की स्तवना करता हूँ –

साधु भगवंत की वंदना :

साहूण णमोक्कारं करेमि तिविहेण करण–जोएण ।
जेण भव–लक्ख–बद्धं खणेण पावं विणासेमि ।।

१. मन–वचन–काया से मैं साधुओं को नमस्कार करता हूँ । जिससे लाखों भवों में बाँधा हुआ पापकर्म क्षणमात्र में नष्ट कर सकूँ ।

२. मिथ्यात्व का नाश कर, सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाले, तीन गुप्ति से गुप्त, कर्मरूप काष्ठ को काटने के लिए करवत समान मुनियों को मैं प्रणाम करता हूँ ।

३. पाँच समिति के पालक, तीन शल्यों को पीसनेवाले, विकथाओं से सर्वथा मुक्त, मद–मोह से रहित, शुद्ध लेश्यावाले, कषाय रहित, जीवहितकारी, धीर, षड् जीवनिकाय की रक्षा में तत्पर ऐसे मुनिवरों को मैं वंदन करता हूँ ।

४. चार संज्ञाओं से दूर, दृढ़व्रती, उत्तम सत्त्ववाले और अप्रमत्त मुनिवरों को मैं सदाकाल प्रणाम करता हूँ ।

५. तपस्वी, परीषह एवं उपसर्गों को सहन करनेवाले, विकथा से मुक्त, श्रुतज्ञान के पक्षपाती, प्रशस्त मनवाले, क्षमा श्रमण, पापों से रहित, सुखदायी, शमसहित, सत्य के पालक ऐसे साधु भगवंतों को मैं वंदन करता हूँ ।

६. साधु को किया हुआ नमस्कार पापों का नाश करता है । जो पुण्यहीन पापी जीव होते हैं उनके हृदय में साधु–नमस्कार नहीं रहता है ।

७. साधुओं को भावपूर्वक किया हुआ नमस्कार सभी सुखों का मूल है और मोक्ष का कारण है, इसलिए मैं भाव–नमस्कार करता हूँ, जिससे मैं भवसमुद्र तैरकर मोक्षद्वीप पर पहुँच जाऊँ ।

– इस प्रकार साधु–परमेष्ठि की स्तवना कर, अब पाँचों परमेष्ठियों को सामूहिक वंदना करता हूँ :

– इस विश्व में ये पाँच पुरुष ही उत्तम हैं । इसलिए उनको नमस्कार करता हूँ । नमस्कार के योग्य, इन पाँच के अलावा कौन दूसरा है ?

– सभी श्रेय में यह परम श्रेय है, सभी मंगलों में यह परम मंगल है, सभी पुण्यों में यह परम पुण्य है और सभी फलों में यह नमस्कार ही परम फल है ।

– यह पंच–नमस्कार पवित्र है, श्रेष्ठतर है, शाश्वत् है, १४ पूर्वो का सार है, परम रहस्य है । इसलिए इसी पंच–नमस्कार की आराधना करने में तत्पर बनें ।

– पंच–नमस्कार में जिनका मन लीन होता है वह अवश्य देवत्व प्राप्त करता है । जिसमें अल्प भी चारित्र नहीं होता है और अल्प भी ज्ञान नहीं होता है वह भी यदि पंच–नमस्कार सूत्र सुनता है या पढ़ता है तो उसके फलस्वरूप वह देवत्व पाता है ।

– जिस प्रकार समुद्र में रत्न की प्राप्ति दुर्लभ होती है, उस प्रकार संसार में नमस्कार महामंत्र की प्राप्ति दुर्लभ है ।

– पूर्वजन्मों में यदि यह नमस्कार मंत्र प्राप्त होता तो मेरे सभी कर्मों का क्षय क्यों नहीं होता ? संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने जब तक नमस्कार मंत्र प्राप्त नहीं किया है तब तक उसके जन्म–मृत्यु होते रहेंगे ।

– मैं चाहता हूँ कि मेरे जन्म–मृत्यु का अंत हो ! इसलिए मुझे प्राप्त नमस्कार मंत्र की आराधना करनी चाहिए ।

इस प्रकार, 'कुवलयमाला' ग्रंथ के माध्यम से पंचपरमेष्ठि को वंदना की । अब 'चंद्रकेवलि–चरित्र' की जिसकी रचना श्री सिद्धर्षि गणि ने वि. सं. ९७४ में की है, उसमें से नमस्कार विषयक जो संदर्भ है – उसके माध्यम से कुछ बातें बताकर प्रवचन पूर्ण करूँगा ।

सिद्धर्षि गणि–विरचित चन्द्रकेवलि–चरित्र में से :

राजा चंद्रकुमार जब मुनिवर से सम्यक्त्व पाते हैं उस समय मुनिराज राजा को नमस्कार मंत्र के विषय में कहते हैं –

हे राजन्, अरिहंत चंद्र जैसे श्वेत वर्णवाले हैं, सिद्ध श्रेष्ठ पद्मराग जैसे रक्त वर्णवाले हैं, आचार्य सुवर्ण जैसे पीत वर्णवाले हैं । उपाध्याय प्रियंगु जैसे नील वर्णवाले हैं और साधु अंजनमणि जैसे श्याम वर्णवाले हैं । इन पांचों परमेष्ठि का विधिपूर्वक ध्यान करना चाहिए ।

– जन्म समय यदि यह नवकार मंत्र सुनने में आये तो जीव को इस जन्म में समृद्धि प्राप्त होती है और मृत्युसमय पढ़ने में या सुनने में आये तो जीव सद्गति पाता है ।

– प्रणव ॐ, ह्रींकार का ह्रीँ तथा अर्हद्बीज–अर्ह वगैरह जो प्रभावशाली बीजमंत्र हैं, उन सभी का मूल श्रेष्ठ नवकार मंत्र है ।

– जो भाविक जीव इस नमस्कार मंत्र का तीर्थस्थान में एक लाख जाप करता है, विधिपूर्वक पूजन करता है, वह तीर्थंकर–नामकर्म बाँधता है ।

– करावर्त (नंद्यावर्त–शंखावर्त) से बारह की संख्या से नौ बार जो पंच मंगल नमस्कार का जाप करता है, उसे भूतपिशाच वगैरह विघ्न नहीं करते हैं ।

– नवकार का एक अक्षर सात सागरोपम के पाप दूर करता है, एक पद से ५० सागरोपम के पाप और संपूर्ण नवकार मंत्र से ५०० सागरोपम के पाप नष्ट होते हैं ।

– इस नमस्कार मंत्र के चिंतन करने मात्र से जल एवं अग्नि का भय दूर हो जाता है। शत्रु, महामारी, चोर आदि के घोर उपद्रव नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार 'श्री नमस्कार महामंत्र' के विषय में आप लोग चिंतन–मनन कर सकें, वैसी बातें बतायी हैं। श्रवण करने के बाद चिंतन करना ही चाहिए। इसलिए ग्रंथकार ने आपके लिए कहा : नमस्कारादिचिंतनम् !

'आदि' पद से 'श्री लोगस्स सूत्र' एवं 'उवसग्गहरं सूत्र' ये दो सूत्र का भी चिंतन करने का निर्देश मिलता है। इन दो सूत्रों के विषय में बताना है, आगे बताऊँगा।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ६५

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन के दैनिक कर्तव्यों का निर्देश किया है। उन निर्देशों में एक महत्त्वपूर्ण निर्देश है – 'नमस्कारादिचिन्तनम्।' नमस्कार महामंत्र आदि सूत्रों का चिंतन करने का निर्देश है। ज्ञान के बिना चिंतन नहीं किया जा सकता है। इसलिए मैंने संक्षेप में नवकारमंत्र–विषयक कुछ ज्ञान कराया। अब, आज 'लोगस्स सूत्र' के विषय में कुछ बोध कराना है।

'लोगस्स सूत्र' के अनेक नाम :

सर्वप्रथम मैं 'लोगस्स सूत्र' के विविध नामों के विषय में बताता हूँ।

– श्री महानिशीथ सूत्र में, श्री उत्तराध्ययन सूत्र में, श्री अनुयोगद्वार सूत्र में, चैत्यवंदन महाभाष्य में एवं पाक्षिक सूत्र–वृत्ति में इस सूत्र का नाम 'चउवीसत्थय' बताया गया है।

– 'नंदीसूत्र' में इस सूत्र का नाम 'चउवीसत्थव' बताया गया है।

– 'आवश्यक–निर्युक्ति' में इस सूत्र को 'चउवीसइत्थय' कहा है।

– 'चैत्यवंदन महाभाष्य' में इस सूत्र को 'चउवीसजिणत्थय' कहा है।

– 'योगशास्त्र' में 'उज्जोअ' नाम बताया है। 'उज्जोअगर' नाम भी है।

– 'पाक्षिक सूत्र–वृत्ति' में 'उज्जोयगर' कहा है।

– 'देववंदन–भाष्य' में 'नामथय' कहा है।

– 'धर्मसंग्रह' में 'नामजिणत्थय' कहा है।

इस सूत्र की आगमिकता :

लोगस्स सूत्र के इस प्रकार भिन्न–भिन्न नाम शास्त्रों में प्राप्त होते हैं। अब इस सूत्र का कौन से आगम में, कौन से ज्ञान में समावेश होता है, यह समझाता हूँ।

– ज्ञान के पाँच प्रकार तीर्थंकरों ने बताये हैं – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल।

– श्रुतज्ञान के दो प्रकार – १. अंगप्रविष्ट और २. अंगबाह्य।

– अंगबाह्य श्रुतज्ञान के दो प्रकार हैं – १. आवश्यक, २. आवश्यक–व्यतिरिक्त।

– 'आवश्यक' के छह प्रकार बताये गये हैं – १. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स सूत्र), ३. वंदन, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग, ६. प्रत्याख्यान ।

इस प्रकार, 'लोगस्स सूत्र' का समावेश 'अंगबाह्य' श्रुतज्ञान में हुआ है ।

चार मूल आगमों में आवश्यक सूत्र :

वर्तमान में अपन ४५ आगमों की मान्यता रखते हैं । स्थानकवासी परंपरा ३२ आगमों को मानते हैं । दिगंबर लोग एक भी आगम नहीं मानते हैं !

४५ आगमों का जो वर्गीकरण हुआ है, वह इस प्रकार है – ११ अंग + १२ उपांग + ६ छेद + ४ मूल + १० प्रकीर्णक + १ नंदी + १ अनुयोगद्वार = ४५ आगम सूत्र ।

चार मूल आगमों में 'आवश्यक सूत्र' का समावेश है – १. आवश्यक, २. उत्तराध्ययन, ३. दशवैकालिक, ४. पिंडनिर्युक्ति । गणधरों ने सर्वप्रथम 'आवश्यक सूत्र' की रचना थी । 'उत्तराध्ययन सूत्र' की रचना बाद में हुई है । वीर संवत ७२ में श्री शय्यंभव सूरिजी ने 'दशवैकालिक सूत्र' की रचना की है और वीर संवत १७० में श्रुतकेवली भद्रबाहुस्वामी ने 'पिंडनिर्युक्ति' की रचना की है।

आवश्यक में लोगस्स सूत्र का स्थान :

आवश्यक में 'चउवीसत्थय' नाम से लोगस्स सूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसका 'नामस्तव' नाम से भी उल्लेख मिलता है ।

श्री चैत्यवंदन भाष्य में जो पाँच दंडक बताये गये हैं, उनमें 'नामस्तव' का उल्लेख है –

१. शक्रस्तव, २. चैत्यस्तव, ३. नामस्तव, ४. श्रुतस्तव और ५. सिद्धस्तव। नामस्तव यानी लोगस्स सूत्र । इसमें २४ जिन के नाम हैं ।

जिन के चार प्रकार : नाम का प्रभाव

१. नाम–जिन, २. स्थापना–जिन, ३. द्रव्य–जिन और भाव–जिन – इस लोगस्स सूत्र में २४ तीर्थंकर भगवंतों के नामों की स्तवना है । श्री तीर्थंकर भगवंतों के नाम परम पवित्र और मंगलमय हैं । उन नामों का यथाविधि जाप किया जाय तो सभी दुःख, सभी पाप, सर्व प्रकार की अशान्ति और सभी प्रकार अन्तराय–विघ्न दूर हो जाते हैं ।

'श्री भक्तामरस्तोत्र' में कहा गया है :

'त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं
पापं क्षणात् क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ।।'

'शरीरधारी जीवों के, भवपरंपरा में बाँधे हुए पाप, तेरी स्तवना से क्षण में नष्ट हो जाते हैं ।'

इतना ही नहीं, 'श्री रायपसेणइय' सूत्र में कहा है कि –

'तं महाफलं खलु देवाणुप्पियाणं तहास्वाणं अरहंताणं नाम गोयस्स वि सवणयाए ।'

'अर्हत् भगवंतों का नाम–श्रवण भी महाफलदायी होता है ।' कहने का तात्पर्य यह है कि अरहंत भगवंतों के नाम के स्मरण से सभी दुःख दूर हो जाते हैं और सभी सुखसाधन स्वतः प्राप्त हो जाते हैं । इतना ही नहीं, यदि श्री तीर्थंकर भगवंत के नाम का एक ही पद संपूर्ण रूप से जान लिया जाय तो आत्मा स्वयं तीर्थंकर बन जाता है ! यह बात 'जिनसहस्रनाम' नाम के ग्रंथ में कही गयी है –

एतेषामेकमप्य र्हन्नाम्नामुच्चारचन्नथैः ।
मुच्यते किं पुनः सर्वाप्यर्थज्ञस्तु जिनायते ।। १४३ ।।

तीर्थंकर परमात्मा के नाम के स्मरण से सम्यग् दृष्टि आत्मा की अस्वस्थता दूर होती है । कभी तीव्र निकाचित कर्म के उदय से अस्वस्थता दूर न भी हो, फिर भी दुःख में धैर्य रखने की वृत्ति पैदा होती है । प्रज्ञा विशेषरूप से प्रतिभाशाली बनती है ।

नामस्मरण इतना गुणसंपन्न एवं कल्याणकारी है, इसलिए उसका भक्ति का एक प्रधान अंग माना है । 'द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका' में कहा गया है – 'भक्तिर्भागवती बीजं परमानन्द सम्पदाम् ।' 'भागवती भक्ति परमानंद और सम्पदाओं का बीज है !'

नामस्मरण सभी श्रेणी के साधकों के लिए विशेष उपयोगी एवं आत्मदर्शन करानेवाला है । परंतु आराधक–साधक के हृदय में अरिहन्त परमात्मा के 'नाम' के प्रति अनन्य श्रद्धा पैदा होनी चाहिए । अंतरंग प्रीति–प्रतीति जाग्रत होनी चाहिए । 'बोधि' की विशुद्धि में नामस्मरण श्रेष्ठ निमित्त है ।

नामस्मरण का यह प्रभाव मनुष्य तभी अनुभव कर सकता है जब अर्थ के उपयोग के साथ एवं गुणानुराग–सहित नामस्मरण हो ! बिना उपयोग और बिना भाव का नामस्मरण अभीष्ट फल नहीं देता है । सामान्य–साधारण फल ही मिलता है ।

२४ जिनों की स्तवना क्यों ?

अब एक प्रश्न का समाधान करना है । पहले प्रश्न समझ लो ।

प्रश्न : एक तीर्थंकर में जो श्रेष्ठ और उत्तमोत्तम गुणों का समूह होता है, वह २४ तीर्थंकरों में होता है, तो फिर एक तीर्थंकर की पूजा–स्तवना करने से सभी तीर्थंकरों की पूजा–स्तवना हो जाती है ! तो फिर २४ जिनों के नाम लेकर स्तवना क्यों करनी चाहिए ?

समाधान : पृथक् पृथक् २४ तीर्थंकर गुणों से समान हैं, सभी एकसमान स्तुति के पात्र हैं, फिर भी वे द्रव्य–क्षेत्र–काल और भाव से भिन्न हैं । इसलिए भिन्न–भिन्न नाम लेकर स्तवना की गई है । प्रत्येक तीर्थंकर का नाम लेकर स्तवना करने से जो अनुपम उल्लास एवं भव्य भावना पैदा होती है, उससे प्रगाढ़ कर्मों की निर्जरा होती है । यह बात शास्त्रसिद्ध तो है ही, अनुभवसिद्ध भी है । 'नामनिक्षेप' की धारणा से ही यह परिणाम संभवित है ।

नाम और रूप का विशिष्ट संबंध :

श्री तीर्थंकर भगवंतों के नाम हृदय में स्थिर हो जाने चाहिए । नाम स्थिर होने पर, आराधक आत्मा को अपनी आँखों से परमात्मा अपने सामने दिखते हैं ! जैसे परमात्मा हृदय में प्रवेश करते हो, मधुर आलाप करते हो..... अंग–अंग में उनकी उपस्थिति का अनुभव होता हो.... तन्मय होने का अनुभव होता है । इस प्रकार के अनुभवों से सकल कल्याण सिद्ध होते हैं ।

'प्रतिमाशतक' नाम के ग्रंथ में कहा गया है –

'हृदयस्थिते सति भगवान पुर इव परिस्फुरति ।'

परमात्मा हृदय में आने पर, जैसे सामने ही खड़े हैं, वैसा प्रतिभास होता है । नाम और रूप का ऐसा विशिष्ट संबंध है । नाम के उच्चारण के साथ ही नामी की उपस्थिति का अनुभव होना, नामाभ्यास की प्रगति का महत्त्वपूर्ण एवं असंदिग्ध लक्षण है ।

'अग्नि उष्ण होता है', ऐसा अग्नि का गुण जाननेवाला, 'अग्नि' शब्द के उच्चारण के साथ ही जैसे उष्णता–गुण का स्मरण करता है अथवा अग्नि के आकार को याद करता है, वैसे तीर्थंकर की प्रशमरसनिमग्न आकृति जाननेवाला आराधक, तीर्थंकर के नाम का उच्चारण करते ही उनकी आकृति का चिंतन करता ही है ।

'नाम' शब्द है, आकृति उसका अर्थ है । अर्थज्ञान के बिना केवल सूत्रज्ञान सुप्त होता है । बिना अर्थज्ञान के, सूत्रज्ञान, मंत्राक्षरों की तरह फल तो देता है, परंतु विशिष्ट–अभीष्ट फल नहीं देता है । अर्थज्ञान से आत्मा के अध्यवसाय शुभ होते हैं, उससे कर्मनिर्जरा होती है । इसलिए सूत्र के साथ अर्थज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है ।

सद्‌भुत गुणों की प्रशंसा का सूत्र :

नाम और स्थापना की बात करके, अब 'लोगस्स सूत्र' का स्वरूप बताता हूँ ।

गुणानुराग के बिना गुणप्राप्ति हो नहीं सकती । अतः गुणप्राप्ति का मुख्य कारण 'गुणानुराग' है, यह बात निश्चित होती है । गुणानुराग आत्मा की उन्नति का एक असाधारण कारण है । और, जहाँ गुणानुराग होता है, वहाँ गुणप्रशंसा स्वयमेव हो जाती है । वैसी सद्‌भुत गुणों की प्रशंसा बतानेवाला यह 'लोगस्स सूत्र' है । सभी गुणों से जो श्रेष्ठ होते हैं, उनका ही गुणोत्कीर्तन होता है । विश्व में ऐसी आत्माएँ केवल श्री तीर्थंकर भगवंत की ही होती हैं ।

जगत के सभी जीवों के कल्याण की कामना करना, उनके हित की भावना रखना एवं उनको आत्मकल्याण का सही रास्ता बताना – यह कार्य विरल विभूति ही कर सकते हैं । वैसे विरल महापुरुष एक मात्र तीर्थंकर परमात्मा ही होते हैं । इसलिए 'लोगस्स सूत्र' में अरिहन्त–परमात्माओं का गुणोत्कीर्तन किया गया है ।

लोगस्स सूत्र का संक्षिप्त परिचय :

यह चतुर्विंशति–स्तव सात गाथाओं का है । पहली गाथा 'सिलोग' छंद में है । दूसरी, तीसरी और चौथी गाथा 'गाहा' छंद में है । ५–६–७ गाथाएँ भी 'गाहा' छंद में हैं ।

पहली गाथा में तीर्थंकर भगवंत के चार विशेषण दिये गये हैं । 'कित्तइस्सं' पद से नामस्मरण की प्रतिज्ञा का निर्देश मिलता है ।

दूसरी–तीसरी–चौथी गाथाओं में वर्तमान चौवीशी के तीर्थंकरों के नाम दिये गये हैं और उनको भाव–वंदना की गई है ।

भाव–वंदना के लक्षण समझने चाहिए । मुख्य पाँच लक्षण बताये गये हैं :

१. नामस्मरण की क्रिया में सतत उपयोग, लक्ष्य, सावधानी चाहिए ।

२. सूत्र का उच्चार करते समय अर्थ का चिंतन चाहिए ।

३. आराध्य अरिहन्त परमात्मा के प्रति बहुमान चाहिए ।

४. स्तवन–वंदन करने का अवसर मिला, इसलिए आनंद चाहिए ।

५. भव–भ्रमण के प्रति निर्वेद चाहिए ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब लोगस्स सूत्र का स्मरण करते हो उस समय दूसरे विचार नहीं करने चाहिए । अरिहंत परमात्मा के ऊपर ही मन को स्थिर करना चाहिए । इस प्रकार परमात्मा को वंदना करनी चाहिए कि जो मोक्षप्राप्ति में अनन्य कारणभूत हो । शुद्ध भाव–वंदना से जीवात्मा अर्ध पुद्‌गलपरावर्त काल में मोक्षप्राप्ति कर लेता है ।

५–६–७ गाथा में 'प्रणिधान' बताया गया है । प्रणिधान कहें या अध्यवसाय कहें अथवा मन की स्थिरता कहें – सब समान है । हृदयगत प्रशस्त भावनाएँ इन तीन गाथाओं में भक्तिपूर्वक प्रदर्शित की गई हैं । इसलिए तीन गाथाओं को 'प्रणिधान–गाथात्रिक' कही गई हैं ।

– पाँचवी गाथा में 'परमात्मा मेरे पर प्रसन्न हो–' ऐसी स्तुति है ।

– छट्‌ठी गाथा में आरोग्य और बोधिलाभ की याचना की गई है ।

– सातवी गाथा में परमात्मा से सिद्धि की याचना की गई हैं ।

इस प्रकार आपको लोगस्स सूत्र का संक्षिप्त परिचय दिया ।

विशेष परिचय :

लोगस्स सूत्र की पहली गाथा में तीर्थंकर के – अरिहन्त के चार अतिशय निर्दिष्ट हैं । ज्ञानातिशय, पूजातिशय, वचनातिशय और अपायापगम अतिशय – ये चार अतिशय हैं ।

– 'उज्जोअगरे' पद से वचनातिशय–ज्ञानातिशय फलित होता है ।

– 'धम्मतित्थयरे' पद से पूजातिशय–वचनातिशय फलित होता है ।

– 'जिणे' पद से 'अपायापगम–अतिशय फलित होता है, और

– 'अरहन्ते' पद से पूजातिशय फलित होता है ।

– 'कित्तइस्सं' पद से 'कीर्तन करूँगा,' ऐसी प्रतिज्ञा की गई है ।

दूसरी–तीसरी और चौथी गाथाओं में २४ तीर्थंकरों के नाम लेकर वंदना की गई है । हर गाथा में ८–८ तीर्थंकरों को वंदना की गई है । ये तीन गाथाएँ 'तंत्रशास्त्र' की दृष्टि से भी अति महत्त्व रखती हैं । दूसरी गाथा में १२ बिंदु, तीसरी गाथा

में १२ बिंदु और चौथी गाथा में ११ बिंदु रहे हुए हैं। सब मिला कर तीन गाथाओं में ३५ बिंदु रहे हुए हैं। 'मंत्रशास्त्र' में 'बिंदु' महत्त्वपूर्ण माना गया है। 'नाद' और 'कला' बिंदु की ही सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं। 'तंत्रशास्त्र' में कहा गया है कि 'जब परमात्मा का नामोच्चारण बिंदुसहित किया जाता है तब वह साधक की सभी कामनाएँ पूर्ण करता है और मोक्ष भी देता है।'

'लोगस्स सूत्र' श्रुतकेवली गणधर भगवंतों की रचना होने से उसमें मंत्र, तंत्र, विद्या और सिद्धियाँ हो सकती हैं – यह बात आप समझ सकते हैं।

'धम्मोमंगलमुक्किट्ठं' गाथा से प्रारंभ होनेवाला दशवैकालिक सूत्र के प्रारंभिक मंगल में भी मंत्रमयता रही हुई है। उसका विधिपूर्वक उच्चारण आदि करने से रससिद्धि, सुवर्णसिद्धि वगैरह सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं – यह बात तंत्रविद् विद्वान् लोग जानते हैं।

लोगस्स सूत्र की ५–६–७ गाथाएँ प्रणिधान स्वरूप हैं। ये तीन गाथाएँ 'लोगस्स सूत्र' की चूलिका मानी गई हैं। चित्तविशुद्धि के लिए प्रणिधान महत्त्वपूर्ण होता है। जो क्रिया प्रणिधानपूर्वक होती है वह तीव्र विपाक यानी उत्कृष्ट फल देनेवाली होती है। प्रणिधान क्रिया को, अनुष्ठान को 'सानुबंध' बनाता है। 'श्री पंचसूत्र' की टीका में आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने लिखा है –

प्रणिधानकृतं कर्म मतं तीव्रविपाकवत्।
सानुबंधत्वनियमात् शुभांशाच्चैतदेव तत्॥

शुभ अनुष्ठान 'सानुबंध' बनने से निर्वाण तक वह अनुष्ठान अपना फल देता रहता है।

२४ तीर्थंकरों की, साथ साथ सभी तीर्थंकरों की स्तुति करने के बाद 'तीर्थंकर मेरे पर प्रसन्न हो! मुझे आरोग्य एवं बोधिलाभ तथा उत्कृष्ट समाधि देनेवाले बनो। परमपद रूप मोक्ष देनेवाले बनो,' इस प्रकार स्तुति की गई हैं। इस स्तुति में गंभीर रहस्य रहा हुआ है। इस विषय में आचार्यदेवश्री हरिभद्रसूरिजी ने 'ललितविस्तरा' ग्रंथ में बहुत ही अच्छा स्पष्टीकरण दिया है।

कार्यसिद्धि के लिए परमात्मा की, प्रार्थनीय की प्रसन्नता–अप्रसन्नता गौण बात है, उनका सामर्थ्य ही मुख्य बात है। जैसे अचेतन शब्दात्मक मंत्र, जाप द्वारा फल देता है! एकेन्द्रिय वैसे चिंतामणि रत्न आदि भी उपासना के द्वारा इष्टसिद्धि करते हैं! इसमें उन वस्तुओं का सामर्थ्य ही कारण होता है।

'तीर्थंकर वीतराग होने से न प्रसन्न होते हैं, न नाराज होते हैं,' यह मानकर,

'तीर्थंकर में, उनकी स्तुति करनेवालों की इष्टसिद्धि करने का सामर्थ्य नहीं है,' ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है । वस्तुओं का अपना-अपना स्वभाव होता है। स्वभाव के अनुसार हर वस्तु अपना कार्य करती है, तो फिर तीर्थंकर परमात्मा, जो कि सर्वोच्च परम वस्तु स्वरूप हैं, वे अपना कार्य क्यों नहीं करें ? अवश्य करते हैं ।

तीर्थंकरों का प्रमुख कार्य भव्य जीवों को राग-द्वेषादि से मुक्त कर भवसमुद्र से पार लगाने का है । वह कार्य तीर्थंकरों की स्तुति-भक्ति के द्वारा होता ही है। इसमें, कार्यसिद्धि सिर्फ स्तुति-भक्ति से नहीं होती है, परंतु स्तोतव्य-परमात्मा के प्रभाव से होती है, ऐसा मानना चाहिए। जिस प्रकार मंत्र वगैरह की उपासना से जो फलप्राप्ति होती है उसमें 'इस मंत्र के प्रभाव से मुझे इष्ट फल मिला,' ऐसा माना जाता है, वैसे तीर्थंकर परमात्मा का स्वयं का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव है कि जिससे स्तुति करनेवालों को इष्ट फल की सिद्धि होती है ।

आरोग्य-बोधिलाभ-उत्कृष्ट समाधि :

'लोगस्स सूत्र' की छट्ठी गाथा में कहा गया है कि : 'मैंने नाम द्वारा भगवान का कीर्तन किया, मन-वचन-काया से वंदन किया, उसके फलस्वरूप मुझे द्रव्य आरोग्य और भाव आरोग्य, जिनधर्म की प्राप्तिरूप बोधि और उत्कृष्ट भाव-समाधि देनेवाले (अरिहंत) हों ।'

यह भी प्रार्थनारूप प्रणिधान ही है। किसी भी प्रवृत्ति की सफलता का आधार संकल्पबल है । संकल्परहित क्रिया फल नहीं देती है । इस सूत्र में भगवान की स्तुति के द्वारा संकल्प किया गया है। उस संकल्प की पूर्ति – 'भगवान के सामर्थ्य से मुझे हो....' ऐसी भावना प्रकट की गई है ।

मोक्षमार्ग की आराधना में अतीव उपयोगी ऐसी तीन बातें इस एक गाथा में संग्रहित की गई हैं। संपूर्ण भाव-आरोग्य मोक्ष में होता है, उसका हेतु भावसमाधि है, भावसमाधि का हेतु बोधिलाभ है ! इन तीनों की सिद्धि तीर्थंकर परमात्मा के अनुग्रह से ही होती है । जब तक सिद्धिगति प्राप्त नहीं होती है तब तक प्रत्येक जन्म में सिद्धि में साधनभूत द्रव्य-आरोग्य, भाव-आरोग्य, बोधिलाभ एवं समाधि प्राप्त होती रहती है। भगवंत की प्रार्थना से ये वस्तु प्राप्त होती हैं इसलिए 'भगवान ही उसके दाता हैं,' ऐसा वाणी-प्रयोग हो सकता है ।

चन्द्र-सूर्य और सागर :

लोगस्स सूर्य की सातवी और अंतिम गाथा विशिष्ट महत्त्व रखती है । तांत्रिक

दृष्टि से भी उसका विशेष महत्त्व है । प्रकाशक पदार्थों में चंद्र और सूर्य की विशेष महत्ता है वैसे गंभीरता, विशालता और गहनता की दृष्टि से समुद्र का विशिष्ट महत्त्व है ।

इस सूत्र में तीर्थंकरों की जो नाम लेकर स्तुति की गई हैं उन तीर्थंकरों के चरित्र चंद्र से भी अधिक निर्मल हैं, उनका ज्ञान सूर्य के प्रकाश से भी ज्यादा प्रकाशवाला है, और उनका गांभीर्य समुद्र से भी अधिक है ।

इन उपमाओं से बढ़कर उपमाएँ साहित्य में मिलना दुर्लभ हैं । ऐसी उत्तम उपमाओं से शोभायमान, सिद्धिप्राप्त और अष्टकर्म से मुक्त तीर्थंकरों की स्तुति इस सातवी गाथा में की गई है। यह स्तुति, सिद्धिगति की प्राप्ति की प्रबल इच्छारूप की गई है । 'सिद्धिगति को प्राप्त करनेवाले तीर्थंकरों में उनकी स्तुति करनेवालों को सिद्धि देने का सामर्थ्य है ही,' इस बात का, इस सत्य का स्वीकार करके ही यह स्तुति की गई है । इससे यह फलित होता है कि स्तुति करनेवाले के हृदय में मोक्षप्राप्ति की प्रबल भावना रही हुई है ।

'जिस व्यक्ति में जो गुण सिद्ध हुआ होता है उनमें वह गुण दूसरों को प्राप्त कराने की शक्ति होती ही है – ' इस नियम का यहाँ प्रतिपादन हुआ है । मोक्षमार्ग में तीर्थंकरों का आलंबन प्रकृष्ट आलंबन माना गया है । जिसको जो गुण सिद्ध हुआ हो, वह गुण पाने के लिए उसको आलंबन बनाया जाय तो वह आलंबन 'पुष्टालंबन' बन जाता है ।

तीर्थंकर भगवंत का प्रभाव मानना ही चाहिए :

५–६–७ ये तीन गाथाएँ अति महत्त्वपूर्ण हैं । इनमें चित्त की शुद्धि और आशय की उदात्तता के लिए तीर्थंकरों की प्रार्थना है । यह प्रार्थना आराधना स्वरूप है ।

तीर्थंकरों के ध्यान से आरोग्य, बोधि, समाधि और सिद्धि मिलती ही है और अन्य प्रकार से प्राप्त होनी असंभव हो, तो फिर इन बातों की याचना तीर्थंकर के पास नहीं करना, उसमें आराधना नहीं है, परंतु विराधना है । उपकारी के उपकार का विस्मरण होना विराधना है । 'जो वस्तु जिसके ध्यान से मिलती है, वह वस्तु वे ही देनेवाले हैं' – यह मानना युक्तियुक्त है । ऐसा मानने से –

१. जिनप्रवचन की आराधना होती है ।

२. सन्मार्ग में दृढ़ता आती है ।

३. कर्तव्यता का निर्णय होता है ।

४. शुभाशय की वृद्धि होती है ।

५. सानुबंध शुभानुष्ठान की प्राप्ति होती है ।

ये बातें कैसे बनती हैं, यह सुन लो :

– जिन प्रवचन की आराधना यानी उपकारी के उपकार की अखंड स्मृति रहती है ।

– सन्मार्ग की दृढ़ता यानी मोक्षसाधक अनुष्ठानों में उत्साह ।

– कर्तव्यता का निर्णय यानी 'तीर्थंकरों की भक्ति ही मेरा कर्तव्य हैं' ऐसा निर्णय ।

– शुभाशय की वृद्धि यानी अंतःकरण की प्रशस्तता ।

– सानुबंध शुभानुष्ठान की प्राप्ति यानी जब तक मुक्ति प्राप्त न हो तब तक प्रत्येक भव में सदनुष्ठान की प्राप्ति ।

ये पाँच बातें, उत्तरोत्तर अधिक–अधिकतर प्रशस्तभाव पैदा करती हैं और विपुल कर्मनिर्जरा कराती हैं ।

महत्त्व की एक बात सुन लो । तीर्थंकरों के प्रभाव से प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ, केवल अपने प्रयत्न से प्राप्त होती हैं – ऐसा मान लेने से तो तीव्र पापकर्म बँधता है ।

तीर्थंकरों की स्तवना में जैसे सम्यक्त्व आदि की आराधना है, वैसे उनके विस्मरण से मिथ्यात्वादि कर्मबंध के पाँचों हेतुओं का कम–ज्यादा सेवन होता है । इसलिए कर्मबंध के हेतुओं से बचना हो और कर्मक्षय के हेतुओं का सेवन करना हो तो तीर्थंकरों की स्तुति पुनःपुनः किया करें । इससे मिथ्याभिमान का नाश होगा और तीर्थंकरों के लोकोत्तर विनयगुण का पालन होगा ।

'लोगस्स सूत्र' का चिंतन–मनन करने के लिए और भी अनेक विषय हैं । एक–दो बातें कहकर प्रवचन पूर्ण करूँगा ।

प्रतिक्रमण में लोगस्स सूत्र :

दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक–प्रतिक्रमणों में जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं, उन कायोत्सर्ग में लोगस्स सूत्र का उपयोग होता है ।

'पायसमाउसासा' – ऐसा कहकर पूर्वाचार्यों ने 'लोगस्स सूत्र के एक–एक पाद में श्वासोच्छ्वास की गति को नियमित करने का सामर्थ्य रहा हुआ है,' इस बात

का स्वीकार किया है। कायोत्सर्ग में लोगस्स सूत्र का जप करने से सूत्र के अक्षर प्राणों के साथ एकमेक हो जाते हैं और श्वासोच्छ्वास की गति नियमबद्ध होने लगती है।

मंत्रशास्त्र में जिसको 'लययोग' कहते हैं, उसकी सिद्धि लोगस्स सूत्र का सहारा लेने से सहज बन जाती है।

आपत्ति के समय कायोत्सर्ग :

संघ पर या तीर्थ पर कोई उपद्रव होता हो तो, अथवा दूसरा कोई विशिष्ट प्रयोजन उपस्थित होने पर, संघ को मिलकर शासनदेवता की आराधना करनी चाहिए। उस आराधना में कायोत्सर्ग करने का विधान है। कायोत्सर्ग में मुख्यतया 'लोगस्स सूत्र' का ही उपयोग किया जाता है।

कर्मक्षय के लिए लोगस्स सूत्र का काउस्सग्ग :

– कर्मक्षय निमित्त साधु–साध्वी एवं श्रावक–श्राविका को प्रतिदिन १० या २० लोगस्स का कायोत्सर्ग करने का विधान है।

– उपधानतप में आराधक को प्रतिदिन १०० लोगस्स सूत्र कायोत्सर्ग करना होता है।

– पंचमी, एकादशी, नवपद, २० स्थानक आदि की आराधना में भी 'लोगस्स सूत्र' का कायोत्सर्ग किया जाता है।

इस प्रकार जिनशासन की आराधनाओं में श्री नवकार मंत्र की तरह लोगस्स सूत्र की आराधना भी व्यापक है।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ६६

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या में 'नमस्कारादिचिन्तनम्' का समावेश किया है । यह नमस्कार महामंत्र आदि का चिंतन मानसिक धर्मआराधना है । चित्त की शुद्धि मानसिक धर्मआराधना से होती है । चित्तशुद्धि से कर्मनिर्जरा होती है । कर्मनिर्जरा से ही मुक्ति होती है आत्मा की ।

'लोगस्स सूत्र' का चिंतन करें :

इसलिए ग्रंथकार ने नमस्कार महामंत्र आदि सूत्रों का चिंतन करने की प्रेरणा दी है । 'आदि' शब्द से लोगस्स सूत्र, उवसग्गहरं सूत्र, नमोत्थुणं सूत्र..... आदि सूत्रों पर चिंतन करना चाहिए । कल मैंने आपको 'लोगस्स सूत्र' के विषय में संक्षिप्त जानकारी दी थी, आज कुछ विस्तार से जानकारी देना चाहता हूँ । आप एक-एक बात को समझने का प्रयत्न करना । विषय को हो सके उतना सरल कर समझाने का प्रयत्न करता हूँ... फिर भी शास्त्रीय विषय होने से आप लोगों को समझने में कुछ परेशानी तो होगी ही । मैंने आप लोगों को कहा है कि जो बात आप नहीं समझ पायं, मेरे पास दूसरे उचित समय आकर पूछ सकते हो । 'हमें तो कुछ समझ में नहीं आता है,' ऐसा मानकर इस विषय की उपेक्षा नहीं करना । निराश नहीं होना । आप लोग बुद्धिशाली हो । आपके बच्चे भी बुद्धिशाली हैं !

आज मैं 'लोगस्स सूत्र' की एक-एक गाथा को समझाने का प्रयत्न करूँगा । हो सके तो यह सूत्र याद कर लेना, कंठस्थ कर लेना ।

पहली गाथा :

लोगस्स उज्जोअगरे
धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं
चउवीसं पि केवली ।। १ ।।

इस गाथा के प्रथम पाद में पहला पद है 'लोगस्स ।' इसका अर्थ होता है 'लोग के' । 'लोक' शब्द यहाँ पारिभाषिक है । इसका अर्थ 'पंचास्तिकायात्मक लोक' समझना है ।

इस लोक में पाँच 'अस्तिकाय' हैं –

१. धर्मास्तिकाय,

२. अधर्मास्तिकाय,

३. आकाशास्तिकाय,

४. पुद्गलास्तिकाय और

५. जीवास्तिकाय ।

पंचास्तिकाय के पाँच नाम याद कर लेना । अब एक–एक अस्तिकाय का संक्षिप्त परिचय देता हूँ । वास्तव में तो यह अध्ययन का विषय है, केवल सुनने से, वो भी एक बार ! बोध स्पष्ट नहीं होगा । पढ़ाई करनी चाहिए इन विषयों की ! पहले मैं 'धर्मास्तिकाय' समझाता हूँ ।

धर्मास्तिकाय :

जीव और पुद्गल की गति में यह 'धर्मास्तिकाय' नाम का अरूपी द्रव्य सहायक बनता है । जिस प्रकार मछली को तैरने में पानी सहायक बनता है वैसे ! मछली में तैरने की शक्ति है, पानी मात्र सहायता करता है । वैसे जीव और पुद्गल में गति करने की शक्ति है, 'धर्मास्तिकाय' मात्र सहायक बनता है ।

अधर्मास्तिकाय :

जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में यह 'अधर्मास्तिकाय' नाम का अरूपी द्रव्य सहायक बनता है । जिस प्रकार मनुष्य को स्थिर रहने में शय्या, आसन आदि सहायक होते हैं वैसे यह अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों को स्थिर रहने में सहायक बनता है ।

आकाशास्तिकाय :

आकाशास्तिकाय दूसरे चार द्रव्यों को अपने में स्थान देता है, अवकाश देता है । आकाशास्तिकाय एक और अखंड है । फिर भी व्यवहार से इनके दो भेद किये गये हैं –

१. लोकाकाश और

२. अलोकाकाश ।

जिस आकाश में जीव और पुद्गल गति–स्थिति कर सकते हैं उस आकाश को 'लोकाकाश' कहते हैं और जहाँ आकाश के अलावा कुछ भी नहीं है उसको 'अलोकाकाश' कहते हैं ।

पुद्गलास्तिकाय :

बढ़ना और घटना – पुद्गल का स्वभाव है । पुद्गल में वर्ण, गंध, रस, शब्द और स्पर्श होता है । ये पुद्गल इकट्ठे भी होते हैं और बिखर भी जाते हैं । ये जड़ होते हैं । इसमें चैतन्य नहीं होता है ।

जीवास्तिकाय :

जीव शरीर में रहते हुए भी शरीर से भिन्न होता है । उसमें चैतन्य होता है । जीवनशक्ति धारण करता है इसलिए 'जीव' कहा जाता है । जो जीता था, जीता है और जीएगा वह जीव है !

जीव के कुछ लक्षण जान लो । उपयोग, अनादिता, शरीर से भिन्नता, कर्मकर्तृत्व, कर्मभोक्तृत्व.... अरूपिता... ये सभी जीव के लक्षण हैं । जीवयुक्त शरीर को भी व्यवहार से जीव कहा जाता है ।

ये पाँच अस्तिकाय लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं । इसलिए लोक पंचास्तिकायात्मक कहा जाता है ।

'लोक' का दूसरा अर्थ "चौदह राजलोक" होता है ! चौदह राजलोक के मुख्य तीन विभाग हैं : 'ऊर्ध्वलोक, तिर्यंग् लोक और अधोलोक ।

चौदह राजलोक :

– चौदह राजलोक में सबसे ऊपर 'सिद्धशिला' है ।

– उसके नीचे पाँच अनुत्तर देवलोक है ।

– उसके नीचे नौ ग्रैवेयक देवलोक है ।

– उसके नीचे बारह देवलोक है ।

– उसके नीचे ज्योतिष्–चक्र (सूर्य–चंद्र–ग्रह–नक्षत्र–तारा) है ।

– उसके नीचे मनुष्यलोक है ।

इतने स्थान सात राजलोक में समाविष्ट हैं ।

– उसके नीचे व्यंतर, वाणव्यंतर एवं भवनपति देवों के स्थान आये हुए हैं ।

– उसके नीचे घर्मा, वंशा, शैला, अंजना, रिष्टा, मघा और माघवती नाम की पृथ्वी की प्रतरें हैं । उनमें अनुक्रम से सात नरक आयी हुई हैं ।

– इतने स्थान और सात राजलोक में समाविष्ट हैं । इस प्रकार १४ राजलोक हैं । यह हुई 'लोक' की बात ।

'उज्जोअगरे' शब्द का अर्थ :

शब्दार्थ है 'प्रकाश करनेवालों को।' उद्योत यानी प्रकाश। 'उद्योत' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है – 'उद्योत्यते प्रकाश्यतेऽनेन इति उद्योतः।'

उद्योत के दो प्रकार बताये गये हैं – द्रव्योद्योत और भावोद्योत।

द्रव्योद्योत : अग्नि, चंद्र, सूर्य, रत्न वगैरह द्रव्योद्योत हैं।

भावोद्योत : ज्ञान भावउद्योत है। 'आवश्यक–निर्युक्ति' ग्रंथ में कहा गया है – 'नाणं भावुज्जोओ'।

– **आवश्यक सूत्र की हारिभद्री टीका** में कहा गया है – जिसके द्वारा यथावस्थित रूप से वस्तु का बोध हो वह ज्ञान है, और ज्ञान ही भाव–उद्योत है। ज्ञानतेऽनेन यथावस्थितं वस्तु इति ज्ञानं, तज्ज्ञानं भावोद्योतः।

– **'चैत्यवंदन महाभाष्य'** में 'भाव–उद्योत' की परिभाषा इस प्रकार है – **'केवलनाणुब्भवो भावो।'** केवलज्ञान से उत्पन्न होनेवाला उद्योत 'भाव–उद्योत' है।

– जिनका स्वभाव ही उद्योत करने का होता है वे 'उद्योत–कर' कहे जाते हैं। जिनेश्वर भगवंत द्रव्य–उद्योत से लोक को प्रकाशित नहीं करते हैं, परंतु 'तीर्थंकर नामकर्म' के उदय से, जीवों पर उपकार करने के लिए भाव–उद्योत करते हैं।

– उद्योतकर के भी दो प्रकार बताये गये हैं – स्वउद्योतकर और परउद्योतकर। तीर्थंकर भगवंत दोनों प्रकार से उद्योतकर होते हैं। अपनी आत्मा को केवलज्ञान से उद्योतित करते हैं इसलिए वे स्वउद्योतकर हैं और अपने वचनरूप दीपक से भव्य जीवों के लिए उद्योत करनेवाले हैं, इसलिए वे परउद्योतकर भी हैं!

'योगशास्त्र–स्वोपज्ञ वृत्ति' में कहा गया है कि – केवलज्ञान का प्रकाश दीपक है, उस दीपक से तीर्थंकर सर्व लोक में प्रकाश करते हैं, इसलिए वे उद्योतकर हैं।

'आचार–दिनकर' ग्रंथ में कहा गया है कि "तीर्थंकर परमज्ञान का उपदेश देते हैं, संशयों का छेदन करते हैं और सभी पदार्थों को प्रकट करते हैं – इसलिए वे 'उद्योतकर' हैं।"

इस प्रकार 'लोगस्स उज्जोअगरे' इस प्रथम पाद का अर्थ यह हुआ – 'पंचास्तिकाय रूप लोक का केवलज्ञानरूप सर्वोत्कृष्ट भावउद्योत से प्रकाश करने के स्वभाववाले।'

धम्मतित्थयरे जिणे :

दूसरे पाद में तीन शब्द हैं : 'धर्म, तीर्थ और जिन । तीनों शब्दों को समझा कर, बाद में तीनों का समूह–अर्थ बताऊँगा । पहले अपन 'धर्म' शब्द पर चिंतन करें ।

'ललितविस्तरा' में 'धर्म' की व्याख्या इस प्रकार की गई है –

दुर्गति प्रसृतान् जीवान् यस्माद्धारयते ततः ।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने तस्माद्धर्म इति स्मृतः ।।

"दुर्गति में गिरते हुए जीवों को रोकते हुए, उनको शुभ स्थान में जो स्थापित करता है – वह 'धर्म' कहा जाता है ।"

– दूसरा शब्द है 'तीर्थ' । तीर्थ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है – 'तीर्यतेऽनेन इति तीर्थम् ।' जिसके द्वारा तैरा जायं वह तीर्थ ! वैसे तीर्थ के अनेक प्रकार हैं – नामतीर्थ, स्थापनातीर्थ, द्रव्यतीर्थ, भावतीर्थ वगैरह ! प्रस्तुत में 'धर्मतीर्थ' शब्द होने से भावतीर्थ ही यहाँ समझना है । भावतीर्थ का आश्रय लेनेवाले भव्यजीव भवसागर को अवश्य तैर जाते हैं, पुनः उनको तैरना नहीं पड़ता हैं ।

तीर्थंकर परमात्मा 'धर्मतीर्थ' के करनेवाले होते हैं । उनका स्वभाव ही धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने का होता है । इसलिए 'योगशास्त्र' की स्वोपज्ञ टीका में 'धम्मतित्थयरे' का अर्थ इस प्रकार किया गया है –

"देव, मनुष्य और असुरसहित पर्षदा में, सभी जीव अपनी–अपनी भाषा में समझ सके वैसी भाषा में, वैसी वाणी से 'धर्मतीर्थ' का प्रवर्तन करनेवालों को...."

अब अपन 'धम्मतित्थयरे' पद का अर्थनिर्णय करते हैं –

'दुर्गति में गिरते हुए जीवों को रोकते हुए सन्मार्ग में स्थापित करनेवाले और संसार सागर से तीरानेवाले धर्म के तीर्थ का, सभी भाषाओं में समझी जायं वैसी सातिशय वाणी से प्रवर्तन करने के स्वभाववाले....'

जिणे :

अब रहा 'जिन' शब्द । पहले इसके भिन्न–भिन्न अर्थ बताता हूँ ।

– जिन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ को जीते हैं, वे 'जिन' हैं ।

– जिन्होंने राग–द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परीषह, उपसर्ग और आठ प्रकार के कर्मों को जीते हैं वे 'जिन' हैं ।

– जिन्होंने राग–द्वेष और मोह को जीते हैं, वे 'जिन' हैं ।

इस प्रकार 'जिणे' का अर्थ – राग–द्वेष–कषाय–इन्द्रिय–परीषह–उपसर्ग और आठ प्रकार के कर्मों को जीतनेवाले 'जिन' हैं, उनको ।

अरिहंते कित्तइस्सं :

पहली गाथा के तीसरे चरण में दो शब्द हैं – अरिहंत और कित्तइस्सं । 'अरिहंत' की व्याख्या इस प्रकार होती है :

– इन्द्रिय, विषय, कषाय, परीषह, वेदना और उपसर्ग – इन शत्रु(अरि)ओं का हनन करनेवाले होने से 'अरिहंत' कहे जाते हैं ।

– जो वंदन और नमस्कार के योग्य होते हैं, पूजा और सत्कार के लिए योग्य होते हैं एवं जो सिद्धिगमन के लिए योग्य होते हैं, वे 'अरहन्त', 'अर्हत्' कहलाते हैं ।

– अशोकवृक्षादि अष्ट प्रातिहार्य आदि स्वरूप पूजायोग्य जो होते हैं वे 'अर्हत्' कहलाते हैं ।

– शास्त्रों में दोनों शब्द – 'अरिहंत' और 'अरहंत' देखने में आते हैं ।

'अरिहंते' का अर्थ इस प्रकार समझना –

'वंदन–नमस्कार, पूजा–सत्कार एवं सिद्धिगमन के लिए जो योग्य होते हैं तथा आठ कर्म, इन्द्रिय, विषय–कषाय आदि अरियों का हनन करनेवाले अरिहंत का' –

'कित्तइस्सं' यानी कीर्तन करूँगा । 'नामोच्चारणपूर्वक कीर्तन करूँगा ।' यह अर्थ समझना है ।

चउवीसं पि केवली :

'चउवीसं' शब्द, भरतक्षेत्र में जो ऋषभदेव से वर्धमान स्वामी तक तीर्थंकर हो गये, उनके लिए प्रयुक्त है ।

'पि' का अर्थ होता है 'अपि' । 'अपि' अव्यय है, उसके अनेक अर्थ होते हैं । 'अपि' का अर्थ 'और' किया गया है.... परंतु वाक्य अपूर्ण रहता है ! इसलिए 'आवश्यक–निर्युक्ति' ग्रंथ में 'पि' का अर्थ 'ऐरवत क्षेत्र में और महाविदेह क्षेत्र में जो अरिहंत हैं, उनका भी कीर्तन करूँगा,' ऐसा किया गया है ।

'केवली' का अर्थ है 'केवलज्ञानियों को ।' केवली पद की व्याख्या शास्त्रों में इस प्रकार की गई है – "जो संपूर्ण पंचास्तिकायात्मक लोक को और अलोक

को जानते हैं एवं देखते हैं एवं जो केवल चारित्री तथा केवलज्ञानी हैं वे 'केवली' कहे जाते हैं ।"

यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है – "जब इस प्रथम गाथा में, 'धर्मतीर्थंकर', 'जिन' और 'अरिहन्त' शब्द हैं ही, फिर 'केवली' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ?"

आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने 'आवश्यक सूत्र' की टीका में तथा 'ललितविस्तरा' में इस प्रश्न का समाधान किया है –

'केवली' यह अरिहन्त ... जिन... धर्मतीर्थंकर का विशेषण है । जो केवलज्ञानी होते हैं वे ही अरिहन्त, जिन एवं धर्मतीर्थंकर होते हैं । इस नियम का प्रतिपादन करने के लिए ही 'केवली' शब्द का प्रयोग है ।

"जो 'जिन' छद्मस्थ अवस्था में होते हैं, उनका यहाँ इस 'लोगस्स सूत्र' में समावेश नहीं है" – यह बात 'केवली' शब्द से फलित होती है ।

वैसे, 'नाम–जिन, स्थापना–जिन, द्रव्यजिन और भाव–जिन होते हैं । इस सूत्र में भावजिन ही प्रस्तुत हैं, और तीन नहीं हैं, यह सूचित करने के लिए 'केवली' शब्द का प्रयोग किया है ।' यह समाधान 'चैत्यवंदन–भाष्य' नाम के ग्रंथ में प्राप्त होता है ।

इस प्रकार, पहली गाथा का विशेष विवेचन पूर्ण कर २–३–४ गाथाओं का विशेष अर्थ करता हूँ ।

उसभमजिअं च वंदे संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ।। २ ।।
सुविहिं च पुप्फदंतं सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं धम्मं संतिं च वंदामि ।। ३ ।।
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं पासं तह वद्धमाणं च ।।

तीन गाथाओं में २४ तीर्थंकर भगवंतों के नाम दिये गये हैं । इन नामों के सामान्य एवं विशेष अर्थ बताने के पूर्व कुछ विशेष बातें पहले बता देता हूँ ।

पहली बात है ऋषभदेव भगवान की । वैसे हर तीर्थंकर की एक ही जाँघ के ऊपर लांछन एक विशिष्ट चिह्न होता है, परंतु ऋषभदेव की दोनों जाँघ पर 'वृषभ' का लांछन था । तपे हुए सुवर्ण जैसा उज्ज्वल वह लांछन था ।

दूसरी बात भी ऋषभदेव भगवान की ही है । वैसे हर तीर्थंकर की माता,

तीर्थंकर जब माता के गर्भ में आते हैं तब १४ महास्वप्न देखती है। उसमें पहला स्वप्न हाथी का होता है। जब कि ऋषभदेव की माता मरुदेवा ने पहला स्वप्न वृषभ का देखा था। इसलिए इन्द्र ने उनका नाम 'ऋषभ' रखा था।

तीसरी बात है 'च' शब्द की। इन गाथाओं में 'च' का प्रयोग ११ बार किया गया है। १० 'च' का अर्थ 'और' है और एक 'च' का प्रयोग 'अथवा' के अर्थ में है।

'सुविहिं च पुप्फदंतं' में जो 'च' आया है, उसका अर्थ है अथवा। शेष १० 'च' का अर्थ है 'और'!

नामों के सामान्य एवं विशेष अर्थ :

अब २४ तीर्थंकरों के नामों का सामान्य अर्थ और विशेष अर्थ सुन लो, समझ लो और स्मृति में भर लो!

ऋषभ : इसका सामान्य अर्थ है – जो परमपद की ओर गमन करते हैं वे 'ऋषभ' कहलाते हैं। इस नाम का दूसरा विकल्प है 'वृषभ'। दुःख से जली हुई दुनिया के ऊपर जो देशना–जल का वर्षण करें, सिंचन करें, वे 'वृषभ' कहलाते हैं।

विशेष अर्थ है – जिनकी दोनों जाँघ पर 'वृषभ' का चिह्न था, वे वृषभ।

अजित : सामान्य अर्थ है – जो परीषह और उपसर्गों से जीते नहीं गये वे 'अजित' कहलाये। तीर्थंकर माता के गर्भ में आने के बाद, द्यूतक्रीड़ा में माता को पिता जीत नहीं सके, इसलिए पुत्र का नाम 'अजित' रखा गया।

संभव : जिनमें ३४ अतिशय प्रकट हुए वे 'संभव' कहलाये – यह सामान्य अर्थ है। भगवंत माता के गर्भ में आने के बाद देश में अधिकाधिक धान्य पैदा हुआ था, इसलिए 'संभव' नाम पड़ा, यह विशेष अर्थ है।

अभिनंदन : देवेन्द्र वगैरह के द्वारा जिनका अभिनंदन किया गया – वे 'अभिनंदन' कहलाये। यह सामान्य अर्थ है। भगवान माता के गर्भ में आने के बाद, शक्रेन्द्र ने बार–बार आकर माता पुत्र का अभिनन्दन किया था। यह विशेष अर्थ है।

सुमति : जिनकी मति सुंदर होती है वह 'सुमति'। यह सामान्य अर्थ है।

विशेष अर्थ : भगवान माता के गर्भ में आने के बाद सभी अर्थनिर्णय करने में माता मतिसंपन्न बनी थी और दो सौतों का समाधान किया था।

पद्मप्रभ : पद्म (कमल) जैसी जिनकी देहप्रभा होती है वे 'पद्मप्रभ' कहलाते हैं, यह सामान्य अर्थ है ।

विशेष अर्थ : भगवान माता के गर्भ में आने के बाद माता को कमल की शय्या में सोने की इच्छा (दोहद) हुई थी और देवेन्द्र ने उस इच्छा को पूर्ण की थी, इसलिए भगवान का नाम 'पद्मप्रभ' पड़ा । भगवान की देहप्रभा भी पद्म जैसी थी ।

सुपार्श्व : जिनकी करवट (पार्श्वभाग) सुंदर होती हैं वे 'सुपार्श्व' कहलाते हैं । भगवान माता के गर्भ में आने के बाद, माता के पार्श्वभाग सुंदर बने थे, यह विशेष अर्थ है ।

चन्द्रप्रभ : चन्द्र जैसी जिनकी सौम्य कान्ति होती है, वे 'चन्द्रप्रभ' कहलाते हैं, यह सामान्य अर्थ है ।

विशेष अर्थ : भगवान माता के गर्भ में आने के बाद माता को चन्द्रपान की इच्छा हुई थी ।

सुविधि : सभी कार्यों में जिनका सुंदर विधि (कौशल्य) होता है वे 'सुविधि' कहलाते हैं ।

विशेष अर्थ : भगवान के गर्भ में आने के बाद भगवान की माता सभी कार्यों में कुशल बनी थी ।

शीतल : किसी भी जीव को संताप नहीं कराने से और सभी को आह्लाद कराने से 'शीतल' कहलाते हैं ।

विशेष अर्थ : भगवान के पिता को पित्तदाह उत्पन्न हुआ था, किसी भी औषध से वह शान्त नहीं होता था । भगवान के पिता को स्पर्श किया था और पिता का पित्तदाह शान्त हो गया था, शीतलता पायी थी ।

श्रेयांस : समस्त भुवन का श्रेयस् करनेवाले श्रेयांस कहलाते हैं ।

विशेष अर्थ : भगवान के कुल में परम्परागत एक शय्या थी, वह देवाधिष्ठित थी, उसकी सदैव पूजा होती थी । जो व्यक्ति उस शय्या पर चढ़ता, उसको देव कष्ट देता । माता के गर्भ में भगवान आने के बाद, माता को उस शय्या पर सोने की इच्छा हुई । वे शय्या पर चढ़े ही थे, कि देव चिल्लाता हुआ भाग गया । गर्भ के प्रभाव से माता का श्रेय हुआ इसलिए पुत्र का नाम 'श्रेयांस' रखा गया ।

वासुपूज्य : वसु यानी देव, जो देवों के पूज्य हो, वह वासुपूज्य ।

विशेष अर्थ : भगवान जब माता के गर्भ में आये तब वासव ने (इन्द्र ने) माता की पूजा की थी, इसलिए पुत्र का नाम वासुपूज्य रखा गया ।

दूसरी बात : भगवान माता के गर्भ में आने के बाद वैश्रवण (कुबेर) ने बार-बार रत्नों से राजकुल पूजा था, भरपूर किया था, इसलिए भगवान का नाम 'वासुपूज्य' रखा गया ।

विमल : जिनके मल चले गये वे विमल कहलाये । अथवा जिनके ज्ञान आदि निर्मल हों, वे विमल कहलाते हैं ।

विशेष अर्थ : भगवान के माता के गर्भ में आने से माता का शरीर और मन अति निर्मल बने थे, इसलिए विमल कहलाये ।

अनन्त : अनंत कर्मों को जो जीतते हैं वे 'अनन्त' कहलाते हैं । अथवा जिनमें अनन्त ज्ञान आदि गुण हैं वे 'अनन्त' कहलाये ।

विशेष अर्थ : भगवान के माता के गर्भ में आने के बाद, माता ने स्वप्न में अनन्त रत्नमय मालाएँ देखी थी इसलिए पुत्र का नाम 'अनन्त' रखा गया ।

धर्म : दुर्गति में गिरते जीवों को धारण करें, गिरने न दे, वह धर्म कहलाता है ।

विशेष अर्थ : भगवान के माता के गर्भ में आने के बाद, माता विशेष प्रकार से दान, दया आदि धर्म का पालन करनेवाली बनी थी, इसलिए पुत्र का नाम 'धर्म' रखा था ।

शान्ति : शान्ति प्राप्त करानेवाले, अथवा जो शान्ति स्वरूप होते हैं, वे 'शान्ति' कहलाते हैं ।

विशेष अर्थ : भगवान जब माता के गर्भ में आये तब देश में फैला हुआ मरकी का उपद्रव शान्त हो गया था, इसलिए पुत्र का नाम शान्ति रखा था ।

कुंथु : 'कु' यानी पृथ्वी, उसमें रहनेवाले 'कुंथु' कहलाते हैं ।

विशेष अर्थ : भगवान माता के गर्भ में आने के बाद, माता ने स्वप्न में ऊँचे महाप्रदेश में रहा हुआ रत्नमय स्तूप देखा था, इसलिए पुत्र का नाम 'कुंथु' रखा था ।

अर : अर का अर्थ होता है सर्वोत्तम । महासत्वशाली कुल में जो पैदा होता है और कुल की अभिवृद्धि में जो निमित्त बनता है ।

विशेष अर्थ : भगवान के माता के गर्भ में आने के बाद माता ने स्वप्न में सर्व रत्नमय अति सुंदर बड़ी आकृति का चक्र का आरा (पहिये की गड़ारी) देखा था, इसलिए पुत्र का नाम 'अर' रखा था ।

मल्लि : परीषह आदि मल्लों को जो जीतता है, उसे मल्लि कहा है ।

विशेष अर्थ : भगवान जब माता के गर्भ में आये उसके बाद माता को सभी ऋतु के श्रेष्ठ सुगंधी पुष्पों की माला की शय्या में सोने की इच्छा हुई थी, इसलिए 'मल्लि' नाम रखा था ।

मुनिसुव्रत : जगत की अवस्थाओं का जो मनन करते हैं वे मुनि कहलाते हैं, और जो सुंदर व्रतों को धारण करते हैं वे सुव्रत कहलाते हैं । जो मुनि होने के साथ सुव्रती होते हैं वे मुनिसुव्रत कहे जाते हैं ।

विशेष अर्थ : भगवान जब माता के गर्भ में आये तब माता सुंदर व्रतसंपन्न बने थे, इसलिए पुत्र का नाम 'मुनिसुव्रत' रखा गया था ।

नमि : परीषह-उपसर्ग को जो नमाते हैं वे नमि कहलाते हैं ।

विशेष अर्थ : सीमावर्ती राजाओं ने, भगवान के पिता के नगर को घेर लिया था, माता के गर्भ में भगवान आये हुए थे । माता को महल की अट्टालिका पर चढ़ने की इच्छा हुई । वे चढ़े । दुश्मन राजाओं ने रानी को देखा । गर्भ के प्रभाव से शत्रुराजाओं ने घेरा उठा लिया.... चले गये । शत्रुराजाओं को नमाये थे इसलिए पुत्र का नाम 'नमि' रखा था ।

नेमि : धर्मरूपी चक्र में नेमि । चक्र में जैसे नेमि होता है वैसे ।

विशेष अर्थ : जब भगवान माता के गर्भ में आये, उसके बाद माता ने 'रिष्ट' रत्नमय महान् चक्र के नेमि को उड़ता हुआ स्वप्न में देखा था, इसलिए पुत्र का नाम 'अरिष्टनेमि' रखा गया था । ('रिष्ट' शब्द अपमंगल होता है, इसलिए रिष्ट के पूर्व 'अ' लगा दिया है ।)

पार्श्व : सभी भावों को जो देखता है वह पार्श्व कहलाता है ।

विशेष अर्थ : भगवान जब माता के गर्भ में आये, माता ने एक दिन अंधकार में पास में ही सर्प को देखा था, इसलिए पुत्र का नाम 'पार्श्व' रखा गया ।

वर्धमान : जन्म से ही जो ज्ञानादि से बढ़ते हैं वे 'वर्धमान' कहलाते हैं ।

विशेष अर्थ : माता के गर्भ में जब से भगवान आये थे, तब से समग्र ज्ञातकुल धन-धान्य से बढ़ने लगा था । इसलिए 'वर्धमान' कहलाये ।

इस प्रकार २४ तीर्थंकरों के नाम के सामान्य एवं विशेष अर्थ बताये ।

वंदे :

२–३–४ गाथाओं में तीन बार 'वंदे' पद का और दो बार 'वंदामि' पद का प्रयोग हुआ है । इस तरह बार–बार 'वंदे' और 'वंदामि' पद का प्रयोग क्यों किया गया है, इसमें क्या गूढार्थ रहा हुआ है... इसका विशेष स्पष्टीकरण किसी प्राचीन ग्रंथ में पढ़ने में नहीं आया है । मात्र 'चैत्यवंदन–महाभाष्य' में सामान्य स्पष्टीकरण मिलता है –

जं पुण वंदइ किरया भणणं सुत्ते पुणो इत्थ ।
आयरपगासगत्ता पुणरुत्तं तं न दोसगरं ।। ५३८ ।।

'यहाँ सूत्र में बार–बार जो वंदनार्थक क्रियापद (वंदे–वंदामि) का प्रयोग हुआ है वह आदर बताने के लिए है, इसलिए वह पुनरुक्ति–दोष नहीं है ।'

इस प्रकार २–३–४ गाथाओं का अर्थ बता दिया । शेष ५–६–७ गाथाओं का विशेष अर्थ कल बताऊँगा ।

ये सारी शास्त्रीय एवं तात्त्विक बातें इसलिए बता रहा हूँ कि आप 'लोगस्स सूत्र' के विषय में चिंतन–मनन कर सकें । बड़ा प्रभावपूर्ण है यह सूत्र । आप 'लोगस्स सूत्र' का जाप करें, ध्यान करें और चिन्तन करें, यही मंगल कामना ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

प्रवचन : ६७

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या का प्रतिपादन किया है। दिनचर्या में उन्होंने 'योगाभ्यास' और 'नमस्कारादिचिन्तनम्' जैसी बातें भी कही हैं। बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं ये बातें। मैं तो महत्त्वपूर्ण मानता हूँ, आप जब मानोगे तब काम बनेगा !

लोगस्स सूत्र :

लोगस्स सूत्र की शेष तीन गाथाओं के विषय में आज विवेचन करना है –

एवं मए अभिथुआ, विहुय-रय-मला पहीण जरमरणा।
चउवी सं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
कित्तिय वंदिय महिया जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६ ॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

एवं मए अभिथुआ :

कहे हुए प्रकार के अनुसार, अभिमुखता से नामों के द्वारा कीर्तन कराये हुए,

बिहुयरयमला :

जिन्होंने विशिष्ट पराक्रम से सभी प्रकार के कर्मों को दूर कर दिये हैं,

पहीणजरा-मरणा :

जिनकी वृद्धावस्था एवं मृत्यु, संपूर्ण रूप से नष्ट हुए हैं,

चउवीसं पि जिणवरा :

२४ और दूसरे केवलज्ञानी जिनेश्वरों,

तित्थयरा मे पसीयंतु :

तीर्थंकर मेरे पर प्रसन्न हों !

पाँचवी गाथा का विवेचन :

– पाँचवी गाथा में महत्त्वपूर्ण शब्द है 'अभिथुआ'। इस शब्द का अर्थ तीन

प्रकार से किया गया है –

१. अपने–अपने नाम से कीर्तन कराये हुए ।

२. अप्रमत्त बनकर स्तवन कराये हुए ।

३. आदरपूर्वक स्तवन कराये हुए ।

भिन्न–भिन्न प्रज्ञावंत आचार्यों ने किए हुए ये अर्थ हैं ।

– इसी गाथा के दूसरे चरण में 'रज' और 'मल' दो शब्द आये हैं । जो कर्म जीव बाँध रहा है । वह 'रज' शब्द से निर्दिष्ट है और जो कर्म बँध गया है, निकाचित हो गया है वह 'मल' शब्द से निर्दिष्ट है ।

अथवा ईर्यापथिक कर्म–रज है और साम्परायिक कर्मफल है !

– 'जिणवरा' शब्द का विवेचन करते हुए आचार्यदेवश्री हरिभद्र सूरीश्वरजी आवश्यक सूत्र की टीका में कहते हैं – 'इह प्रवचने सामान्यतो विशिष्ट श्रुतधरादयोऽपि जिना एवोच्यन्ते । तद्यथाश्रुतजिना अवधिजिना, मनःपर्यायज्ञानजिनाः छद्मस्थवीतरागाश्च ।'

श्री जिनप्रवचन में सामान्यतया विशिष्ट श्रुतधर आदि भी 'जिन' ही कहे जाते हैं – श्रुतजिन, अवधिजिन, मनःपर्याय जिन तथा छद्मस्थ वीतराग । प्रस्तुत में ये 'जिन' नहीं समझने हैं, परंतु जो केवलज्ञानी हैं, केवलज्ञानी वैसे जिणवर अभिप्रेत हैं ।

पसीयंतु :

पाँचवी गाथा के चौथे चरण में जो 'पसीयंतु' शब्द आया हुआ है, वह गंभीर चिंतन करने योग्य शब्द है । बहुश्रुत आचार्यों ने इस शब्द पर पर्याप्त चिंतन किया है । मैंने इस सूत्र के ऊपर पहले प्रवचन में 'पसीयंतु' शब्द पर जो चिंतन व्यक्त करना था, किया था । मेरा चिंतन भी बहुश्रुत आचार्यों के पुष्ट मंतव्यों पर ही आधारित है ।

जिज्ञासा में से चिंतन का उद्‌भव होता है । यहाँ मुख्य रूप से एक जिज्ञासा जाग्रत होती है – 'जिनके राग–द्वेष आदि सभी दोष क्षीण हो गये हैं वे वीतराग भगवंत प्रसाद–कृपा कैसे कर सकते हैं ?'

इस जिज्ञासा का समाधान आचार्यदेव श्री हरिभद्र सूरीश्वरजी इस प्रकार करते हैं : 'वीतराग भगवंत कर्मक्लेशों का नाश होने से पूज्य हैं । जो स्तुति करने से प्रसन्न होते हो वे निंदा होने पर अवश्य रोषायमान होते हैं ! इस प्रकार जिनका

चित्त सर्वत्र समान नहीं हो, वे सभी जीवों का हित कैसे कर सकते हैं ? श्री तीर्थंकर भगवंत, राग-द्वेष का क्षय होने से स्व-पर के ऊपर समान चित्तवाले होते हैं, अज्ञान का क्षय होने से सर्वज्ञ होते हैं, इसलिए वे पूज्य हैं। सज्जन लोग सदैव उनकी पूजा करते हैं। जिस प्रकार शीत लहर से पीड़ित जीवों के ऊपर अग्नि बिना राग-द्वेष कृपा करती है, जीवों को अग्नि बुलाती भी नहीं हैं ! परंतु जो जीव अग्नि का सहारा लेते हैं वे इष्ट फल की प्राप्ति करते हैं। इसी प्रकार, तीनों भुवन के भावों को प्रकाशित करनेवाले तीर्थंकर भगवंतों की भाव-भक्ति से जो पूजा करते हैं वे इष्ट फल की प्राप्ति करते हैं। भव-शीत को दूर कर वे मुक्ति पाते हैं ! तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर अचिंत्य चिंतामणि समान हैं। अन्तःकरण की शुद्धि से व भक्ति से उनकी की हुई स्तुति से, स्तुतिकार को अभिलषित फल की प्राप्ति होती है।

'चैत्यवंदन महाभाष्य' में आचार्यश्री शान्तिसूरिजी ने कहा है –

"जो स्तुति करने से तुष्ट-प्रसन्न होते हैं वे निन्दा करने से अवश्य रुष्ट-रोषायमान बनते हैं। वे वीतराग नहीं कहला सकते ! और जो वीतराग नहीं होते उनकी स्तुति भी कैसे करें ? यदि वीतराग प्रसन्न ही नहीं होते तो फिर 'पसीयंतु' बोलने का प्रयोजन क्या ?" इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार है – भक्तिपूर्वक 'पसीयंतु' बोलने से कर्मों का क्षयोपशम होता है, इससे भव्य आत्माओं का कल्याण होता है

भत्तिभणिएण इमिणा कम्मक्ख-उवसमभावओ तह वि ।
भवियाण सुकल्लाणं कसायफलमूय मल्लि य इ ॥ ६२८ ॥

'श्री योगशास्त्र' की स्वोपज्ञ टीका में आचार्यश्री हेमचन्द्रसूरिजी कहते हैं : 'तीर्थंकर वीतराग होने से, उनकी स्तुति करने से वे दोष धारण नहीं करते, और उनकी निन्दा करने से वे द्वेषवाले नहीं बनते। फिर भी जैसे चिन्तामणि, मंत्र आदि के आराधक फलप्राप्ति करते हैं, वैसे वीतराग की स्तुति करनेवाले स्तुति का फल और निन्दक निंदा का फल प्राप्त करते हैं।'

महोपाध्यायश्री यशोविजयजी ने 'द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका' की सोलहवी 'इशानुग्रह-विचार-द्वात्रिंशिका' में कहा है –

आर्थं व्यापारमाश्रित्य तदाज्ञापालनात्मकम् ।
युज्यते परमीशस्यानुग्रहस्तंत्रनीतितः ॥ ७ ॥

भावार्थ यह है कि 'अर्थापत्ति भी एक प्रबल प्रमाण है। स्तुतिक्रिया का जो

फल मिलता है, उसमें फलदाता स्तोतव्य श्री जिनेश्वर हैं, ऐसा मानना प्रमाणसिद्ध है ।'

इसी द्वात्रिंशिका का अंतिम श्लोक इस प्रकार है –

अनुष्ठानं ततः स्वामि–गुणराग पुरस्सरं ।
परमानन्दतः कार्य मन्यमानै रनुग्रहम् ॥ ३२ ॥

इसका अर्थ है – 'अनुग्रह को माननेवाले साधक, श्री तीर्थंकर के गुणों के प्रति अनुराग रखते हुए परमान्द से अनुष्ठान करना चाहिए ।' अब अपन आगे बढ़ते हैं ।

छट्ठी गाथा का विवेचन :

छट्ठी गाथा में पहला चरण है – 'कित्तिय–वंदिय–महिआ ।'

– **कित्तिय** = अपने–अपने नाम से स्तवना किए हुए ।

– **वंदिय** = मन–वचन–काया से नमस्कार किए हुए ।

– **महिआ** = पुष्पादि से पूजित ।

दूसरा चरण है 'जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।'

– **जे ए** = निम्न विशेषणों से जो विशिष्ट हैं ।

– **लोगस्स** = जीवलोक के

– **उत्तमा** = श्रेष्ठ, प्रधान (उत्तमा प्रकृष्टाः)

– **सिद्धा** = सिद्ध बने हुए, कृतकृत्य बने हुए, जिन्होंने शिव प्राप्त किया है, जिनके सभी प्रयोजन सिद्ध–संपूर्ण हो गये हैं वे ।

तीसरा चरण है 'आरुग्गबोहिलाभं ।'

'आरुग्ग' यानी आरोग्य । 'बोहिलाभ' यानी बोधिलाभ । आरोग्य के लिए बोधिलाभ ! 'बोधिलाभ' का अर्थ किया गया है – परलोक में जिनधर्म की प्राप्ति । 'आरोग्य' का अर्थ 'सिद्धपना' किया गया है । प्रस्तुत में 'आरोग्य' शब्द से 'भाव–आरोग्य' ही समझना है ।

चौथा चरण है 'समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥'

'समाधानं समाधिः ।' समाधान यानी स्वस्थता । स्वस्थता (मन की) ही समाधि है । प्रस्तुत में भावसमाधि ही अभिप्रेत है । 'बोधिलाभ' के लिए 'श्रेष्ठ भाव–समाधि' माँगी गई हैं ।

पुनः 'उत्तम' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसलिए कि भावसमाधि भी जघन्य–मध्यम–उत्तम प्रकार की होती है ! हमें जघन्य और मध्यम भावसमाधि नहीं चाहिए, हमें उत्तम भावसमाधि चाहिए ।

'हे सिद्ध भगवंत, हमें आरोग्य, बोधिलाभ और उत्तम श्रेष्ठ भावसमाधि दो !' यह इसका अर्थ है ।

'दिंतु' क्रियापद के ऊपर चिंतन :

अनेक शास्त्रकारों ने 'दिंतु' के विषय में विस्तार से चर्चा की है । प्रश्न यह उपस्थित होता है कि –

'तीर्थंकर भगवंत में आरोग्य वगैरह देने की शक्ति है क्या ?' इस प्रश्न के भिन्न–भिन्न ग्रंथों में जो उत्तर मिलते हैं, वे उत्तर यहाँ बताता हूँ –

'आवश्यक सूत्र–हारिभद्रीय टीका' में कहा गया है :

'तीर्थंकर में आरोग्यादि वस्तु देने का सामर्थ्य नहीं है । 'दिंतु' – मुझे दो – यह तो केवल भक्ति से ही कहा जाता है । यह भाषा–प्रयोग 'असत्यामृषा' नाम का है । वास्तव में तीर्थंकर–भक्ति से स्वयमेव आरोग्यादि की प्राप्ति होती है । इस दृष्टि से कहा गया है – 'आप दो ।'

'ललितविस्तरा' में कहा गया है –

'श्री वीतराग भगवंत रागादि रहित होने से आरोग्यादि नहीं देते हैं, फिर भी इस प्रकार के वाक्यप्रयोग से प्रवचन–आराधना होती है । इससे सन्मार्गस्थित महासत्त्वशाली आत्मा को आरोग्यादि की प्राप्ति होती है ।'

'चैत्यवंदन महाभाष्य' में कहा गया है –

'आरुग्गबोहिलाभं....दिंतु ।' यह भक्ति की भाषा है । 'असत्यामृषा' भाषा है । राग–द्वेषरहित जिनवरों की परम भक्ति से जीव आरोग्यादि प्राप्त करते हैं।

'योगशास्त्र' में कहा गया है –

'दिंतु' ऐसा भक्ति से कहा गया है । केवल भक्ति से बोली गई 'असत्यामृषा' भाषा है ।

'धर्मसंग्रहणी' में कहा गया है –

'नैवेतदारोग्यादि–वाक्यं स्वतो निष्फलं, आरोग्यादेस्तत्त्वतो भगवद्भिरेव दीयमानत्वात् अवन्ध्यतथाविधविशुद्धाध्यवसायहेतुत्वात् । इसका अर्थ सुन लो – 'आरुग्गबोहिलाभं....दिंतु,' यह वाक्य निष्फल नहीं है । 'आरोग्यादि वस्तु

तात्त्विक दृष्टि से श्री तीर्थंकर ही देते हैं ! क्योंकि वे ही तथाविध विशुद्ध अध्यवसाय के हेतु हैं ।'

दूसरा प्रश्न यह उठाया गया है कि 'दिन्तु' यानी 'आरोग्य, बोधिलाभ, उत्तम भावसमाधि मुझे दो !' ऐसी याचना निदान है या नहीं ? यदि निदान (नियाणा) हैं तो उस याचना की जरूरत ही नहीं है, क्योंकि निदान नहीं करने का आगम में कहा गया है । यदि कहें कि 'यह निदान नहीं है,' तो फिर 'दिन्तु' पद सार्थक है या निरर्थक ?

यदि 'दिंतु' पद को सार्थक मानेंगे तो तीर्थंकरों को राग-द्वेषयुक्त मानने पड़ेंगे !

'दिंतु' पद को निरर्थक कहेंगे तो, श्री तीर्थंकर आरोग्यादि का प्रदान नहीं करते हैं, ऐसा जानने पर भी प्रार्थना करने में मृषावाद का दोष लगेगा ।

इस प्रश्न का समाधान 'ललितविस्तरा' में आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने किया है, सुनो एकाग्रता से –

'दिंतु' कहने में निदान नहीं है । क्योंकि निदान के जो लक्षण हैं वे यहाँ घटित नहीं होते हैं ! अत्यंत रागवश, अत्यंत द्वेषवश, अत्यंत मोह-अज्ञानवश नियाणा होता है ।

पौद्गलिक आशंसात्मक निदान-नियाणा में तत्त्वदर्शन नहीं होता है, इसलिए वह बहुत बड़ा नुकसान करता है । नियाणा में सारासार की अज्ञानता होती है, जो अज्ञानता वास्तव में निंदनीय होती है ।

अब 'दिंतु' पद की सार्थकता-निरर्थकता का विचार किया जाता है । 'असत्यामृषा' नाम की चतुर्थभाषा सार्थक होती है और निरर्थक भी होती है ।

– 'असत्यामृषा' भाषा में न तो प्राप्ति कराने की शक्ति है, न निषेध की शक्ति है, इसलिए निरर्थक है ।

– इस भाषा से प्रकृष्ट शुभ अध्यवसायों का फल प्राप्त होता है, इस दृष्टि से सार्थक भी है !

– 'दिंतु' इस प्रार्थना से मृषावाद का दोष नहीं लगता है, परंतु तीर्थंकर का प्रणिधान करने से फल की प्राप्ति होती है ।

– जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न आदि से जीवों को इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है, उस प्रकार, जिनेश्वरों में रागादि नहीं होने पर भी उनसे इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है । अपूर्व चिन्तामणि समान श्री तीर्थंकरों की स्तवना से 'बोधिलाभ' की प्राप्ति होती है ।

– तीर्थंकर की भक्ति करने से पूर्वसंचित कर्म नष्ट होते हैं। गुणप्रकर्ष का बहुमान कर्मवन को जलाने के लिए दावानल है।

'दिंतु' शब्द पर इतना चिंतन करने के बाद अब सातवी गाथा का विवेचन करता हूँ।

सातवी गाथा का विवेचन :

सातवी गाथा का पहला चरण है – 'चंदेसु निम्मलयरा।' इसका अर्थ है – चन्दों से ज्यादा निर्मल।

इसका शास्त्र में कारण बताया है – 'चन्द्र, सूर्य और ग्रह की प्रभा परिमित क्षेत्र को प्रकाशित करती है, जब कि केवलज्ञान की प्रभा लोक–अलोक को प्रकाशित करती है।'

यहाँ चन्दों से ज्यादा निर्मल कहा है। चन्द्र का बहुवचन है। इसका कारण यह है कि इस विश्व में एक ही चन्द्र नहीं है, असंख्य चंद्र हैं! असंख्य सूर्य हैं।

– जंबूद्वीप में दो सूर्य, दो चन्द्र।
– लवण समुद्र में चार सूर्य, चार चन्द्र।
– घातकी खंड में आठ सूर्य, आठ चन्द्र।
– कालोदधि में १६ सूर्य, १६ चन्द्र।
– अर्धपुष्करवर द्वीप में १६ सूर्य, १६ चंद्र।

मनुष्यलोक के बाहर हर द्वीप और हर समुद्र में... डबल–डबल चन्द्र–सूर्य होते हैं। सब मिलाकर असंख्य हो जाते हैं। इन सभी चन्दों से जिनेश्वर ज्यादा निर्मल होते हैं।

दूसरा चरण है – 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा।' तीर्थंकर परमात्मा सूर्यों से अधिक प्रकाश करनेवाले होते हैं। केवलज्ञान के उद्योत से तीर्थंकर लोक तथा अलोक को प्रकाशित करते हैं, इसलिए कहा गया कि सूर्यों से अधिक प्रकाश करनेवाले तीर्थंकर होते हैं।

तीसरा चरण है 'सागरवरगंभीरा।'

'सागरवरं' का अर्थ है सब सागरो से बड़ा स्वयंभूरमण समुद्र। तीर्थंकर, परीषह एवं उपसर्ग आदि से क्षोभायमान नहीं होते हैं, इसलिए वे स्वयंभूरमण से भी ज्यादा गंभीर कहे गये हैं।

चौथा चरण है – 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।' ऊपर जो विशेषण बताये हैं उन विशेषणों से विशिष्ट श्री तीर्थंकर भगवंत, जो कृतकृत्य हो गये हैं, वे मुझे सिद्धिपद दो ।

इस प्रकार 'लोगस्स सूत्र' की सात गाथाओं का विवेचन पूर्ण हुआ ।

सभा में से : श्री तीर्थंकर भगवंत लोक के भावोद्योत से उद्योतकर बताये गये, क्या 'द्रव्योद्योत' से भी लोक में उद्योत करते हैं ?

महाराजश्री : हाँ, द्रव्योद्योत से भी वे उद्योत करते हैं ! तीर्थंकर के आगे 'धर्मचक्र' चलता है । धर्मचक्र का उद्योत द्रव्योद्योत होता है । यह 'धर्मचक्र' देवकृत अतिशय से होता है । वह आकाश और पृथ्वी को प्रकाशित करता है । 'धर्मचक्र' का वर्णन 'अरिहाणाइथुत्त' नाम के स्तव में बहुत सुंदर मिलता है ।

'सूर्यबिंब की तरह देदीप्यमान प्रभावाला तेज से जाज्वल्यमान वैसा धर्मचक्र जिनेन्द्र के आगे–आगे चलता है । आकाश–पाताल तथा समग्र पृथ्वीमंडल को प्रकाशित करता हुआ वह चक्र, तीन लोक के अंधकार को दूर करता है । (मिथ्यात्वरूपी मोहान्धकार को)

'वीतराग स्तोत्र' में श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने कहा है –

मिथ्यादृशां युगान्तार्कः सुदृशाममृताञ्जनम् ।
तिलकं तीर्थकुल्लक्ष्म्याः पुरश्चक्रं तवैद्यते ।।

(प्रकाश ४, श्लोक १)

"मिथ्यादृष्टियों के लिए प्रलयकालीन सूर्यसमान, सम्यग् दृष्टि आत्माओं के लिए अमृत के अंजन के समान और तीर्थंकरत्वलक्ष्मी के भालस्थल में तिलक समान 'धर्मचक्र' हे नाथ ! आपके आगे चलता है !"

सभा में से : 'सुविहिं च पुप्फदंतं' में 'सुविहिं' कहने के बाद 'पुप्फदंतं' कहने का क्या प्रयोजन है ?

महाराजश्री : 'पुष्पदंत' यह सुविधिनाथ का दूसरा नाम है । 'श्री ठाणांगसूत्र' में दो तीर्थंकरों को चन्द्र जैसे गौरवर्ण के बताते हुए चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत – ये दो नाम बताये हैं, यानी वहाँ 'सुविधि' नाम नहीं दिया है । इस दृष्टि से 'सुविधि' विशेषण हो सकता है ! 'आवश्यक–निर्युक्ति' में मात्र 'पुष्पदंत' एक ही नाम लिया गया है ।

चैत्यवंदन–महाभाष्य में दूसरी बात है ! सुविधि नाम है और 'पुष्पदंत' विशेषण है ! 'सुविहि नामं विसेसणं बीयं ।'

इस प्रकार, दो नाम में से किसी एक को विशेषण बनाकर दूसरे को विशेष्य बनाया जा सकता है ।

'श्री समवायांग सूत्र' में भी सुविधिनाथ के लिए दो नाम का एक साथ प्रयोग करने में आया है : सुविहिस्स णं पुप्फदंतस्स अरहओ छलसीइ गणा । (सूत्र ८६)

सभा में से : 'लोगस्स सूत्र' में श्री तीर्थंकर भगवंतों का ही गुणोत्कीर्तन क्यों किया गया है ?

महाराजश्री : श्री तीर्थंकर भगवंत मुख्यरूप से कर्मक्षय के हेतु हैं, प्राप्तबोधि की विशुद्धि में हेतु हैं, भवांतर में बोधिलाभ करानेवाले हैं और पापयोग को विरति के उपदेशक होने से उपकारी हैं ।

लोगस्स सूत्र में तीर्थंकरों की ही स्तवना की गई है ।

'लोगस्स सूत्र' के उपधान :

सभा में से : जिस प्रकार श्री नमस्कार महामंत्र के उपधान किये जाते हैं उस प्रकार लोगस्स सूत्र के भी उपधान किये जाते हैं क्या ?

महाराजश्री : हाँ, किसी भी सूत्र का अध्ययन करने से पूर्व उस सूत्र का अध्ययन करने की गुरुदेव से अनुज्ञा प्राप्त करनी चाहिए । गुरु-आज्ञा के बिना सूत्र का अध्ययन करने का आर्हत दर्शन में निषेध है । वह अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए कुछ दिनों की विशेष तपश्चर्या और कुछ विशिष्ट क्रियाएँ की जाती हैं, उसको 'उपधान' कहते हैं । 'लोगस्स सूत्र' के उपधान के विषय में बताया गया है कि :

– जब सुप्रशस्त और सुंदर तिथि, करण, नक्षत्र, योग, लग्न एवं चन्द्रबल हो तब –

– जाति, कुल आदि आठ मदों से मुक्त बन,

– आशंकाओं से मुक्त बन,

– भक्ति-बहुमान के साथ

– जिनचैत्य में, जन्तुरहित प्रदेश में, हृदय में भक्तिभाव भर के, नतमस्तक हो, रोमराजि विकस्वर हो, वदनकमल विकसित हो, प्रशान्त-सौम्य-स्थिर दृष्टि हो, संवेगपूर्ण हृदय हो, अचिंत्य शुभ परिणाम से उल्लसित आत्मवीर्य हो, प्रतिसमय वृद्धिंगत प्रमोद से विशुद्ध, निर्मल और स्थिर अन्तःकरण हो तब –

– जमीन पर दो घुटने, दो हाथ और मस्तक स्थापित कर, वंदना करनी चाहिए ।

– परमात्मप्रतिमा पर दृष्टि और मन स्थिर करना चाहिए ।

– गुरुदेव की कृपा से, उनके मुख से निकली हुई लोगस्स सूत्र की प्रथम गाथा, जो कि चार चरणवाली एवं ३२ अक्षरवाली है, उसको ग्रहण करनी चाहिए ।

– प्रथम गाथा का अध्ययन करने के लिए तीन उपवास का तप,

– दूसरी, तीसरी और चौथी गाथा का अध्ययन करने के लिए ६ उपवास का तप,

– पाँचवी–छट्ठी–सातवी गाथा का अध्ययन करने के लिए ६ उपवास और एक आयंबिल का तप करना चाहिए ।

– एक उपवास के दो आयंबिल भी किये जाते हैं ।

– उपधान में स्त्री–पुरुषों को पौषध–व्रत में रहना होता है ।

– उपधान में 'लोगस्स-सूत्र' का प्रतिदिन ३२४ बार स्मरण किया जाता है ।

– लोगस्स सूत्र के उपधान २८ दिन के होते हैं ।

चतुर्विंशति–स्तव से बोधिलाभ की प्राप्ति :

'लोगस्स सूत्र' यानी चतुर्विंशति–स्तव भावमंगल है । इस भावमंगल से जीव कौन सा लाभ प्राप्त करता है, इस विषय में श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी को प्रश्न पूछा था –

थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणेइ ? नाणदंसण चरित्त बोहिलाभं संजणइ । नाणदंसण चरित बोहिलाभ संपन्नेणं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तियं आराहणं आराहेइ ।

(उत्तराध्ययन सूत्र : अध्ययन २९)

इसका अर्थ इस प्रकार है : 'हे भगवन्, स्तव और स्तुतिरूप भावमंगल से कौन सा लाभ जीव प्राप्त करता है ?'

भगवान कहते हैं : हे गौतम, स्तव और स्तुतिरूप भावमंगल से जीव ज्ञानबोधि, दर्शनबोधि और चारित्रबोधि प्राप्त करता है । इस प्रकार के बोधिलाभ से जीव देवविमान में जाता है और मोक्ष में जाता है ।

कायोत्सर्ग में लोगस्स सूत्र का ध्यान :

कायोत्सर्ग को लोकभाषा में 'काउस्सग्ग' कहते हैं । काउस्सग्ग में लोगस्स सूत्र का स्मरण करने का होता है । कायोत्सर्ग कैसे खड़ा रहना चाहिए और किस

प्रकार लोगस्स सूत्र का स्मरण करना चाहिए, यह बताते हुए एक प्राचीन ग्रंथ में लिखा है –

चउरंगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलिकय पसत्थो ।
अव्वाखित्तो वुत्तो कुणदिय चउविसत्थयं भिक्खू ।।

दो पाँव के बीच चार अंगुल का अंतर रखकर खड़ा रहना है (आगे चार अंगुल, पीछे दो अंगुल), शरीर का हिलना बंद करना है, शरीर–भूमि और चित्त का प्रमार्जन करना है, अंजलि जोड़कर (कायोत्सर्ग करना हो तो दो हाथ नीचे लटकाना है), सौम्य भाव बनाना है, चित्त की व्याक्षिप्तता दूर करना है, सर्व व्यापार (प्रवृत्ति) से निवृत्त होकर भिक्षु चतुर्विंशति स्तव का स्मरण करें ।

लोगस्स कल्प :

'लोगस्स सूत्र' की हर गाथा और प्रत्येक पद मंत्रात्मक हैं । उन गाथाओं का, मंत्रीबीजों के साथ विधिपूर्वक जाप किया जायं तो भिन्न–भिन्न कार्यसिद्धि होती है । 'लोगस्स कल्प' में वैसे सात मंत्र दिये गये हैं । उदाहरण के रूप में एक मंत्र आपको सुनाता हूँ –

ॐ ह्रीं श्रीं ऐं लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे अरिहंते कित्तइस्सं च उ वी सं ऽ पि केवली मन मनोऽभीष्टं कुरु कुरु स्वाहा ।

– १४ दिन तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, पूर्वदिशा सन्मुख खड़े रह कर, १०८ बार, कायोत्सर्ग में जाप करने का है इस मंत्र का । इससे विविध प्रकार के फल की प्राप्ति होती है ।

कोई भी मंत्र हो, उसके जाप में मन का मंत्र के साथ अखंड संबंध होना अति आवश्यक होता है । मन का शुद्धीकरण और स्थिरीकरण होना अनिवार्य होता है । जो मनुष्य मन को शुद्ध और स्थिर नहीं रख सकता है उसके लिए मंत्रजाप कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता है ।

चतुर्विंशति जिनस्तोत्र एवं पंचषष्ठि यंत्र :

लोगस्स सूत्र में जिस प्रकार २४ तीर्थंकरों की नामनिर्देश के साथ स्तवना की गई है, वैसे २४ तीर्थंकर एवं पचीसवा श्रीसंघ गिन कर, उनके स्तोत्र प्राचीन महामुनिवरों ने रचे हैं और स्तोत्रों के आधार पर यंत्रों की रचना भी की गयी है । उसके नाम – महासर्वतोभद्र यंत्र, सर्वतोभद्र यंत्र, अतिभव्य यंत्र..... वगैरह हैं ।

जिस यंत्र के अंकों की भिन्न-भिन्न प्रकार से जोड़ लगाते हुए ७२ प्रकार से ६५ की जोड़ आती है, उसको 'महासर्वतोभद्र' यंत्र कहते हैं।

'पंचषष्ठि यंत्र' के महासर्वतोभद्र आदि प्रकार की रचना श्री जिनेश्वर भगवंत के नामरूप अंकों में पचीसवा अंक जोड़ने से होती है। यह पचीसवा अंक तीर्थस्वरूप-संघस्वरूप समझा जाता है।

इस विषय में एक सावधानी रखनी चाहिए। इस विषय के जो अच्छे ज्ञाता महापुरुष हों, उनके सान्निध्य में और उनके मार्गदर्शन में ही मंत्र-तंत्र की साधना करनी चाहिए।

उपसंहार :

'श्री लोगस्स सूत्र' किस प्रकार बोलना चाहिए - यह बताकर प्रवचन पूर्ण करता हूँ। 'श्री महानिशीथ सूत्र' में कहा गया है -

'स्वर, व्यंजन, मात्रा, बिंदु, पद तथा अक्षर थोड़ा सा भी न्यून न हो इस प्रकार पदच्छेद, घोषबद्धता, पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी तथा अनानुपूर्वी से बहुत ही विशुद्ध ढंग से, भूल किये बिना, एकाग्रता से बोलना चाहिए।

'लोगस्स सूत्र' के विवेचन में मतिमंदता के कारण, जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ भी बोला गया हो..... तो क्षमाप्रार्थी हूँ।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ६८

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या बताते हुए कहा है – 'नमस्कारादिचिन्तनम् ।' श्रावक को श्री नमस्कार महामंत्र आदि सूत्रों पर चिंतन करना चाहिए । 'आदि' शब्द से लोगस्स सूत्र, उवसग्गहरं स्तोत्र... नमुत्थुणं सूत्र आदि समझने चाहिए । इस दृष्टि से श्री नमस्कार महामंत्र के विषय में तीन प्रवचन दिये, लोगस्स सूत्र के विषय में भी तीन प्रवचन दिये, अब उवसग्गहरं स्तोत्र के विषय में प्रवचन का प्रारंभ करूँगा ।

उवसग्गहरं स्तोत्र :

सर्वप्रथम मैं इस स्तोत्र की रचना किसने की, क्यों की वगैरह बातें बताऊँगा। इतिहास की यह बात है ।

प्रतिष्ठानपुर नाम का नगर था । वहाँ भद्रबाहु और वराहमिहिर नाम के दो ब्राह्मणबंधु रहते थे । वे दोनों भाई धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र, व्याकरण, काव्य.... इत्यादि शास्त्रों में पारंगत थे ।

एक दिन प्रतिष्ठानपुर में जैनाचार्य यशोभद्रसूरिजी पधारे । वे श्रमण भगवान महावीर स्वामी की परंपरा के पाँचवे आचार्य थे । भगवंत के बाद उनके पाँचवे गणधर श्री सुधर्मास्वामी उत्तराधिकारी बने, उनके निर्वाण के बाद, उनके शिष्य जंबूस्वामी उत्तराधिकारी बने । जंबूस्वामीजी के निर्वाण के बाद श्री प्रभवस्वामी जिनशासन के नायक बने थे । उनके उत्तराधिकारी शय्यंभवसूरिजी बने थे । शय्यंभवसूरिजी के शिष्य थे श्री यशोभद्रसूरिजी ।

जब श्री यशोभद्रसूरिजी प्रतिष्ठानपुर में आये, भद्रबाहु और वराहमिहिर परिचय में आये । जैनाचार्य की अद्‌भुत उपदेश शैली, असाधारण विद्वत्ता, उत्तम चारित्र और परम शांत मुद्रा से वे ब्राह्मणबंधु बहुत प्रभावित हुए । उन्होंने सोचा :

'इस महापुरुष के सामने अपना ज्ञान कुछ भी नहीं है । अपन उनके शिष्य बन जायं और उनसे विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति करें.... जिससे मनुष्य जीवन सफल होगा एवं आत्मा का कल्याण होगा ।'

भद्रबाहु और वराहमिहिर ने दीक्षा ली । गुरुचरणों में बैठकर जैनागमों का अध्ययन करने लगे ।

'ग्यारह अंग' सूत्रों का अध्ययन पूर्ण करने के बाद, जब बारहवा 'दृष्टिवाद' सूत्र पढ़ने का प्रारंभ हुआ, वराहमिहिर को वह पढ़ना मुश्किल लगा, वे नहीं पढ़े। भदबाहु मुनि ने पढ़ लिया। दृष्टिवाद के अन्तर्गत १४ पूर्वों का ज्ञान होता है। भदबाहु मुनि ने असाधारण धैर्य से और परिश्रम से १४ पूर्वों का अध्ययन कर लिया। वे **'श्रुतकेवली'** बन गये।

भदबाहु मुनि की सर्वतोमुखी प्रतिभा देखकर गुरुदेव ने उनको आचार्यपद पर स्थापित कर दिये। वराहमिहिर को आचार्यपद नहीं दिया गया। उसमें वह पद पाने की योग्यता ही नहीं थी। वराहमिहिर नाराज हो गया। आचार्य बनने की उसकी आकांक्षा पूर्ण नहीं होने से उसने जैन दीक्षा छोड़ दी! वह पुनः ब्राह्मण हो गया। जैनधर्म और जैन साधुओं का द्वेषी बन गया।

वराहमिहिर ने साधुजीवन में ज्योतिष विद्या का अच्छा अध्ययन किया था इसलिए उसने ज्योतिष विद्या को ही अपना व्यवसाय बना लिया। राजा और प्रजा में वह प्रिय बना। उसने प्रजा में एक मनःकल्पित बात चला दी कि –

'जब मैं छोटा था, मुझे ज्योतिष विद्या में रस था। एक दिन मैं गायों को लेकर जंगल में गया था, खेलते–खेलते मैंने एक पत्थर–शिला के ऊपर सिंह–लग्न की कुंडली बना दी। शाम को उस कुंडली को मिटाये बिना घर पहुँचा। रात्रि में मुझे विचार आया – 'मैंने उस सिंह–लग्न की कुंडली मिटायी नहीं है, अभी वहाँ जाकर मिटा दूँ।' मैं निर्भयता से रात्रि के समय जंगल में गया। वहाँ जाकर उस शिला पर देखा...तो स्तब्ध रह गया। सिंह–लग्न के ऊपर सिंह खड़ा था। मैं भयभीत नहीं हुआ। सिंह के नीचे हाथ डाल कर मैंने कुंडली मिटा दी।'

मेरा पराक्रम देख कर वह सिंह सूर्य के रूप में प्रकट हुआ और मुझे कहा: 'वत्स, तेरी यह लग्नकुंडली के प्रति मैं प्रसन्न हुआ हूँ और तेरे पराक्रम से मैं प्रभावित हुआ हूँ, इसलिए मैं सूर्यदेव तुझे कहता हूँ : तुझे जो चाहिए सो माँग ले!'

मैंने कहा : 'हे सूर्यदेव! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हुए हो, तो मुझे ज्योतिषचक्र के सभी ग्रह, नक्षत्र और तारें बता दो! मुझे संपूर्ण ज्योतिष–मंडल देखना है।'

सूर्यदेव मुझे ज्योतिष–देवलोक में ले गये और संपूर्ण ज्योतिष–मंडल बता दिया। मैंने वह सब याद रख लिया!

लोगों ने वराहमिहिर की बात मान ली।

वराहमिहिर ने सवा लाख श्लोकों की रचना कर ज्योतिष का एक बड़ा ग्रंथ बनाया। दूसरी भी अनेक ग्रंथ–रचनाएँ की। वह मगधनरेश नंदराजा का प्रीतिपात्र बना।

राजा को अपने ज्ञान से प्रभावित करने के लिए एक दिन वराहमिहिर ने राजसभा में राजा को कहा : 'हे राजेश्वर, इस चातुर्मास में, वर्षाकाल में एक दिन बहुत वृष्टि होगी और मैं मार्ग पर जो वर्तुल बनाता हूँ, उस वर्तुल के मध्य में ५२ पल वजन की बड़ी मछली गिरेगी।'

यह बात आचार्य श्री भद्रबाहु ने सुनी। उन्होंने अपने ज्ञानप्रकाश में देखकर, श्रावकों के द्वारा नंदराजा को कहलवाया कि – 'वृष्टि की बात सही है, परंतु मछली जो गिरेगी, वह ५२ पल में आधा पल कम वजन की होगी और वह वर्तुल के मध्य में नहीं गिरेगी, किनारे पर गिरेगी।'

बात वही बनी जो भद्रबाहु स्वामी ने कही थी। राजा को भद्रबाहु स्वामी के प्रति श्रद्धा हुई। इससे वराहमिहिर जैन संघ एवं जैन साधुओं के प्रति ज्यादा द्वेषी बना।

कुछ दिनों के बाद एक दूसरी घटना घटी।

राजा के महल में रानी ने पुत्र को जन्म दिया। वराहमिहिर ने राजकुमार की जन्मकुंडली बना कर, उसका फलादेश करते हुए कहा : 'महाराजा, राजकुमार का आयुष्य १०० साल का है।' राजा का चित्त प्रसन्न हुआ। प्रजा भी आनन्दित हुई। पुत्रजन्म की खुशियाँ मनाने लगे लोग। राजा व राजकुमार को आशीर्वाद देने अनेक धर्मगुरु राजा के पास गये। सभी ने आशीर्वाद दिये। परंतु भद्रबाहु स्वामी नहीं गये। श्रावकों के द्वारा भी आशीर्वाद नहीं भेजे।

वराहमिहिर ध्यान रखता था कि 'भद्रबाहु आशीर्वाद देने राजसभा में जाते हैं या नहीं!' जब भद्रबाहु स्वामी नहीं गये तो वराहमिहिर ने राजा के कानों में विष डाल दिया – 'महाराजा, राजकुमार को आशीर्वाद देने सभी लोग आये, सभी धर्मगुरु भी आये, परंतु जैनाचार्य भद्रबाहु स्वामी नहीं आये, कारण मैं नहीं जानता.... आप जान सकते हो!'

नंदराजा ने महामंत्री शकडाल को पूछा : 'महामंत्री, कुमार को आशीर्वाद देने सभी धर्मगुरु आकर गये, आपके गुरु क्यों नहीं आये?'

शकडाल मंत्री ने कहा : 'आज ही मैं गुरुदेव को पूछ कर कल आपको कहूँगा।' महामंत्री ने गुरुदेव के पास जाकर पूछा। गुरुदेव ने कहा : 'महामंत्री, राजा को

कहना कि राजकुमार की आज से सातवे दिन बिल्ली के द्वारा मृत्यु होनेवाली है – यह जानकर हमारे आचार्य पुत्रजन्म पर आशीर्वाद देने नहीं आये।'

महामंत्री ने जाकर राजा को बात सुना दी। वैसे भी राजा को भद्रबाहु स्वामी के प्रति श्रद्धा थी, उनकी बात को वह मानता था। उसने सेवकों के द्वारा सभी बिल्लियों को नगर से दूर भिजवा दिया। राजकुमार के आसपास सशस्त्र सैनिक खड़े कर दिये। राजमहल में एक भी बिल्ली का प्रवेश न हो, इसलिए प्रबंध कर लिया। राजा आश्वस्त हुआ; नगर में एक भी बिल्ली रही नहीं है.... राजमहल में बिल्ली का प्रवेश संभव नहीं है, अब बिल्ली से कुमार की मृत्यु कैसे हो सकती है ? नहीं होगी मृत्यु।

छह दिन बीत गये।

सातवाँ दिन था। धावमाता (धाय) कुमार को लेकर कमरे के द्वार पर बैठी थी और दूध पिला रही थी। कमरे के द्वार के ऊपर लकड़ी का आगला था, वह टूट पड़ा.... सीधा कुमार पर गिरा.... और उसी क्षण कुमार की मृत्यु हो गई।

नगर में, राज्य में सर्वत्र शोक छा गया। वराहमिहिर नगर छोड़कर भाग गया। भद्रबाहु स्वामी राजमहल में गये और शोक–संतप्त राजा को धर्मोपदेश देकर आश्वासन दिया। राजा ने आचार्यदेव के ज्योतिषज्ञान की प्रशंसा की। राजा ने पूछा : 'गुरुदेव, आपने कहा था कि बिल्ली से मृत्यु होगी, यह बात सच्ची नहीं हुई ?'

आचार्यदेव ने कहा : 'वह बात सच्ची ही है, वह लकड़ी का आगला जो टूट कर गिरा था वह यहाँ मंगवाइए।'

राजा ने आगला मंगवाया। आगले के ऊपर बिल्ली का मुँह बनाया हुआ था। राजा ने देखा। राजा को संतोष हुआ और वह आचार्यदेव का परम भक्त बन गया।

वराहमिहिर जंगल में गया, तापस बन गया। हृदय में जैन संघ और भद्रबाहु स्वामी के प्रति द्वेष भरा ही था। उसने तपश्चर्या की। मरकर वह तपश्चर्या के प्रभाव से व्यंतर देवलोक में व्यंतरदेव बना।

उसने अपने ज्ञान से अपना पूर्वजन्म देखा। द्वेषभावना पैदा हो गई। जैन संघ को मारने के लिए उसने नगर में महामारि–रोग फैला दिया। कई लोग मरने लगे। संघ के मुखिया लोग भद्रबाहु स्वामी के पास गये। सारी बात बतायी।

'संघरक्षा करना मेरा परम कर्तव्य है,' यह सोचकर उन्होंने ज्ञान से रोग–उपद्रव का कारण देखा।

उन्होंने उसी समय 'उवसग्गहरं स्तोत्र' की रचना की। स्तोत्र संघ को दिया। 'इस स्तोत्र का जो पाठ करेगा उसको महामारि का रोग नहीं होगा। जिसको हुआ होगा, उसका रोग शान्त हो जायेगा।'

संघ के अग्रणी प्रसन्नचित्त होकर गये। उवसग्गहरं स्तोत्र का जैन संघ के घर–घर में पाठ होने लगा। रोग दूर हो गया। तब से यह स्तोत्र इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिए जैन संघ में प्रचलित बन गया।

इस प्रकार उवसग्गहरं स्तोत्र की रचना श्री भद्रबाहु स्वामी ने की है – यह बात अनेक प्राचीन ग्रंथों में लिखी गई है।

उवसग्गहरं थोत्तं काऊण जेण संघकल्लाणं।
करुणायरेण विहियं स भद्रबाहु गुरु जयउ ।।

'करुणा के भंडार ऐसे आचार्यदेव ने उवसग्गहर स्तोत्र की रचना कर, श्री संघ का कल्याण किया, वे श्री भद्रबाहु गुरु जयवंत हो!'

'सम्यक्त्वसप्ततिका–वृत्ति' में कहा गया है –

"तेहिं नाणबलेण वराहमिहिर वंतस्स दुच्चिट्ठियं नाऊण सिरि पास सामिणो 'उवसग्गहरं' थवणं काऊण संघकए पेसियं ।।"

श्री भद्रबाहु स्वामी ने ज्ञानबल से वराहमिहिर व्यंतर का दुश्चेष्टित (रोग फैलाने का) जान कर, श्री पार्श्वनाथ स्वामी का 'उवसग्गहरं' नाम का स्तवन बनाकर संघ को भेजा।

'गुर्वावली' में आचार्यश्री मुनिसुंदरसूरिजी ने कहा है –

अपश्चिमः पूर्वभृतां द्वितीयः, श्रीभद्रबाहुश्च गुरुः शिवाय।
कृत्वोपसर्गादिहर स्तवं यो, ररक्ष संघं धरणार्चितांह्रिः ।।
निर्यूढ सिद्धान्तपयोधिरापे स्वर्गश्च वीरात् खनगेन्दुवर्षे।

'आचार्यश्री यशोभद्रसूरिजी के दूसरे पट्टधर, अंतिम पूर्वधर, उपसर्गहर स्तोत्र की रचना कर संघरक्षा करनेवाले, धरणेन्द्र से पूजित सिद्धान्तसागर को वहन करनेवाले और वीर संवत् १७० में स्वर्गवासी होनेवाले श्री भद्रबाहु गुरु आपके कल्याण के लिए हो!'

इस स्तोत्र का दिव्य प्रभाव :

वराहमिहिर–व्यन्तरदेव द्वारा फैलाये गये रोग–उपद्रव, इस स्तोत्र से दूर हो गये, यह बात आपने जान ली, अब उसके दूसरे प्रभावों का वर्णन 'प्रियंकर नृपकथा' में जिनसूर मुनिवर ने किया है ।

उपसर्गहरस्तोत्रं कृतं श्री भद्रबाहुना ।
ज्ञानादित्येन संघस्य शान्तये मंगलाय च ।। १ ।।

यह उवसग्गहर स्तोत्र, ज्ञान के सूर्य समान श्री भद्रबाहु ने संघ की शान्ति और कल्याण के लिए बनाया है ।

इस स्तोत्र का प्रारंभ 'उवसग्गहरं' शब्द से होता है, इसलिए यह स्तोत्र 'उवसग्गहरं स्तोत्रं' के नाम से पहचाना जाता है । संस्कृत भाषा में 'उपसर्गहर स्तोत्रं' कहा जाता है । दूसरे नाम – 'उपसर्गहरस्तव,' 'उपसर्गहरस्तवन.... ' उपसर्गहरण स्तोत्र.... वगैरह भी हैं । इस स्तोत्र में श्री पार्श्वनाथ भगवान की स्तवना होने से उसको 'पार्श्वजिन–लघुस्तव', 'पार्श्वस्तवन' भी कहा गया है ।

एतत्स्तवप्रभावो हि वक्तुं केनापि शक्यते ? ।
गुरुणा हरिणा वा वाक्–प्रहूवाऽप्येकजिह्वया ।। २ ।।

इस स्तव का प्रभाव कौन कह सकता है ? वाणी में विनम्र ऐसी एक जीभ से बृहस्पति या इन्द्र भी कहने में समर्थ नहीं है ।

उपसर्गहरस्तोत्रे स्मृते स्युः शुभसम्पदः ।
संयोगसन्ततिर्नित्यं, स्युः समीहितसिद्धयः ।। ३ ।।

उपसर्गहर स्तोत्र का प्रतिदिन स्मरण करने से शुभ संपत्ति, संतति का योग तथा इच्छित सिद्धिओं की प्राप्ति होती है । शुभ संपत्ति यानी विद्यासंपत्ति, कलासंपत्ति, धनसंपत्ति और धर्मसंपत्ति समझना । संतति–योग यानी विनयवान्, आज्ञांकित पुत्र–पुत्री–परिवार समझना । इच्छित सिद्धियाँ यानी व्यापार में लाभ, शत्रुपक्ष पर विजय तथा मंत्रादि सिद्धियाँ समझना ।

उदयोच्चपदोपाया, उत्तमत्वमुदारता ।
उकाराः पंच पुंसः स्युस्पसर्गहरस्मृतेः ।। ४ ।।

उपसर्गहर स्तोत्र का स्मरण करने से पुरुष को पाँच 'उ'कारों की प्राप्ति होती है – १. उदय, २. उच्चपद, ३. उपाय, ४. उत्तमता और ५. उदारता ।

इस स्तोत्र का प्रथम अक्षर 'उ' है । वह 'उ' पाँच प्रकार के उकार देनेवाला

है। पहला है उदय। उदय यानी दिन–प्रतिदिन उन्नति। दूसरा उकार है उच्चपद। कोई बड़े पद की प्राप्ति होती है। बड़ा ओहदा.... अधिकार मिलता है। राज्यादि की ओर से सम्मान प्राप्त होता है। तीसरा उकार है उपाय। उपाय यानी इष्ट प्राप्ति के साधन। चौथा उकार है उत्तमता। उत्तमता यानी श्रेष्ठता, श्रेष्ठता प्राप्त होती है। पाँचवा उकार है उदारता। परोपकार करने की वृत्ति जाग्रत होती है।

पुण्यं पापक्षयः प्रीतिः पद्मा च प्रभुता तथा।
पकाराः पंच पुंसां स्युः पार्श्वनाथस्य संस्मृतौ ॥ ५ ॥

श्री पार्श्वनाथ भगवान का स्मरण करनेवाले पुरुषों को पाँच 'प'कार की प्राप्ति होती है – १. पुण्य, २. पापक्षय, ३. प्रीति, ४. पद्मा और ५. प्रभुता।

१. पुण्य यानी पुण्य की अभिवृद्धि होती है। २. पापक्षय यानी कर्मक्षय समझना। ३. प्रीति यानी लोकप्रियता प्राप्त होती है। ४. पद्मा यानी लक्ष्मी समझना। ५. प्रभुता यानी सभी कार्यों में प्रधानता प्राप्त होती है।

उपसर्गहरस्तोत्रमष्टोत्तरशतं सदा।
यो ध्यायति स्थिर स्वान्तो मौनवान् निश्चलासनः ॥ ६ ॥
तस्य मानवराजस्य कार्यसिद्धिः पदे पदे।
भवेच्च सततं लक्ष्मीश्चंचला हि निश्चला ॥ ७ ॥

जो मनुष्य आसन स्थिर कर, मौन रहते हुए, स्थिर चित्त से उपसर्गहर स्तोत्र का १०८ बार निरंतर स्मरण करता है, उस श्रेष्ठ मनुष्य को कदम–कदम पर कार्यसिद्धि होती है। स्वभाव से लक्ष्मी चंचल होने पर भी उसके वहाँ स्थिर होकर रहती है, अर्थात् उसका घर छोड़ती नहीं है।

इस स्तोत्र का स्मरण किस प्रकार करना – इस विषय में यहाँ मार्गदर्शन दिया गया है।

१. जो भी आसन अनुकूल हो, उस आसन से बैठें। पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन.... आदि आसनों में से जो आसन सरलता से हो सकता हो, उस आसन से बैठना। शरीर को स्थिर रखना। हाथ–पाँव ऊँचे–नीचे नहीं करना। मस्तक हिलाना नहीं। इधर–उधर देखना नहीं, ईशारे करना नहीं।

२. दूसरी बात है मौन धारण करने की। किसी के भी साथ किसी प्रकार की बात नहीं करना।

३. तीसरी बात है चित्त को स्थिर रखने की। समग्र चित्तवृत्तियों को इस

स्तोत्र की स्तवना में एकाग्र कर देनी चाहिए। मंत्रविशारद कहते हैं कि जब तक मंत्र और मन एक न हो जायं, अभेदभाव से चिंतन न हों, तब तक मंत्रार्थ अथवा मंत्र–चैतन्य प्रकट नहीं होता है। इसलिए यहाँ पर जो मार्गदर्शन दिया है, उसका अनुसरण करना चाहिए।

शाकिन्यादिभयं नास्ति, न च राजभयं जने।
षण्मासं ध्यायमानेऽस्मिन्नुपसर्गहरस्तवे ॥ ८ ॥

इस उपसर्गहर स्तोत्र का ६ महीने तक स्मरण करनेवाले मनुष्य को इस दुनिया में शाकिनी–डाकिनी आदि का एवं राजा का भय नहीं रहता है।

प्रत्यक्षा यत्र नो देवा, न मंत्रा न च सिद्धयः।
उपसर्गहरस्यास्य प्रभावो दृश्यते कलौ ॥ ९ ॥

जिस समय में देव प्रत्यक्ष होते नहीं हैं, मंत्र और सिद्धियाँ भी प्रत्यक्ष नहीं होती हैं, ऐसे इस कलिकाल में इस स्तोत्र का प्रभाव देखने में आता है।

प्राप्नोत्यपुत्रः सुतमर्थहीनः,
श्रीदायते पत्तिरपीशतीह।
दुःखी सुखी चाथ भवेन्न किं किं,
त्वद् स्पचिन्तामणि चिन्तनेन ॥ १० ॥

इस स्तोत्र के स्मरण से जो मनुष्य पुत्ररहित होता है उसको पुत्रप्राप्ति होती है, जो निर्धन होता है वह कुबेरसमान होता है, सामान्य सैनिक राजा की तरह शासन करता है और दुःखी मनुष्य सुखी होता है ! हे स्तोत्रराज ! तेरे समान चिन्तामणि का चिंतन करने से क्या–क्या नहीं होता है ? सब कुछ होता है।

एकया गाथयाऽप्यस्य स्तवस्य स्मृतमात्रया।
शान्तिः स्यात् किं पुनः पंचगाथाप्रमाणकम् ॥ ११ ॥

इस स्तोत्र की मात्र एक गाथा का स्मरण करने से भी शान्ति होती हैं तो फिर पाँच गाथा के संपूर्ण स्तोत्र का स्मरण करने से क्या नहीं होता है ? उससे अवश्य शान्ति मिलती है।

उपसर्गाः क्षयं यान्ति छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः।
मनः प्रसन्नतामेति ध्यातेऽस्मिन् स्तवपुंगवे ॥ १२ ॥

इस स्तोत्रराज का ध्यान–स्मरण करने से उपसर्ग नष्ट होते हैं। विघ्न लताएँ विच्छिन्न हो जाती हैं और मन प्रसन्नता पाता है।

सभा में से : उवसग्गहरं स्तोत्र हमें आता है, दूसरे भी स्तोत्र हमें मुखपाठ

हैं, रोजाना नौ स्मरण बोलते हैं, फिर भी कोई विशिष्ट प्राप्ति नहीं होती है।

महाराजश्री : महानुभाव ! प्रभावशाली मंत्र हो या स्तोत्र हो, जब तक मन में विकार होते हैं, भावनाएँ अशुद्ध होती हैं, अपवित्रता होती है तब तक कोई विशिष्ट प्राप्ति नहीं होती है। सर्वप्रथम मन और तन को शुद्ध बनाइए। शुद्धि के लिए एक अट्ठम–तीन उपवास करें और नमस्कार महामंत्र की विधिपूर्वक आराधना करें। ऐसे प्रभाविक स्तोत्रपाठ करनेवालों को और मंत्रसाधकों को पालन करने योग्य कुछ बातें बताता हूँ :

१. निर्भय और वीर बनें।
२. दुष्ट कर्मों का त्याग करना चाहिए।
३. गुणों की गंभीरता प्राप्त करें।
४. जितना आवश्यक हो उतना ही बोलना, शेष समय मौन रहें।
५. आत्मविश्वास होना चाहिए।
६. गुरुदेव की हितकारी बातें माननी चाहिए।
७. आलस्य, प्रमाद का त्याग करना चाहिए।
८. निद्रा ज्यादा नहीं होनी चाहिए, प्रमाणयुक्त होनी चाहिए।
९. भोजन परिमित करना चाहिए।
१०. विषयलालसा में फँसना नहीं।
११. क्रोध–मान–माया–लोभ को कम करने का पुरुषार्थ करना।
१२. धर्माचरण में प्रीति रखना।
१३. परोपकार आदि गुणों को प्राप्त करना।
१४. बाह्य एवं आंतरिक पवित्रता बनाये रखना।
१५. सदैव प्रसन्नचित्त रहना।
१६. गुरुदेव की हर प्रकार से सेवा करना।
१७. इष्ट देव की नियमित नित्य भक्ति करना।
१८. ग्रहण किये हुए व्रतों में दृढ़ता रखना।
१९. असत्य का त्याग करना।
२०. दया–करुणा से हृदय को प्लावित रखना।
२१. दक्ष–चतुर बनना।

२२. प्रतिभासंपन्नता बनाये रखना ।

२३. निरंतर पुरुषार्थशील बनना ।

२४. मंत्रविद् गुरुदेव से मंत्र यथार्थ रूप में ग्रहण करना ।

मंत्रविशारद सद्गुरु से ही विधिपूर्वक मंत्र ग्रहण करना चाहिए । वैसे यदि मंत्र ग्रहण नहीं करते और सद्गुरु के आशीर्वाद प्राप्त नहीं करते वे लोग मंत्रसिद्धि करने में सफलता प्राप्त नहीं करते हैं । इसलिए साधक को चाहिए कि वह वैसे मंत्रविशारद सद्गुरु की खोज करे । हालाँकि गुरु की खोज करना सरल नहीं है, फिर भी तीव्र जिज्ञासा होगी और दृढ़ संकल्प होगा तो अवश्य सद्गुरु मिल जायेंगे ।

इस स्तोत्र की गाथाएँ कितनी हैं ?

सभा में से : इस स्तोत्र की गाथाएँ कितनी हैं ?

महाराजश्री : इस स्तोत्र पर टीकाएँ लिखनेवाले सभी टीकाकार महात्माओं ने पाँच गाथा पर ही टीका लिखी है । आचार्य श्री राजशेखरसूरिजी ने 'चतुर्विंशति प्रबंध' ग्रंथ में लिखा है "ततः पूर्वेभ्य उद्धृत्य 'उवसग्गहरं पासं' इत्यादि स्तवनगाथा पंचकमयं संदब्धं गुरुभिः ।"

"पूर्वों में से उद्धृत कर 'उवसग्गहरं पासं' शब्दों से जिसका प्रारंभ होता है, वैसा पाँच गाथावाला स्तवन गुरु ने रचा ।"

इससे यह सिद्ध होता है कि इस स्तोत्र की पाँच गाथा है । विक्रम की सोलहवी शताब्दी में हो गये श्री जिनसूर मुनि ने 'प्रियंकर नृपकथा' के प्रारंभ में इस स्तोत्र का प्रभाव बताते हुए लिखा है –

एकया गाथायाऽप्यस्य स्तवस्य स्मृतमात्रया ।
शान्तिः स्यात् किं पुनः पूर्ण पञ्चगाथाप्रमाणकम् ।।

'इस स्तवन की मात्र एक ही गाथा पढ़ने से शान्ति होती है तो फिर पाँच गाथा प्रमाणपूर्ण स्तोत्र का कहना ही क्या ?'

इस श्लोक से भी इस स्तोत्र की पाँच गाथा निश्चित होती है ।

इस 'प्रियंकर नृपकथा' में कहा गया है कि 'पहले इस स्तोत्र की ६ गाथाएँ थीं । उसके (छट्ठी गाथा के) स्मरण से धरणेन्द्र को प्रत्यक्ष होना पड़ता था और वे कष्ट का निवारण भी करते थे । बाद में धरणेन्द्र ने इस स्तोत्र के रचयिता श्री भद्रबाहु स्वामी को बोला – "पुनः पुनः मुझे यहाँ आना पड़ता है, मैं मेरे स्थान

में रह नहीं सकता हूँ, इसलिए छट्ठी गाथा को भंडार में रख दो।' श्री भद्रबाहु स्वामी ने छट्ठी गाथा को भंडार में रख दिया।

विक्रम की सत्तरहवी शताब्दी में श्री हर्षकीर्तिसूरिजी ने इस स्तोत्र की टीका में निम्न श्लोक का उद्धरण किया है –

स्तोत्रस्यास्याष्टातिरिक्तं शतं यः
कुर्याज्जापं पञ्चगाथात्मकस्य।
तस्यावश्यं मंक्षु नश्यन्ति विघ्ना–
स्तं निःशेषा वृण्वते सिद्धयश्च ।।

'इस पंचगाथात्मक स्तोत्र का जो लोग १०८ बार जाप करते हैं, उनके विघ्न शीघ्र ही अवश्य नष्ट होते हैं और निःशेष सिद्धियाँ वे प्राप्त करते हैं।'

परंतु इसी टीकाग्रंथ में आगे लिखा है –

'पूर्व किल अस्य स्मरणस्य सप्त गाथा अभुवन्। ततो गाथाद्वयं श्री भद्रबाहुस्वामिभिर्भाण्डागारे स्थापितम्।'

'पहले इस स्मरण की सात गाथाएँ थी, परंतु बाद में भी भद्रबाहु स्वामी ने उसकी ६–७ दो गाथाएँ भंडार में स्थापित कर दी, इसलिए अभी पाँच गाथाएँ ही हैं।'

इस प्रकार, इस स्तोत्र की पाँच गाथाएँ ही सभी ने मान्य की हैं। परंतु कालक्रम से इस स्तोत्र में नयी–नयी गाथाएँ जुड़ने लगी। इसलिए वर्तमान में इस स्तोत्र की ९ गाथाएँ, १३ गाथाएँ, १७ गाथाएँ, २१ गाथाएँ एवं २७ गाथाएँ मिलती हैं।

मैं इस स्तोत्र की ५ गाथाएँ मान कर, इन पाँच गाथाओं का अर्थ, भावार्थ, रहस्यार्थ बताऊँगा। स्तवन और स्तोत्र कम से कम पाँच श्लोक के अथवा पाँच गाथा के होते हैं।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ६९

परम उपकारी, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या बताते हुए कहा है 'नमस्कारादिचिंतनम् ।'

'नमस्कारादि' में 'आदि' पद है । आदि पद से 'लोगस्स सूत्र' का चिंतन बताया और 'उवसग्गहरं स्तोत्र' का चिंतन बता रहा हूँ । विस्तार से इसलिए बता रहा हूँ क्योंकि आप लोग सरलता से चिंतन कर सकें ।

उवसग्गहरं स्तोत्र का अर्थ–भावार्थ–रहस्यार्थ :

श्री उवसग्गहरं स्तोत्र नियमित प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक स्मरण करने योग्य है । बार–बार इस स्तोत्र का चिंतन करना चाहिए । परंतु चिंतन करने के लिए अर्थज्ञान होना आवश्यक है । अर्थज्ञान के बिना चिंतन शक्य नहीं होता ।

अर्थ–भावार्थ ही ज्ञान का प्रकाश है । भावमंदिर में प्रवेश करने का मंगल–द्वार है । सूत्र और अर्थ ज्ञानाचार के विशिष्ट अंग माने गये हैं ।

किसी भी मंत्र की सिद्धि के लिए उसका जप किया जाता है । वैसे उसकी अर्थभावना भी की जाती है । उसी प्रकार इस मंत्रमय स्तोत्र का अर्थज्ञान भी संपादन करना चाहिए । उस पर बार–बार शांत चित्त से चिंतन–मनन करना चाहिए ।

सर्व प्रथम पहली गाथा का अर्थ–भावार्थ बताता हूँ –

उवसग्गहरंपासं पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं ।
विसहर विसनिन्नासं मंगलकल्लाण–आवासं ।। १ ।।

'जिनके पास रहे हुए देव – पार्श्वयक्ष, धरणेन्द्र, पद्मावती आदि भक्तजनों के सभी उपसर्ग दूर करते हैं, जो घातीकर्मों से मुक्त होने से सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हैं, जिनका नाम–स्मरण भयंकर सर्प के विष को नष्ट करनेवाला है तथा जो मंगल एवं कल्याण के परमधाम होने से सभी के लिए पूज्य हैं, वैसे पार्श्वनाथ भगवान को मैं मन–वचन–काया की शुद्धि से वंदन करता हूँ ।'

उवसग्गहरंपासं :

जो उपसर्ग को हरे वह उपसर्गहर । वैसा पार्श्वयक्ष जिनका सेवक है वैसे । यहाँ पार्श्व का अर्थ 'समीप' करने पर दूसरा अर्थ फलित होता है । उपसर्गों

को दूर करनेवाले देव श्री पार्श्वयक्ष, श्री धरणेन्द्र, श्री पद्मावती आदि जिनके समीप रहे हुए हैं, वैसे ! ये दोनों अर्थ टीकाकारों ने किये हैं और दोनों अर्थ यथार्थ लगते हैं ।

'उवसग्गहरं' और 'पासं' इन दो शब्दों को एक ही शब्द मानना चाहिए, दो अलग नहीं । 'उवसग्गहरंपासं' । इस शब्द में र के ऊपर जो अनुस्वार है वह प्राकृतभाषा के कारण है । 'प्राकृतत्वादनुस्वारः ।' इसलिए अर्थ करते समय अनुस्वार को लक्ष में नहीं लेना है ।

कम्मघणमुक्कं :

यह 'कम्मघणमुक्कं' विशेषण है । कर्मरूपी बादलों से मुक्त ! यदि, 'घण' को 'कम्म' का विशेषण बनाया जाय तो 'घण' का अर्थ 'दीर्घकालीन स्थितिवाले' अथवा 'निबिड' अर्थ होता है । यानी 'निबिड कर्मों से मुक्त' ऐसा अर्थ होता है । घातीकर्म से मुक्त । और आत्मा जब घातीकर्म से मुक्त होती है तब वह सर्वज्ञ–सर्वदर्शी बनती है । प्रस्तुत में इस विशेषण से श्री पार्श्वनाथ भगवान की सर्वज्ञता सूचित होती है ।

विसहर–विस–निन्नासं :

'विषं धरतीति विषधरः ।' जो विष को धारण करता है, वह विषधर कहलाता है, यानी सर्प... नाग । सभी प्रकार के सर्पों के जहर को नष्ट करनेवाले – ऐसा अर्थ होता है ।

अथवा 'विष' का अर्थ मिथ्यात्व, कषाय आदि भाव–विष समझना । भाव–विष को धारण करनेवाले भाव–विषधर कहलाते हैं । उनके विष को अपने वचनामृत से नष्ट करते हैं वे 'विषहर–विष–निर्नाशन' कहे जाते हैं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान द्रव्य–विषधर और भाव–विषधर – दोनों प्रकार के विषधरों के विष को नष्ट करनेवाले हैं ।

मंगल–कल्लाण–आवासं :

मंगल यानी विघ्नों की उपशान्ति तथा कल्याण यानी संपत्ति का उत्कर्ष ।

श्री सिद्धिचन्द्र गणि ने मंगल का अर्थ 'श्रेय' और कल्याण का अर्थ 'संपत्ति–उत्कर्ष' किया है ।

श्री हर्षकीर्तिसूरि ने मंगल का अर्थ दुरित का उपशमन तथा कल्याण का अर्थ निरोगिता किया है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान मंगल और कल्याण की साक्षात् मूर्ति है। परम मंगलमय तथा परम कल्याणमय हैं। अब दूसरी गाथा का अर्थ–भावार्थ बताता हूँ –

विसहरफुलिंगमंतं कंठे धारेइ जो सया मणुओ ।
तस्स गह–रोग–मारी–दुट्ठजरा जंति उवसामं ।। २ ।।

"श्री पार्श्वनाथ के नाम से युक्त 'विषधर स्फुलिंग' नाम के मंत्र का जो मनुष्य प्रतिदिन स्मरण करता है उसको ग्रहों की ओर से पीड़ा नहीं होती है, उसको व्याधि सताती नहीं है, उसके ऊपर यदि मारण–प्रयोग हुआ हो तो वह शान्त हो जाता है, अथवा मारि–मरकी जैसा रोग फैला हो तो उसकी रक्षा होती है। ज्वर दूर होता है।"

विसहरफूलिंगमंतं :

आचार्यश्री मानतुंगसूरि–विरचित 'नमिऊण' की अंतिम गाथा में कहा गया है –

एयस्स मज्झयारे अट्ठारस अक्खरेहिं जो मंतो ।
जो जाणइ सो झायइ परमपयत्थं फुडं पासं ।। २३ ।।

'इस स्तोत्र में १८ अक्षरों का जो मंत्र है, उस मंत्र को जो जानते हैं, वे परम पद पर रहे हुए प्रकट पार्श्वनाथ का ध्यान धरते हैं।'

उस १८ अक्षरों के मंत्र को 'विषधर स्फुलिंग मंत्र' कहते हैं। वह मंत्र इस प्रकार है – 'नमिऊण पास विसहर वसह जिणफुलिंग।' वह मंत्र, नागराज धरणेन्द्र ने श्री मानतुंगसूरिजी को उनके मानसिक रोग के निवारण के लिए दिया था, वह बात 'प्रभावक चरित्र' में कही गई है।

श्री रत्नकीर्तिसूरिजी ने पार्श्वनाथ जिन स्तवन में, विषधर स्फुलिंग मंत्र १८ अक्षरों का है, इस बात का समर्थन किया है।

यह मंत्र २८ अक्षरों का भी प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है – ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमिऊण पास विसहर वसह जिणफुलिंग ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः।

विषधर स्फुलिंग मंत्र के साथ बीजाक्षर एवं पल्लवादि जोड़कर भिन्न–भिन्न मंत्र बनाये गये हैं। कुछ मंत्र इस प्रकार हैं –

१. चिन्तामणि मंत्र :

'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमिऊण पास विसहर वसह जिणफुलिंग ह्रीं नमः।' इस

मंत्र का आम्नाय चिंतामणि कल्प में बताया हुआ है ।

२. कुक्कुटेश्वर पार्श्वनाथ मंत्र :

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमिऊण पास विसहर वसह जिणफुलिंग ह्रीं श्रीं नमः ।

३. सर्वकामदाविद्याः

ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमिऊण पास विसहर वसह जिणफुलिंग श्रीं ह्रीं सर्वकामदाय नमः ।

गह–रोग–मारी–दुट्ठजरा :

जैन शास्त्रों में ८८ ग्रहों की बात आती है । परंतु ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु – ये नौ ग्रह बताये गये हैं । मनुष्य के जन्म समय आकाश में ये ग्रह जिस स्थान पर होते हैं, उस प्रकार वे ग्रह शत्रु अथवा मित्र का काम करते हैं । प्रस्तुत में 'गह' शब्द से दुष्ट ग्रह समझने के हैं ।

श्री हर्षकीर्तिसूरिजी ने 'गह' का अर्थ भूत–प्रेत–पिशाच आदि का भी किया है । **'ग्रहाः सूर्योदयो गोचरे अशुभाः भूत–प्रेत–पिशाचादीनां आवेशा वा ।'**

'रोग' शब्द से यहाँ पित्तजन्य, कफजन्य, वातजन्य एवं सन्निपातजन्य रोग समझने के हैं । अथवा आगमप्रसिद्ध १६ महारोग समझने के हैं । 'ज्ञाता धर्मकथा' नाम के आगम के तेरहवे अध्ययन में ये १६ महारोगों के नाम बताये हुए हैं ।

'मारी' यानी मारणप्रयोग से फैला हुआ रोग अथवा मरकी । 'अर्थकल्पलता' ग्रंथ में कहा है – **मारिश्च सर्वत्रमृत्यु लक्षण–मशिवम् । सर्वव्यापक मृत्युरूप अशिव !**

जिस रोग से बड़े प्रमाण में मनुष्य मरने लगते हैं उसको मरकी कहते हैं । प्लेग... कॉलेरा वगैरह उसी के प्रकार हैं । ऐसे समय में इस स्तोत्र का एकाग्र मन से स्मरण एवं 'विषधर स्फुलिंग मंत्र' का जाप बहुत उपयोगी सिद्ध होता है ।

'दुट्ठजरा' यानी दुष्ट ज्वर, विषम ज्वर ।

टीकाकार महर्षियों ने 'दुष्ट ज्वर' में अनेक प्रकार के ज्वर बताये हैं – दाहज्वर, वातज्वर, पित्तज्वर, विषमज्वर, नित्यज्वर, वेलाज्वर, मुहूर्तज्वर... वगैरह ।

'दुष्टज्वर' का दूसरा अर्थ भी होता है । दुट्ठ यानी क्रोधी बने हुए राजा और ज्वर यानी बुखार ।

विषधर स्फुलिंग मंत्र से यह सब उपशान्त हो जाता है ।

अब तीसरी गाथा के अर्थ–भावार्थादि सुन लें –

चिट्ठउ दूरे मंतो तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ ।
नर–तिरिएसु वि जीवा, पावंती न दुक्ख–दोगच्चं ।। ३

"हे भगवन् 'विषधर स्फुलिंग' नाम का आपका मंत्र अति प्रभावशाली है, यह बात अभी दूर रखता हूँ । क्योंकि आपको विशुद्ध भाव से किया हुआ प्रणाम भी सौभाग्य, आरोग्य, धन–धान्य, कलत्र.... राज्य और देवलोक के सुख देनेवाला होता है । कभी कदाचित् आयुष्य बंध के कारण मनुष्यगति में अथवा तिर्यंचगति में जन्म हो जाय, तो भी वहाँ दुःख–दौर्गत्य प्राप्त नहीं होता है । वहाँ भी सुख और सम्मान आदि प्राप्त होते हैं ।"

विषधर स्फुलिंग मंत्र अति प्रभावशाली है, परंतु वह कष्टसाध्य है । सभी मनुष्य उस मंत्र की यथाविधि साधना–आराधना नहीं कर सकते । फिर भी निराश होना नहीं है । क्योंकि श्री पार्श्वनाथ भगवंत को विशुद्ध भाव से किया हुआ एक भी प्रणाम, बहुत फल देनेवाला होता है । प्रणाम करने मात्र से सौभाग्य, आरोग्य, धन–धान्य, पत्नी, द्विपद–चतुष्पद–राज–स्वर्ग और मोक्ष भी प्राप्त होता है ।

जो जीव श्री पार्श्वनाथ भगवान को विशुद्ध श्रद्धा से प्रणाम करता है वह सम्यग्दृष्टि जीव होता है । समकितदृष्टि जीव मरकर देवगति ही प्राप्त करता है । फिर भी मिथ्यादृष्टि–अवस्था में आयुष्य–कर्म मनुष्यगति का अथवा तिर्यंचगति का बंध गया हो तो जीव को मनुष्यगति में अथवा तिर्यंचगति में जन्म लेना पड़ता है, परंतु उसको दुःख और दुर्भाग्य प्राप्त नहीं होता है । मनुष्यभव में शारीरिक या मानसिक किसी प्रकार का दुःख नहीं आता है । तिर्यंच यानी पशु–पक्षी की उत्तम योनि में जन्म पाता है, वहाँ उसको मान–सम्मान मिलता है ।

श्री पार्श्वनाथ प्रभु को श्रद्धा से प्रणाम करना चाहिए ।

इस स्तोत्र की चौथी गाथा इस प्रकार है –

तुह सम्मत्ते लध्धे चिंतामणि–कप्पपायवब्भहिए ।
पावंति अविग्घेण जीवा अयरामरं ठाणं ।। ४ ।।

'हे भगवन्, चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक फलदायी वैसा आपका सम्यक्त्व पाने से जीव, किसी भी प्रकार के विघ्न के बिना मुक्तिधाम को पा लेता है ।'

इस गाथा में 'सम्यक्त्व' शब्द महत्त्वपूर्ण है । इस शब्द की परिभाषा करते हुए कहा है – 'सम्यगित्यस्य भावः सम्यक्त्वम् ।'

'सम्यक्' शब्द प्रशंसा के अर्थ में है । दूसरा अर्थ है अविरुद्ध भाव । परंतु प्रस्तुत में 'सम्यक्' शब्द से 'जीव' अर्थ समझना है । जीव का भाव यानी शुद्ध श्रद्धारूप परिणाम । यही सम्यक्त्व है ।

सम्यक्त्व की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ :

– 'पंचाशक' ग्रंथ में आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने कहा है – 'तत्तत्थसद्दहणं सम्मत्तं ।' तत्त्वों के अर्थ की श्रद्धा सम्यक्त्व है ।

– 'तत्त्वार्थ सूत्र' में भगवान उमास्वातिजी ने कहा है – 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग् दर्शनम् ।' तत्त्वों के अर्थ की श्रद्धा सम्यग् दर्शन है । सम्यग् दर्शन और सम्यक्त्व एक ही हैं ।

– 'नवतत्त्व प्रकरण' में कहा गया है –

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं ।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणे वि सम्मत्तं ।।

जीव–अजीवादि नौ तत्त्वों को जो यथार्थ रूप से जानता हैं, उसको सम्यक्त्व होता है । मतिमंदता से अथवा छद्मस्थता के कारण नौ तत्त्व नहीं भी समझता है, फिर भी 'जो जिनेश्वर ने कहा है वह सब सत्य ही है,' ऐसा श्रद्धा से मानता है, तो भी वह सम्यग् दृष्टि है ।

– सम्यक्त्व ग्रहण करते समय बोला जाता है कि –

अरिहंतो मह देवो जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ।।

'मैं जब तक जिंदा रहूँ तब तक अरिहंत मेरे देव है, सुसाधु मेरे गुरु है और जिनप्रणीत तत्त्व मेरा धर्म है ।' ऐसा सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है ।

चिंतामणि–कप्पपायवब्भहिए :

'चिंतामणि' के लिए कहा गया है कि – **'चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रदायी देवताधिष्ठितो रत्नविशेषः ।'** चिन्तामणि यानी चिंतित अर्थ को देनेवाला देवाधिष्ठित रत्न ।

'कल्पपादप' यानी कल्पवृक्ष। उत्कृष्ट काल में ये कल्पवृक्ष होते हैं। अंतःकरण में चिंतित फल देनेवाले ये वृक्ष होते हैं। जैनशास्त्रों में १० प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन आता है।

परंतु, ये चिन्तामणि और कल्पवृक्ष, वर्तमान जीवन की आवश्यक वस्तुएँ देते हैं, स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख नहीं दे सकते हैं! श्री पार्श्वनाथ भगवंत का सम्यक्त्व तो स्वर्ग और मोक्ष के सुख भी दे सकता है। इसलिए सम्यक्त्व को, चिन्तामणि से और कल्पवृक्ष से अधिक कहा है।

अयरामरं ठाणं :

जहाँ जरा यानी वृद्धावस्था नहीं है वह अजर और जहाँ मृत्यु नहीं है वह अमर! अजर और अमर को 'अजरामर' कहते हैं। ऐसा अजरामर स्थान चौदह राजलोक के अग्रभाग पर रही हुई सिद्धशिला पर रहा हुआ है। वहाँ सभी सिद्ध आत्माएँ रहती हैं। इस स्थान को मोक्ष अथवा मुक्तिपुरी भी कहते हैं।

जीव को सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद कालक्रम से सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है। इस सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से जीव अजरामर स्थान पाता है। 'सम्यक्त्व' मोक्ष पाने का प्रथम सोपान है। इस दृष्टि से यहाँ कहा गया कि सम्यक्त्व पाने से जीव मुक्ति पाता है।

इस स्तोत्र की पाँचवी और अंतिम गाथा इस प्रकार है –

इअ संथुओ महायस ! भत्तिब्भरनिब्भरेण हियएण।
ता देव ! दिज्ज बोहिं, भवे भवे पास जिणचंद ! ॥

'हे महायशवाले! त्रैलोक्य व्यापी कीर्तिवाले! मैंने इस प्रकार भक्ति से भरपूर अन्तःकरण द्वारा आपकी स्तवना की है। इसलिए हे देवाधिदेव, हे जिनचंद्र! मुझे हर जन्म में बोधि (जिनधर्म) देना। जिससे मैं आपकी निरंतर भक्ति कर सकूँ और भवसागर तैर सकूँ।'

स्तोत्र और स्तवन में इष्टदेव को नमस्कार किया जाता है, उनके अद्भुत गुणों का कीर्तन किया जाता है और अंत में प्रार्थना की जाती है। धार्मिक क्षेत्र में प्रार्थना बड़ा महत्त्व रखती है। विशेषरूप से जब अपन इष्टदेव की स्तुति–स्तवना करते हों तब इष्ट देव को स्वामी समझकर और अपने आपको उनके चरणों का दास समझकर प्रार्थना करनी चाहिए। उस प्रार्थना में, अपने आत्मकल्याण के लिए जो चाहिए वह माँगना चाहिए। माँगने के लिए हृदय में स्वार्थ नहीं परंतु भक्ति होनी चाहिए।

भत्तिब्भरनिब्भरेण :

भक्ति यानी आंतरिक प्रीति, आदर और बहुमान ।

भक्ति, भवसागर पार करने का श्रेष्ठ साधन है । इसलिए भक्ति का प्रभाव ज्ञानी पुरुषों ने विविध नामों से... विविध स्वरूप से बताया है । अनन्य श्रद्धा भक्ति है, विनय और वैयावृत्य भी भक्ति ही है । सेवा, समर्पण और सद्‌भाव भी भक्ति के ही रूप हैं । वंदन, पूजन, सत्कार और सम्मान – ये भक्ति की ही क्रियाएँ हैं । प्रणाम, प्रशंसा, प्रार्थना, प्रमोद और प्रणिधान – ये भक्ति के ही प्रकार हैं । स्मरण, कथा, उत्सव और उपासना भक्ति ही है । जप, यात्रा, प्रेम, पवित्रता, शरणागति – भक्ति कें ही पर्याय हैं ।

भक्ति का हेतु पवित्र होना चाहिए । यदि हेतु दुश्मन का दमन करने का हो, शत्रु को सताने का हो, दुश्मनी का बदला लेने का हो तो वह भक्ति **'तामसी'** कही जाती है ।

जिस भक्ति का हेतु कंचन–कामिनी, पुत्रप्राप्ति, मान–सम्मान और प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो, वह भक्ति **'राजसी'** कही जाती है ।

जिस भक्ति का हेतु आत्मकल्याण, सात्त्विक सुख अथवा परमानन्द की प्राप्ति हो, वह भक्ति सात्विकी कही जाती है । यह **'सात्विकी'** भक्ति ही करनी चाहिए ।

भक्ति किसकी करनी चाहिए – इस विषय में भी स्पष्टता कर देना उचित समझता हूँ । **'लोकतत्त्वनिर्णय'** ग्रंथ में आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने कहा है –

यस्य निखिलाश्च दोषा न सन्ति, सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।

'जिसमें कोई दोष रहे नहीं हैं और जिसमें सभी गुण विद्यमान हैं, वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, महेश्वर हो या जिन हो, उनको मेरा नमस्कार हो ।'

कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति उनकी करनी चाहिए कि जिनमें रागादि दोष रहे न हो और ज्ञानादि सभी गुण विद्यमान हो !

श्री अरिहन्त परमात्मा की भक्ति, मन–वचन और काया की शुद्धि से की जाय तो वह भक्ति मुक्ति दे सकती है । भक्ति से अनंत कर्मों की निर्जरा होती है । **'आवश्यक–निर्युक्ति'** में श्री भद्रबाहुस्वामी ने लिखा है –

'भत्तीइ जिणवराणं खिज्जन्ति पुव्वसंचिआ कम्मा ।'

'श्री जिनेश्वरों की भक्ति से अनेक जन्मों में संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं।'

इसलिए जिनेश्वरों की उत्तम द्रव्यों से भक्ति करें । उनके गुणों का स्मरण, कीर्तन करें, उनकी आज्ञा का पालन करें ।

मंत्रगर्भित स्तोत्र :

यह 'उवसग्गहरं स्तोत्रं' मंत्रगर्भित है । एक-एक गाथा में मंत्र रहे हुए हैं । कैसे-कैसे मंत्र हैं, यह बाद में बताता हूँ । एक बात निश्चित है कि मंत्रशक्ति के द्वारा विविध कार्यों की सिद्धि होती हैं । सामान्यतया इसको 'तांत्रिक षट्कर्म' कहते हैं । इसके नाम इस प्रकार हैं –

१. शान्तिकर्म,
२. वश्यकर्म,
३. विद्वेषणकर्म,
४. स्तंभनकर्म,
५. उच्चाटनकर्म, और
६. मारणकर्म ।

अणुशक्ति से भी मंत्रशक्ति महान् है । जिस प्रकार अणुशक्ति का उपयोग संहारक शस्त्र बनाने में होता है, इसका दुरुपयोग होता है, इससे समग्र विश्व भयग्रस्त बना है । यदि अणुशक्ति का सदुपयोग हो तो प्रजा के लिए आशीर्वाद रूप बनती है । वैसे मंत्रशक्ति का भी उपयोग स्व-पर कल्याण के लिए करना हितकारी होता है । इसका उपयोग दूसरों को कष्ट पहुँचाने के लिए कभी नहीं करना चाहिए ।

मंत्रशक्ति के विषय में इतना बताकर, अब उवसग्गहरं स्तोत्र की एक-एक गाथा में रहे हुए मंत्रों का नामनिर्देश ही करता हूँ ।

– **आचार्य श्री जिनप्रभसूरिजी** ने '**अर्थकल्पलता**' में इस स्तोत्र के यंत्र और मंत्रों का निर्देश किया हुआ है ।

– **श्री पार्श्वदेवगणि-विरचित 'लघुवृत्ति'** में और **आचार्य श्री पूर्णचन्द्रसूरिजी-** विरचित 'लघुवृत्ति' में उसका स्वरूप बताया गया है । इसी के आधार पर यहाँ मंत्रविषयक कुछ बातें बताऊँगा । आप एकाग्र मन से सुनना ।

प्रथम गाथा में आठ यंत्र :

१. जगद्वल्लभकर यंत्र :
इस यंत्र के प्रभाव से जनप्रियत्व प्राप्त होता है ।

२. सौभाग्यकर यंत्र :
इस यंत्र के प्रभाव से सौभाग्य की वृद्धि होती है ।

३. लक्ष्मीवृद्धिकर यंत्र :

इस यंत्र के प्रभाव से लक्ष्मी की वृद्धि होती है ।

४. भूतादिनिग्रहकर यंत्र :

जिससे भूत वगैरह का निग्रह होता है, वैसा यंत्र ।

५. ज्वरनिग्रहकर यंत्र :

इस यंत्र से ज्वर यानी विविध प्रकार के बुखार नियंत्रित होते हैं ।

६. शाकिनीनिग्रहकर यंत्र :

दुष्ट मंत्र को जाननेवाली स्त्री को शाकिनी कहते हैं । इस यंत्र से शाकिनी का निग्रह हो सकता है ।

७. विषमविषनिग्रहकर यंत्र :

इस यंत्र के प्रभाव से तीव्र जहर का असर दूर होता है ।

८. क्षुद्रोपद्रव-निर्नाश यंत्र :

इस यंत्र के प्रभाव से क्षुद्र उपद्रवों का नाश होता है । सर्व प्रकार की सिद्धि, संपत्ति आदि की प्राप्ति होती है ।

दूसरी गाथा में दो चक्र :

जिस यंत्र में अनेक वलय होते हैं उसको चक्र कहते हैं । जैसे सिद्धचक्र, परमेष्ठिचक्र, वर्धमानचक्र वगैरह ।

दूसरी गाथा में दो चक्र रहे हुए हैं – १. बृहच्चक्र और २. चिंतामणि-चक्र।

१. बृहच्चक्र :

यह चक्र सर्वसंपत्कर चक्र है । सभी संपत्ति को देनेवाला है ।

२. चिंतामणि-चक्र :

यह चक्र सभी चिंतित वस्तु का साधक है तथा राजा अग्नि, चोर, शाकिनी आदि के क्षुद्र उपद्रवों का निवारण करनेवाला है ।

तीसरी गाथा के यंत्र :

तीसरी गाथा में जो यंत्र और मंत्रों का विधान मिलता है वह बताता हूँ । विशेष कर ये यंत्र और मंत्र संतति की प्राप्ति और संतति की रक्षा के हैं ।

१. वंध्याशब्दापह यंत्र :

विधिपूर्वक इस यंत्र की और उसके मंत्र की आराधना करने से स्त्री का वंध्यत्व नष्ट होता है ।

२. मृतवत्सा–दोषनिवारण यंत्र :

जिस स्त्री को मृत बच्चे ही पैदा होते हो, अथवा बच्चे का जन्म होते ही मर जाता हो, उसको मृतवत्सा–दोष कहते हैं। इस यंत्र के प्रभाव से और उसके मंत्र के विधिपूर्वक जाप से मृतवत्सा–दोष दूर होता है।

३. काकवंध्या–दोष निवारण यंत्र :

जो स्त्री एक बार बच्चे को जन्म देने के बाद पुनः सगर्भा नहीं बनती है, उसको 'काकवंध्या' कहते हैं। इस दोष का निवारण करनेवाला यह यंत्र है।

४. बालग्रहपीडा–निवारण यंत्र :

जिस बच्चे को विविध ग्रह पीड़ा करते हो, उनका निवारण करनेवाला यह यंत्र होता है। विधिपूर्वक इस यंत्र के मंत्र की आराधना की जाती है।

५. सौभाग्यकर यंत्र :

यह यंत्र दुर्भाग्य का नाश करता है और सौभाग्य की वृद्धि करता है।

'अर्थकल्पलता' में ये पाँच यंत्र बताये गये हैं। श्री पूर्णचन्द्राचार्य की टीका में भी ये पाँच यंत्र ही बताये हैं।

चौथी गाथा का यंत्र :

इस गाथा में 'लघुदेवकुल' यंत्र का विधान है। यह सर्वार्थसाधक यंत्र है। इस यंत्र को सुगंधी द्रव्यों से लिखकर, उसकी धूप, घी, पुष्प आदि से पूजा करने से सर्व अर्थ की सिद्धि होती है। पूजामंत्र सद्गुरु से प्राप्त करना चाहिए और गुरुचरण की द्रव्य–भाव से पूजा करनी चाहिए।

पाँचवी गाथा का यंत्र :

इस यंत्र का तीन दिन तक श्वेत और सुगंधी पुष्पों से पूजन करने से भूत–प्रेत–शाकिनी एवं ज्वरादि भय नष्ट होते हैं। शान्ति–तुष्टि–पुष्टि होती है।

सावधानी :

श्री उवसग्गहरं स्तोत्र का अद्भुत प्रभाव बताने की दृष्टि से यंत्र–मंत्रादि का निर्देश किया है। यदि साधना करनी हो तो इस विषय के विशारद सद्गुरु से मार्गदर्शन लेकर ही साधना करनी चाहिए। केवल पुस्तक पढ़कर साधना का प्रारंभ नहीं करना चाहिए। अन्यथा विपरीत परिणाम आ सकता है।

श्रद्धा से, शुद्धि से और विधिपूर्वक इस स्तोत्र की आराधना करनी चाहिए।

आज बस, इतना ही।

★ ★ ★

प्रवचन : ७०

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या बताते हुए कहा है – 'नमस्कारादिचिंतनम् !' नमस्कार महामंत्र आदि का चिंतन करना चाहिए। 'आदि' पद से लोगस्स सूत्र का एवं उवसग्गहरं स्तोत्र का चिंतन समझना चाहिए। और भी सूत्रों का चिंतन करना चाहिए। परंतु चिंतन तभी हो सकता है, जब सूत्र तथा अर्थ का ज्ञान हो। अर्थ और भावार्थ का ज्ञान हो ! इस दृष्टि से मैं आपको कुछ विस्तार से 'उवसग्गहरं स्तोत्र' समझा रहा हूँ।

'उवसग्गहरं स्तोत्र' का प्रभाव, भावार्थ, रहस्यार्थ आदि समझाने के बाद, आज आपको, इस स्तोत्र के प्रभाव को बतानेवाली एक प्राचीन कहानी सुनाऊँगा। अभी कुछ दिनों से आपको कहानी सुनने को नहीं मिली है न ! आज मन भर के सुन लेना कहानी। बड़ी रोमांचक कहानी है।

राजा अशोकचंद्र :

मगध देश की यह कहानी है। वर्तमान में मगध को 'बिहार' कहते हैं।

अशोकपुर नाम का नगर था। नगर धन–धान्य से समृद्ध था। वहाँ के राजा का नाम अशोकचंद्र था। राजा प्रतापी, पराक्रमी और न्यायी था। राजा की रानी का नाम अशोकमाला था। रानी विवेक, विनय और शीलक्षमादि गुणों से शोभायमान थी। राजा के तीन पुत्र थे – अरिशूर, रणशूर और दानशूर।

अरिशूर का विवाह :

जब अरिशूर यौवन में आया, राजा ने उसका विवाह–महोत्सव प्रारंभ किया। महल को सजाने लगे, सुंदर वस्त्र तैयार होने लगे, मनोहर आभूषण बनने लगे।

उस समय पाटलीपुत्र के (वर्तमान का पटना) कुछ सुनार लोग अशोकपुर में आये। राजसभा में जाकर, सुनार लोगों ने राजा अशोकचंद्र को विनय से प्रणाम किया और नम्रता से निवेदन किया।

'हे नरेश्वर, हम पाटलीपुत्र से आये हैं। हमने महाराज कुमार के विवाह–महोत्सव का वृत्तांत सुना। हम हर्षित हुए। हम सुनार हैं। इस शुभ प्रसंग पर हम हमारी कला का कुछ चमत्कार बताना चाहते हैं। हालाँकि अशोकपुर में अनेक

कलाकार सुनार हैं, फिर भी हाथी–हाथी में अंतर होता है ! अश्व–अश्व में अंतर होता है, वैसे कला–कला में भी अंतर होता है । हम लोग ऐसे दिव्य आभूषण बना सकते हैं कि जिसको पहनने से रंक मनुष्य राजा बनता है, राजा महाराजा बनता है । क्योंकि हमारी कला देव से अधिष्ठित है !'

पाटलीपुत्र के सुनारों की बात सुनकर राजा हर्षित हुआ । राजा ने कहा : 'इस शुभ प्रसंग पर आप लोग आये, इससे मुझे आनंद हुआ । मैं आप लोगों को सोना, मोती, रत्न वगैरह देता हूँ । आप लोग सुंदर आभूषण बनायें । आप लोग राज्य के अतिथिगृह में रहें ।'

राजा ने एक विचक्षण मंत्री को यह काम सौंप दिया । सुनारों को सोना वगैरह दिया गया । उन्होंने काम शुरू कर दिया । ६ महीने तक वे कलाकार सुनार हार बनाते रहे । जब हार बन गया, राजा को बताया गया । राजा, मंत्री वगैरह हार देखकर अति प्रसन्न हुए । "ऐसा अनुपम हार हमने कभी नहीं देखा ! इस हार का नाम 'देववल्लभ' रखता हूँ । इस हार को अच्छे मुहूर्त में पहना जायेगा ।" राजा ने सुनारों को उत्तम वस्त्रालंकार दिये, सोनामहोरें दी और प्रेम से बिदा दी । खजानची को हार दिया और कहा : 'यह हार भंडार में रख दो । जब मैं कहूँ तब मुझे देना ।'

खजाने में से हार गायब ! :

राजपुरोहित ने राजा को कहा : 'महाराजा, हार पहनने का आज का अच्छा मुहूर्त है ।'

राजा ने खजानची को कहा : 'खजानची, वह देववल्लभ हार मुझे चाहिए ।' खजानची हार लेने खजाने में गया । जहाँ हार रखा था, वहाँ हार नहीं था । पूरा खजाना देख लिया, परंतु हार नहीं मिला । वह चिंता–सागर में डूब गया । 'यह हार खजाने में से कहाँ गया ? किसने चोरी की होगी ?' वह भयभीत हुआ । राजा के पास जाकर उसने सारी बात बता दी ।

राजा ने कहा : 'खजाने में तू ही जाता है । और कोई भी मनुष्य खजाने में प्रवेश नहीं पाता है । हार की चोरी तूने की होगी । सच बोल दे, अन्यथा तेरी मृत्यु निश्चित है ।'

खजानची ने कहा : 'महाराजा, मैं निर्दोष हूँ । मैंने चोरी नहीं की है । यदि मेरी बात पर आप विश्वास नहीं करते हैं, तो आप जो सजा फरमायेंगे, मैं सजा भोगने को तैयार हूँ ।'

राजा ने सोचा : 'केवल अनुमान से किसी के ऊपर कलंक लगाना योग्य नहीं है । इस घटना की गहराई में जाना होगा ।'

राजा ने मंत्री के द्वारा नगर में घोषणा करवायी – "जो कोई मनुष्य 'देववल्लभ' हार का पता लगायेगा उसको राजा पाँच गाँव भेंट देंगे ।"

सात दिन तक घोषणा होती रही, परंतु किसी भी व्यक्ति ने हार का पता नहीं लगाया । राजा निराश हो गया । महामंत्री ने राय दी – 'महाराजा, नगर के प्रमुख ज्योतिषी–गण को बुलाकर उनको पूछा जायं । वे ज्योतिषशास्त्र के माध्यम से इस विषय में बता सकते हैं ।'

राजा को महामंत्री की बात उचित लगी । ज्योतिषी को बुलाये गये । राजा ने सभी ज्योतिषियों का उचित स्वागत किया । उचित आसन पर बिठाये । राजा ने प्रश्न किया : 'मेरा देववल्लभ हार मुझे वापस मिलेगा या नहीं ?'

सभी ज्योतिषी प्रश्नकुंडली बनाकर उसका फलादेश सोचने लगे । परंतु संतोषजनक प्रत्युत्तर नहीं मिला । कुछ समय के बाद एक वयोवृद्ध ज्योतिषी बोले – 'हे नरेन्द्र, वह हार वापस मिलेगा, परंतु दीर्घकाल के बाद मिलेगा । और, वह हार जिसको मिलेगा वह आपके राजसिंहासन पर बैठेगा ।'

'हे दैवज्ञ, आपका भविष्यकथन सही है या नहीं, मैं कैसे मान सकता हूँ ?' राजा ने पूछा ।

'हे राजेन्द्र, आज से तीसरे दिन आपके हाथी की मृत्यु हो जाय तो बात सही मानना ।'

राजा ने सभी ज्योतिषियों का सम्मान किया । सब चले गये । हाथी की मृत्यु की बात से राजा अति दुःखी हुआ । क्योंकि राजा को हार से भी ज्यादा प्रिय हाथी था । परंतु यह संसार है । संसार में प्रिय का विरह और अप्रिय का संगम होता रहता है । अज्ञानी जीव संसार की इस वास्तविकता से अनजान होते हैं । इसलिए प्रिय के विरह में रोते हैं, विलाप करते हैं ।

तीसरे दिन हाथी की मृत्यु हो गई ।

कुछ दिन तक राजा व्यथित रहा । बाद में उसने बड़े राजकुमार की धूमधाम से शादी कर दी । राजा ने मंत्रीमंडल को कहा : 'ज्योतिषी ने हार की चोरी करनेवाले को राज्य प्राप्त होने की बात कही है, परंतु यह बात असंभवित है । हार के चोर को तो सूली का सिंहासन मिलेगा ।'

महामंत्री ने कहा : 'महाराजा, ज्योतिषी कोई सर्वज्ञ तो होते नहीं ! उनका कहा सब सत्य ही हो – वैसा नियम नहीं है । इसलिए आप निश्चिंत रहें !'

'दुःख का औषध दिन !' दिन बीतने लगे, महीने बीतने लगे और कुछ वर्ष भी बीत गये । धीरे–धीरे राजा हार की बात भूल गया ।

पार्श्वदत्त और प्रियश्री :

उसी अशोकपुर नगर में पार्श्वदत्त नाम का एक धनाढ्य श्रावक रहता था। उसकी पत्नी का नाम प्रियश्री था । भाग्य–चन्द्र का अस्त हो गया, दुर्भाग्य की रात्रि का प्रारंभ हुआ । वह निर्धन हो गया । उसने नगर छोड़ दिया । पास में ही 'श्रीवास' नाम का छोटा गाँव था, वहाँ पार्श्वदत्त पत्नी के साथ चला गया। शान्ति से वहाँ अपना जीवन–निर्वाह चलाने लगा ।

कुछ समय के बाद प्रियश्री ने एक पुत्र को जन्म दिया । पार्श्वदत्त और प्रियश्री आनंदित बने । पुत्रप्राप्ति से किस संसारी जीव को आनंद नहीं होता है ?

प्रियश्री पुत्र को अपने प्राण की तरह संभालती थी । पुत्र से बहुत प्यार करती थी । परंतु 'संयोगाः वियोगान्ताः ।' संयोग का वियोग होता ही है । पुत्र का नाम 'प्रियंकर' रखा था । वह एक साल का हुआ ही था, कि अचानक चल बसा... उसकी मृत्यु हो गई ।

पार्श्वदत्त और प्रियश्री अत्यंत दुःखी हुए । निर्धनता का दुःख तो था ही, पुत्र की मृत्यु से और ज्यादा दुःख बढ़ गया । प्रियश्री अत्यधिक व्यथित बन गई । कालक्रम से वह पुनः गर्भवती बनी । उसको स्वप्न आया – 'वह जमीन खोद रही है, जमीन में से एक सुंदर मोती मिला....' उसने पार्श्वदत्त को स्वप्न कह सुनाया । पार्श्वदत्त ने कहा : 'देवी, तुझे रत्न जैसे पुत्र की प्राप्ति होगी !'

प्रियश्री ने एक सुंदर पुत्र को जन्म दिया ।

पार्श्वदत्त ने छोटा–सा महोत्सव किया ।

पार्श्वदत्त पुनः अशोकपुर की ओर :

प्रियश्री की इच्छा अशोकपुर जाने की हुई । पुत्र को लेकर पति–पत्नी अशोकपुर के बाह्य उद्यान में पहुँचे । वहाँ एक आम्रवृक्ष के नीचे उन्होंने देवपूजा की और विश्राम करने लगे, उस समय देववाणी सुनायी दी : 'यह बच्चा अपने पुण्यबल से आज से १५ वर्ष के बाद इस नगर का राजा बनेगा ।'

पार्श्वदत्त ने कहा : 'हे देवता ! हमारा यह पुत्र राजा बनें, इससे हमें कोई

प्रयोजन नहीं है, हम चाहते हैं कि यह पुत्र दीर्घकाल तक जिंदा रहे। एक पुत्र की तो मृत्यु हो गई है, यह दूसरा पुत्र है, उससे हमें बहुत आशाएँ हैं।'

दूसरी देववाणी हुई : 'तुम्हारा यह पुत्र दीर्घकालपर्यंत जिंदा रहेगा। अनेक राजकुमार उसकी सेवा करेंगे।'

प्रियश्री और पार्श्वदत्त बहुत आनन्दित हुए। 'यह कौन बोलता है ?' यह देखने के लिए उन्होंने ऊपर आकाश में देखा, चार दिशाओं में देखा, परंतु कोई मनुष्य या देव उनको दिखाई नहीं दिया। पार्श्वदत्त ने पूछा :

'यह भविष्यकथन करनेवाले आप कौन हैं ? आपका नाम क्या है ? हमारे पर इतना वात्सल्य जताने का प्रयोजन क्या है ?'

देव बोला : 'मैं आपका पुत्र हूँ ! मृत्यु के समय आपने मुझे श्री नमस्कार महामंत्र सुनाया था। उस महामंत्र के प्रभाव से मैं नागराज धरणेन्द्र के परिवार में देव बना हूँ। यहाँ रहता हूँ। माता-पिता और भ्राता के स्नेह से जब तक भ्राता को राज्य नहीं मिलेगा, मैं सान्निध्य करूँगा। मेरा भाई भाग्यशाली है इसलिए आप कोई चिन्ता नहीं करना। एक काम करना, उसका नाम प्रियंकर रखना।'

प्रियश्री ने कहा : "अवश्य हम पुत्र का नाम 'प्रियंकर' रखेंगे।"

देव ने कहा : "आपको कभी कोई संकट आये तो यहाँ आना और मेरे इस स्थान पर 'भोग' धराना। मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगा।"

पार्श्वदत्त और प्रियश्री ने देव की बात का स्वीकार किया और वे नगर में गये। किराये पर घर लेकर रहने लगे। कुछ दिनों के बाद प्रियश्री के भाई के विवाह का प्रसंग आया। भाई बुलाने आया। प्रियश्री भाई के साथ अपने मायके गयी। परंतु उसके वस्त्र सामान्य थे, अलंकार सोना-चांदी के नहीं थे। मायके में उसका अपमान हुआ, अनादर हुआ। उसका मन अति दुःखी हो गया। रूदन करती हुई वह अपने घर आयी।

पार्श्वदत्त ने प्रियश्री से सारा वृत्तान्त सुन लिया। उसने पत्नी को कहा : 'जो जीव पूर्व जन्म में पुण्य करके नहीं आया हो, उसको ऐसे दुःख भोगने पड़ते हैं, इसलिए इस जन्म में हो सके उतना पुण्य किया करो।'

प्रियश्री और पार्श्वदत्त ने धर्म-आराधना शुरू कर दी। धर्म के प्रभाव से पुण्य-कर्म का उदय हुआ।

एक दिन प्रियश्री घर की लिपाई करने मिट्टी लेने नगर के बाहर गई थी।

एक जगह उसने जमीन खोदना शुरू किया। खड्डे में उसने निधान देखा। उसने मिट्टी से निधान को ढँक दिया। घर आकर उसने पार्श्वदत्त को बात की। प्रियश्री के साथ पार्श्वदत्त वहाँ गया, निधान देखा। कुछ विचार कर उसने प्रियश्री को कहा : 'यह जमीन राजा की है, इसलिए इस जमीन में से निकला हुआ निधान भी राजा का है। इसलिए मैं राजा के पास जाकर निवेदन करता हूँ। तूँ घर पर चली जा।'

पार्श्वदत्त ने राजा को निधान की बात बता दी। राजा ने पार्श्वदत्त के साथ अपने मंत्रियों को भेजा। मंत्रियों ने खड्डे में से निधान बाहर निकाला। राजा के पास ले गये। राजा निधान देखकर आश्चर्यचकित हो गया। राजा ने मंत्री–पुरोहित वगैरह को पूछा :

'इस निधान का क्या करना चाहिए ?'

महामंत्री ने कहा : 'यह निधान आपका ही है, क्योंकि आपकी जमीन में से प्राप्त हुआ है। पार्श्वदत्त ने आपको निधान बताया है इसलिए निधान का छोटा–सा अंश उसको दिया जायं।'

राजा ज्यों ही धन लेने अपना हाथ निधान को लगाता है त्यों ही अदृश्य व्यक्ति की वाणी सुनायी दी : 'यदि इस निधान को स्पर्श किया तो राजा को खून का वमन होगा, राजपुत्र को खा जाऊँगा.... मंत्री को पकड़कर ले जाऊँगा.... पुरोहित को आकाश में लटका दूँगा।'

राजा वगैरह भयभीत हो गये। राजा ने सोचा : 'यह निधान किसी भूत–व्यंतर से अधिष्ठित लगता है, यह निधान पार्श्वदत्त को ही दे देना चाहिए।' निधान पार्श्वदत्त को मिल गया। वह निधान लेकर अपने घर आया। प्रियश्री को कहा : 'यह अपनी धर्म–आराधना का फल है।' प्रियश्री हर्षित हुई।

पार्श्वदत्त ने नया घर बनवाया। बाजार में दुकान ले ली। धंधा शुरू किया। पुत्र प्रियंकर को शाला में भेजने का अवसर आया। पार्श्वदत्त ने प्रियश्री को कहा : 'पुत्र को शाला में प्रवेश देना है, इस निमित्त स्वजनों को निमंत्रित कर भोजन दें।' प्रियश्री ने बात स्वीकार कर ली। भोजन–समारंभ का निमंत्रण भेजा गया। प्रियश्री की अभिमानी बहनों ने उपहास किया, निमंत्रण को ठुकराया। पार्श्वदत्त स्वयं गया निमंत्रण देने। सुंदर वस्त्र और मूल्यवान अलंकारों से अलंकृत पार्श्वदत्त को देखकर, प्रियश्री की बहनें वगैरह चकित रह गये। निमंत्रण का स्वीकार किया।

सारे स्नेही-स्वजन अशोकपुर में आये । पार्श्वदत्त की विशाल हवेली देखी । प्रियश्री के शरीर पर सोना और रत्नों के आभूषण देखे । हवेली में अनेक नौकर-चाकर देखे । प्रियश्री ने सभी का नम्रता से व प्रेम से स्वागत किया ।

भव्य भोजन-समारंभ हुआ । सभी स्वजन प्रशंसा करने लगे । जो निंदा, तिरस्कार करते थे, वे लोग भी प्रशंसा करने लगे । प्रियश्री ने और पार्श्वदत्त ने सभी स्वजनों को श्रेष्ठ वस्त्र और अलंकार दिये । पुत्र प्रियंकर को उत्सव के साथ, उपाध्याय के पास शाला में पढ़ने के लिए बिठाया । शाला में सभी बच्चों को मिठाई बाँटी । उपाध्याय को उत्तम वस्त्र और स्वर्णहार भेंट किया ।

प्रियंकर अध्ययन करने लगा । प्रियंकर के गुणों से प्रसन्न होकर उपाध्याय उसको प्रेम से विद्या दान देने लगा । अल्प समय में प्रियंकर सभी विद्याओं में कुशल बन गया ।

बाद में उसको धर्मशास्त्रों का अध्ययन कराने के लिए गुरुदेव आचार्यश्री कमलप्रभसूरिजी के पास भेजा । गुरुदेव ने बारहव्रत, सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र वगैरह का ज्ञान दिया । प्रियंकर महाश्रावक बन गया । आचार्यदेव ने उसको उपदेश देते हुए कहा : 'वत्स, बाल्यकाल से ही धर्म करना चाहिए । जो दिन जाते हैं वे वापस नहीं आते ।'

प्रियंकर ने कहा – 'गुरुदेव, मुझे प्रतिदिन कैसी धर्मआराधना करनी चाहिए, वह बताने की कृपा करें ।'

आचार्यदेव ने कहा – 'वत्स, प्रतिदिन सामायिक, जिनपूजा, प्रत्याख्यान, दान, दया आदि धर्मकार्य करने चाहिए । और स्नानादि से शुद्ध होकर एकान्त जगह में पूर्वदिशा सन्मुख बैठकर 'उवसग्गहरं स्तोत्रं' का १०८ बार जाप करना चाहिए । महानुभाव, श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी ने अनेक महामंत्र गुप्त रूप से इस स्तोत्र में रखे हैं । जो मनुष्य पूर्ण श्रद्धा से इस स्तोत्र का विधिपूर्वक प्रतिदिन स्मरण करता है, उसका नागराज धरणेन्द्र, पद्मावती देवी व वैरोट्या देवी सान्निध्य करते हैं । इस स्तोत्र का अखंड १२,००० जाप करने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं । इस स्तोत्र के स्मरण से दुष्ट ग्रह, भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी, रोग... इत्यादि के उपद्रव शांत हो जाते हैं । पानी व अग्नि के भय, सर्प के जहर, चोर व राजा के भय.... वगैरह दूर हो जाता है । सुख-समृद्धि और सुपरिवार की प्राप्ति होती है । इसलिए हे प्रियंकर, तुझे अवश्य प्रतिदिन उवसग्गहरं स्तोत्र का पठन-स्मरण

करना चाहिए। जब कोई भी संकट आये, तब इस स्तोत्र की पहली गाथा का पुनःपुनः स्मरण करना।'

गुरुदेव से विनयपूर्वक उवसग्गहरं स्तोत्र ग्रहण किया। प्रतिदिन स्तोत्रपाठ करने लगा। उसके सभी कार्य सफल होने लगे।

श्रेष्ठि पार्श्वदत्त ने व्यापार से निवृत्ति ले ली। सारी जिम्मेदारी प्रियंकर ने उठा ली। पार्श्वदत्त विशेष रूप से धर्म करने लगा।

प्रियंकर आपत्ति में :

एक दिन प्रियंकर पासवाले गाँव में उगाही करने गया। पैसे लेकर शाम को वह वापस लौट रहा था उस समय भील लोगों ने उसको पकड़ा। पल्लीपति के पास ले गये। पल्लीपति ने उसको कारावास में–जेल में डलवा दिया।

शाम तक प्रियंकर के वापस नहीं लौटने से उसके माता–पिता चिंता करने लगे। रूदन करने लगे। उस समय किसी मुसाफिर ने आकर कहा – 'प्रियंकर को बाँधकर भील लोग उनकी पल्ली में ले गये हैं।' सुनकर पार्श्वदत्त और प्रियश्री ज्यादा कल्पांत करने लगे।

पार्श्वदत्त को देव के वचन याद आये। 'संकट में मेरे इस स्थान पर आना।'

पार्श्वदत्त कपूर, कस्तूरी आदि भोग–सामग्री लेकर नगर के बाहर उस आम्रवृक्ष के पास गया। वृक्ष के नीचे भोग–सामग्री रख दी और देव को प्रार्थना की : 'हे देव, आपने मेरे पुत्र को राज्य प्राप्त होने की बात कही थी, मेरा वह पुत्र अभी आपत्ति में फँस गया है। आप ही हमारे शरण हो! कृपा कर बताइये कि प्रियंकर का क्या हुआ ?'

देव ने कहा : 'श्रेष्ठि, चिन्ता नहीं करना। आज से पाँचवे दिन प्रियंकर शादी कर, घर वापस आयेगा।'

पार्श्वदत्त निश्चिंत हुआ। प्रियश्री को बात बतायी। वह भी निश्चिंत–निर्भय बन गई।

उधर पल्ली में पल्लीपति ने प्रियंकर से बात की। प्रियंकर का वृत्तांत सुन कर कहा – 'कुमार, मैं तुझे मुक्त कर सकता हूँ, परंतु मेरी एक शर्त मानना होगा।'

प्रियंकर ने पूछा : 'कौन–सी शर्त ?'

पल्लीपति ने कहा : 'सात दिन तक मेरे सैनिक तेरे घर में गुप्त रूप से रहेंगे। वे राजकुमार को एवं मंत्रीपुत्र को बाँध कर यहाँ लायेंगे। मैं उनसे मेरे वैर का बदला लूँगा!'

प्रियंकर ने कहा : 'ऐसा काम मैं नहीं कर सकता। प्राण जायं तो भले जायं, परंतु ऐसा दुष्ट कार्य मैं नहीं करूँगा।'

पल्लीपति ने प्रियंकर को पुनः जेल में डाल दिया।

प्रियंकर ने एकाग्र चित्त से उवसग्गहरं स्तोत्र का १२,००० बार स्मरण किया।

उस समय पल्ली में एक विद्यासिद्ध ज्ञानी पुरुष पधारे। पल्लीपति को आशीर्वाद देकर वे उचित आसन पर बैठे। पल्लीपति ने पूछा : 'आप क्या-क्या जानते हैं ?'

विद्यासिद्ध पुरुष ने कहा : 'मैं जीवन और मृत्यु के विषय में जानता हूँ। राग के विषय में, धनसंपत्ति के विषय में.... शुभाशुभ के विषय में..... जानता हूँ। सुख-दुःख के विषय में जानता हूँ।'

यह बात सुनकर पल्लीपति ने कहा : 'जिस राजा ने हमारा देश छीन लिया है, उस हमारे वैरी अशोकचन्द्र की मृत्यु कब होगी ?

विद्यासिद्ध ने पल्लीपति के कान में अशोकचन्द्र की मृत्यु का समय बता दिया।

पल्लीपति ने पूछा : 'राजा की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी राजा कौन बनेगा ?'

विद्यासिद्ध ने कहा : 'जिस श्रेष्ठिपुत्र को तूने जेल में डाला है, वह श्रेष्ठिपुत्र राजा बनेगा ! वह पुण्यशाली है, देव उसको राज्य दिलवायेगा।' पल्लीपति को आश्चर्य हुआ। उसने कहा : 'कैसी असंबद्ध बात करते हो आप ? इस निर्धन वणिक को राज्य मिलेगा ?'

विद्यासिद्ध ने कहा : 'हाँ, यह पुण्यशाली है, मेरी बात में तनिक भी संदेह नहीं करना।'

पल्लीपति ने कहा : 'तो मुझे यह बताइये कि मैंने कल क्या खाया था ?'

विद्यासिद्ध ने बता दिया ! पल्लीपति को विश्वास हुआ। उसने फिर भी पूछा : 'आज मैं कौन-सा भोजन करूँगा ?'

विद्यासिद्ध ने कहा : 'केवल मुंग का पानी ! और वह भी शाम को। मेरी कही हुई बात सच्ची सिद्ध हो तो मानना कि प्रियंकर राजा बनेगा !' पल्लीपति ने पूछा : 'किस दिन वह राजा बनेगा ?'

विद्यासिद्ध ने कहा : 'माघ शुक्ला पंचमी, गुरुवार... पुष्य नक्षत्र में वह राजा बनेगा।'

पल्लीपति ने प्रियंकर को जेल से बाहर निकाला। अपने घर पर ले गया। स्नान करवाया। सुंदर वस्त्र दिये। उसका सत्कार किया और अपने पास ही रखा।

पल्लीपति ने स्नान किया, दंतशुद्धि की.... कि अचानक उसको शिरोवेदना पैदा हुई। वह सो गया। शाम को उठा। मंत्री के कहने से शाम को उसने केवल मुंग का पानी लिया। औषध लिया।

पल्लीपति ने सोचा : 'सिद्धपुरुष का वचन सही सिद्ध हुआ। अब यह श्रेष्ठिपुत्र अवश्य राजा बनेगा। मैं उसके साथ मेरी पुत्री की शादी कर दूँ.... तो लड़की महारानी बन जायेगी !'

मंत्रीवर्ग को पूछकर पल्लीपति ने प्रियंकर के साथ पुत्री वसुमति की शादी कर दी ! धन-धान्य दिया, वस्त्र-अलंकार दिये और अश्व दिया।

प्रियंकर ने सोचा : 'यह प्रभाव उवसग्गहरं स्तोत्र का ही है। मेरी विपत्ति दूर हो गई, संपत्ति प्राप्त हुई। अपमान की जगह सम्मान मिला.... पत्नी मिली.... यह कृपा श्री पार्श्वनाथ भगवंत की है, उनके अधिष्ठायकों की है।'

पल्लीपति ने अपने सेवकों के साथ प्रियंकर को पत्नी के साथ अशोकपुर पहुँचा दिया। घर पर जाते ही प्रियंकर ने माता-पिता के चरणों में प्रणाम किये। वसुमति ने भी प्रणाम किये। माता-पिता को देव के वचन पर विश्वास हो गया। पार्श्वदत्त और प्रियश्री विशेष रूप से धर्मध्यान में निमग्न बने।

प्रियंकर को स्वप्न आया :

एक दिन प्रियंकर को रात्रि के समय स्वप्न आया : 'अपने शरीर में से उसने आँतें बाहर निकाली और उन आँतों को लंबी कर उससे समग्र अशोकपुर को लपेट लिया। बाद में उसने अपने शरीर को जलता हुआ देखा... वह पानी से आग को बुझाता है।'

यह स्वप्न देखकर वह जगा। स्वप्न याद कर लिया और श्री नमस्कार मंत्र के ध्यान में लीन बना। सुबह होने पर उसने स्वप्न की बात पार्श्वदत्त को कही। पार्श्वदत्त ने कहा : 'यह बात और किसी को नहीं कहना, तू त्रिविक्रम उपाध्याय के पास जा, उनको यह स्वप्न कहना और फल पूछना।'

प्रियंकर उपाध्याय को मिला । स्वप्न की बात कही । उपाध्याय विस्मित हो गये । उन्होंने सोचा : 'इस स्वप्न का फल राज्यप्राप्ति है । मैं अभी ही मेरी पुत्री की शादी इसके साथ कर दूँ ।' प्रियंकर को साथ लेकर उपाध्याय उनके घर की ओर चले । रास्ते में बहुत अच्छे शकुन हुए । घर पर जाकर उपाध्याय ने कुमार का सम्मान किया और अपनी पुत्री सोमवती, जो कि रूपवती और लावण्यमयी थी, उसकी कुमार के साथ शादी नक्की कर दी ।

प्रियंकर ने कहा : 'इस विषय में मैं कुछ भी नहीं जानता, आप मेरे पिताजी से बात करना । मैं तो स्वप्न का फल पूछने ही आया था । आप मेरे साथ आपकी पुत्री की शादी की बात करते हो !'

उपाध्याय ने कहा : 'वत्स, तू घर पर जा, मैं स्वप्न के फल की बात तेरे पिताजी से करूँगा ।'

प्रियंकर ने घर आकर पिता से सारी बात कह दी । पार्श्वदत्त पुरोहित के घर गये । पुरोहित ने पार्श्वदत्त का स्वागत किया और कहा : 'प्रियंकर के स्वप्न से यह फलित होता है कि वह इस नगर का राजा होगा ।'

पार्श्वदत्त ने कहा : 'हे पंडितप्रवर, आपका कहना सत्य है ।'

पंडित ने कहा : 'इसलिए मैं मेरी पुत्री की शादी प्रियंकर के साथ करना चाहता हूँ ।' पार्श्वदत्त ने पंडित की बात स्वीकार कर ली । सोमवती के साथ प्रियंकर की दो पत्नियाँ हुई – पहली वसुमति और दूसरी सोमवती ।

आज यह कहानी यहाँ ही छोड़ता हूँ । कल यह कहानी पूर्ण करना चाहता हूँ ।

आज बस, इतना ही ।

★ ★ ★

प्रवचन : ७१

परम कृपानिधि, महान् श्रुतधर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने स्वरचित 'धर्मबिंदु' ग्रंथ के तीसरे अध्याय में श्रावक जीवन की दिनचर्या बतायी है। उसमें उन्होंने कहा है कि श्रावक को प्रतिदिन 'नमस्कारादिचिंतनम्' करना चाहिए। यानी नमस्कार महामंत्र, लोगस्स सूत्र आदि के विषय में चिंतन-मनन करना चाहिए। चिंतन-मनन तभी हो सकता है जब अध्ययन हो! इसलिए आपको अध्ययन करा रहा हूँ। 'उवसग्गहरं स्तोत्रं' का अर्थ-भावार्थ-प्रभाव आदि बताकर, इस स्तोत्र की अचिंत्य महिमा बतानेवाली प्राचीन कहानी-प्रियंकर राजा की कहानी सुना रहा हूँ। कल आधी कहानी सुनायी थी, आज पूर्ण करूँगा।

धनदत्त श्रेष्ठि को सहायता :

प्रियंकर के पास ही 'धनदत्त' नाम का धनाढ्य श्रेष्ठि रहता था। धनदत्त ने नया मकान बनाया। नये घर में देवालय की स्थापना की, देवपूजा की, जैन संघ को भोजन दिया, गरीबों को अनुकंपादान दिया और धनदत्त अपने परिवार के साथ नये घर में रहने लगा।

तीन दिन सब कुछ ठीक चला, चौथे दिन, धनदत्त रात्रि के समय घर में सोया था, सुबह जब वह उठा.... वह आँगन में था! उसका पलंग आँगन में था.... वह उसमें सोया था! धनदत्त को आश्चर्य हुआ। उसने सोचा - 'यह कैसे हुआ होगा?' दूसरे दिन मकान के द्वार भीतर से बंद कर सोया। परंतु सुबह वह आँगन में था पलंग सहित! धनदत्त को चिंता हुई। तीसरे दिन भी वैसा हुआ। घर के सभी लोगों के लिए ऐसा होने लगा! सबको भय लगा। घर में कोई सोता नहीं है। धनदत्त ने सोचा - 'यह घर दुष्ट व्यंतर से अधिष्ठित लगता है।' उसने मंत्रवेत्ताओं को बुलवाये और मंत्रोपचार करवाये। परिणाम अच्छा नहीं आया। वह व्यंतरदेव ज्यादा रोषायमान हुआ। जो कोई मकान में जाता व्यंतर उसके शरीर को कष्ट पहुँचाने लगा। पुरुष को स्त्री के वस्त्र और स्त्री को पुरुष के वस्त्र पहनाने लगा! धनदत्त की चिंता बढ़ गई।

प्रियंकर ने धनदत्त को पूछा : 'क्यों इतने उदास हो?' धनदत्त ने सारी बात बता दी और कहा : 'प्रियंकर, तू धर्मशील है और परोपकारी है। यदि तू कोई उपाय जानता हो तो मेरे पर उपकार कर।'

प्रियंकर ने कहा : 'उपाय जानता हूँ, परंतु आठ दिन के बाद करूँगा।' चैत्री-ओली के दिन आये। प्रियंकर ने धनदत्त के नये मकान में श्री पार्श्वनाथ प्रभु की प्रतिमा स्थापित की। उनके पास दीपक जलाया, धूप किया, नैवेद्य-फल वगैरह धराया और पद्मासन से बैठकर ५०० बार 'उवसग्गहरं स्तोत्रं' का जाप किया। आठवे दिन वह दुष्ट व्यंतरदेव, बालक का रूप धरकर प्रियंकर को ध्यान से विचलित करने आया। प्रियंकर अविचल रहा। बाद में व्यंतर ने युवक का रूप किया, प्रियंकर को डराने लगा। प्रियंकर अविचल रहा। बाद में व्यंतर ने वृद्ध का रूप किया, प्रियंकर को ललचाने के लिए कहने लगा – 'मैं नंदीश्वर द्वीप जा रहा हूँ यात्रा करने, तू मेरे साथ चल, मैं तुझे यात्रा कराऊँगा।' प्रियंकर अडिग रहा! उसने श्री उवसग्गहरं स्तोत्र का जाप अखंड रखा। दुष्ट व्यंतर उस घर को छोड़कर चला गया। धनदत्त परिवार सहित घर में रहने लगा। कोई उपद्रव नहीं हुआ।

धनदत्त ने अपनी पुत्री श्रीमती की शादी प्रियंकर के साथ कर दी। बहुत धन दिया। अश्व... हाथी वगैरह भी दिया।

मंत्रीश्वर हितंकर :

धनदत्त के घर में से देव के उपद्रव को दूर करने की बात नगर के मंत्री हितंकर ने सुनी। मंत्री ने प्रियंकर को बुलावा भेजा। प्रियंकर गया मंत्री के पास। मंत्री ने प्रियंकर का आदर-सत्कार किया और कहा : 'कुमार, तू परोपकारी है, निष्कारण वत्सल है। तूने धनदत्त के घर में से उपद्रव दूर किया है। मैं भी तुझे मेरा एक कार्य बताना चाहता हूँ।'

प्रियंकर ने कहा : 'हे मंत्रीश्वर, मैं आपका सेवक हूँ। जो कोई कार्य हो, मुझे कह सकते हो।'

महामंत्री ने कहा : 'एक दिन मेरी पुत्री, उसकी सखी के साथ बाड़ी में गई थी। वहाँ मेरी पुत्री में शाकिनी का प्रवेश हुआ है या भूत-प्रेत या व्यंतर का प्रवेश हुआ है? मैं समझता नहीं हूँ। परंतु इस बात को एक वर्ष से ज्यादा समय हो गया है। बहुत उपचार किये, देव-देवी की अनेक मनौतियाँ की, परंतु पुत्री को अच्छा नहीं हुआ। बहुत बड़े संकट में फँस गया हूँ। अष्टमी-चतुर्दशी के दिन ज्यादा परेशानी रहती है बेटी को। उन दिनों में वह भोजन नहीं करती है.... बोलती भी नहीं है। हे कुमार, वह यौवन में आयी है, ऐसी स्थिति में उसके साथ शादी कौन करेगा? मुझे बहुत चिंता हो रही है। कुमार, मैं तुझे विनंती

करता हूँ कि मेरी पुत्री को तू अच्छी कर दे ! तुझे जो कुछ चाहिए मैं देने को तैयार हूँ ।'

प्रियंकर ने कहा : 'मंत्रीश्वर, अगरु धूप, कपूर, कस्तूरी वगैरह भोग-सामग्री लाइये । यदि लड़की का पुण्य प्रबल होगा तो मेरा प्रयत्न सफल होगा ।' मंत्री ने सारी सामग्री मंगवा ली ।

प्रियंकर ने अष्टमी और चतुर्दशी के दिन श्री पार्श्वनाथ प्रभु के सामने बैठ कर पुष्पपूजा की, भोग-सामग्री अर्पण की । पंचामृत का होम किया और ५०० उवसग्गहरं स्तोत्र का जाप किया । मंत्री की पुत्री का कष्ट कुछ अंश में दूर हुआ ।

प्रियंकर के घर पर कोई अनजान निर्धन ब्राह्मण आया । प्रियंकर को आशीर्वाद देकर वह बैठा । प्रियंकर ने आगमन का प्रयोजन पूछा । ब्राह्मण ने कहा : 'मैंने सुना है कि आप परोपकारी हैं । आप मेरा एक काम करेंगे – इस विश्वास से मैं यहाँ आया हूँ ।

सिंहलद्वीप के सिंहलेश्वर राजा ने यज्ञ किया है । वह ब्राह्मणों को बहुत बड़ा दान देनेवाला है । इसलिए मैं वहाँ जा रहा हूँ । परंतु मेरी इस पत्नी को कहाँ छोड़कर जाऊँ ? मेरी इस सुंदर रूपवती पत्नी को आपके पास छोड़ने आया हूँ । जब तक मैं वापस यहाँ नहीं आता हूँ, यहाँ रहेगी । आप इससे घर के कार्य अवश्य करवाना । आप विश्वासपात्र हैं, इसलिए पत्नी को यहाँ छोड़कर जाता हूँ ।'

प्रियंकर ने कहा : 'हे ब्राह्मण, आपके गोत्र के, जाति के अनेक लोग इस नगर में हैं, उनके पास पत्नी को छोड़कर जाइये ।'

ब्राह्मण ने कहा : 'किसी को सौंपकर जाने में मेरा मन नहीं मानता है, उत्तम स्त्री, उत्तम के घर में ही रखी जाती है ।'

प्रियंकर ने कहा : 'इस बात में मेरा मन मानता नहीं है । आपका बहुत आग्रह है इसलिए रखता हूँ । आप आपका कार्य निपटा कर शीघ्र लौट आना ।'

ब्राह्मण ने कहा : 'काशी निवासी हो, काश्यप गोत्र का हो, जिसके पति का नाम कामदेव हो, माता का नाम कामलदेवी हो, पुरुष का नाम केशव हो, हाथ में करवत हो और कषाय रंग के वस्त्र पहने हो – उसको स्त्री दे देना ।' ब्राह्मण चला गया ।

तीन दिन के बाद, उस ब्राह्मण जैसा ही रूपवाला, उतनी ही उम्रवाला... वैसा ही रंगवाला... वही नाम... और वैसा ही मुख... एक ब्राह्मण आया। उसने अपनी पत्नी मांगी। प्रियंकर ने दे दी।

कुछ महीनों के बाद, बड़े हाथी पर बैठकर वह ब्राह्मण आया और पत्नी को माँगने लगा! प्रियंकर ने कहा : 'तुम पहले ही सात निशानी बताकर ले गये हो... अब क्यों आये पत्नी माँगने ?' ब्राह्मण ने झगड़ा किया। प्रियंकर ने कहा : 'तू ब्राह्मण नहीं हैं। तू कोई देव या दानव है।'

ब्राह्मण देव के रूप में प्रकट हुआ। देव ने कहा : 'राजवाटिका में मेरा स्थान है, मैं वहाँ का यक्ष हूँ।'

प्रियंकर ने पूछा : 'इस मंत्रीपुत्री ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था ?'

देव ने कहा : "यह लड़की वहाँ आयी थी। मेरी मूर्ति देखकर वह हसी थी। मैं सत्यवादी मनुष्यों की इच्छाएँ पूर्ण करनेवाला यक्ष हूँ। लोग मेरी पूजा करते हैं। इस लड़की ने मेरा उपहास किया था.... 'यह तो पत्थर है पत्थर...' ऐसा बोलकर, मुँह टेढ़ा कर चली गई थी। इसलिए मैंने उसका निग्रह किया है।"

प्रियंकर ने कहा : 'जिस प्रकार हाथी, भौंकनेवाले कुत्ते के साथ लड़ता नहीं है, सिंह सियार के साथ लड़ता नहीं है.... वैसे आपको इस अबोध कन्या के प्रति रोष नहीं करना चाहिए।'

यक्ष शान्त हुआ। उसने कहा : "तेरे 'उवसग्गहरं स्तोत्र' के जाप से अब मैं इस कन्या के शरीर में रह नहीं सकता। मैं तेरे पर संतुष्ट हुआ हूँ। तू कुछ भी मेरे से माँग ले।"

'हे यक्षराज, आप इस मंत्रीपुत्री को छोड़ दो। वह पहले जैसी थी, वैसी कर दो!' यक्ष ने मंत्रीपुत्री को मुक्त कर दी, परंतु इतना अभिशाप दिया – 'इस लड़की ने मेरी निन्दा की है, इसलिए इस लड़की को अनेक पुत्र–पुत्री होंगे!'

यक्ष ने प्रियंकर को सभी पक्षियों की भाषा जानने की शक्ति दी और वह देव अपने स्थान चला गया।

मंत्री ने उस 'यशोमती' नाम की लड़की की शादी प्रियंकर से कर दी। मंत्री ने प्रियंकर को बहुत धन दिया।

प्रियंकर को राज्यप्राप्ति :

एक दिन की बात है। प्रियंकर प्रतिदिन जिनालय में पूजन करता था। एक

दिन श्री पार्श्वनाथ भगवंत की पूजा कर वह घर जा रहा था। रास्ते में नीम के पैड़ पर एक कौआ बैठा था। कौए ने आवाज दी। प्रियंकर पक्षी की भाषा जानता था। कौआ प्रियंकर को कह रहा था – इस नीम के वृक्ष के नीचे तीन हाथ के ऊपर एक लाख रुपये हैं। खोद कर तू ले ले और मुझे भोजन दे।'

प्रियंकर को एक लाख रुपये मिले। उसने कौए को दहीं और चावल खिलाया।

राजा ने भी प्रियंकर के गुणों को सुनकर उसको प्रतिदिन राजसभा में आने का निमंत्रण दिया। राजा की ओर से उसको सम्मान मिलने लगा।

कुछ दिनों के बाद राजा के दो पुत्र अरिशूर और रणशूर का अचानक अवसान हो गया। राजा शोकसागर में डूब गया। मंत्री के समझाने से कुछ शोक कम हुआ। परंतु पुत्रमोह से राजा का शरीर रोगग्रस्त बना। अन्नरुचि नहीं रही। निद्रा नहीं आती है। मन व्याकुल रहने लगा।

राजा को एक दिन चौथे प्रहर में स्वप्न आया। गधे से जुड़े वाहन में वह बैठा और दक्षिण दिशा में गया। प्रभात में राजा ने मंत्री को स्वप्न की बात कह दी। मंत्री ने स्वप्नशास्त्र के ज्ञाता को स्वप्न का फल पूछा। उसने कहा कि 'इस स्वप्न को देखनेवाले की अल्प समय में मृत्यु होगी।'

राजा और मंत्री चिंतामग्न बने। राजा ने प्रभुपूजा, अनाथों को दान.... वगैरह पुण्यकार्य शुरू किये।

एक दिन प्रियंकर राजसभा में जा रहा था। मार्ग में 'दुर्गा' नाम के पक्षी ने प्रियंकर को कहा – 'प्रियंकर, आज तुझे राजा की ओर से भय है!' प्रियंकर ने पक्षी की बात सुनी, फिर भी उस बात का दुर्लक्ष्य कर राजसभा की ओर आगे बढ़ा।

पुनः दुर्गा बोली – 'प्रियंकर, आज तेरे पर चोरी का आरोप आयेगा और तू बंधनग्रस्त बनेगा।'

प्रियंकर दुर्गा की बात सुनकर कुछ क्षण खड़ा रहा। कुछ सोचा और आगे बढ़ा।

तीसरी बार, उच्च स्थान पर बैठी हुई दुर्गा बोली – 'तुझे राज्य मिलेगा।' प्रियंकर को दुर्गा के परस्पर विरोधी वचन सुनकर आश्चर्य हुआ। वह राजसभा में पहुँचा। राजा को प्रणाम करता है उस समय अचानक उसके मस्तक पर 'देववल्लभ' नाम का हार गिरा! राजसभा में बैठे हुए सभी ने देखा। सभी को

आश्चर्य हुआ। 'यह हार तो अदृश्य हो गया था.... कुमार के पास कैसे आया?' प्रियंकर भी आश्चर्यचकित हो गया। उसने सोचा – 'आज चोरी का कलंक मेरे पर आया! आज दिन तक कमाया हुआ यश चला गया। दुर्गा का वचन सही सिद्ध हुआ। गत जन्म में अवश्य किसी पर कलंक चढ़ाया होगा।'

राजा अशोकचंद्र ने कोतवाल को आज्ञा दी – 'इस कुमार को बाँध लो और योग्य सजा करो।'

मंत्री ने कहा : 'महाराजा, प्रियंकर परोपकारी और पुण्यशाली है, वह चोरी नहीं कर सकता।'

राजा ने प्रियंकर को पूछा : 'तू सत्य बोलना। यह हार तूने कहाँ से लिया? तुझे कहाँ से मिला? अथवा तुझे किसी ने दिया है? या किसी के घर रखा था? सच बोलना।'

प्रियंकर ने कहा : 'महाराजा, मैं कुछ जानता नहीं हूँ। मैंने इस हार को कभी देखा भी नहीं है। आपको जो उचित लगे वह कर सकते हो।'

मंत्री ने प्रियंकर के पक्ष में बहुत कुछ कहा, परंतु राजा ने एक बात भी नहीं मानी। प्रियंकर को सैनिकों ने रस्सी से बाँधा। उसी समय राजसभा में दिव्य आभूषणों से सुशोभित चार महिलाएँ आयी। राजा ने उनका स्वागत किया। पूछा : 'आप चारों महिलाएँ कहाँ से आ रही हो और आने का प्रयोजन क्या है?'

चार में जो बड़ी महिला थी, उसने कहा : "हम पाटलीपुत्र से आ रही हैं। मेरा पुत्र प्रियंकर नाराज होकर घर से चला गया था। हमने उसको बहुत खोजा, परंतु वह नहीं मिला। परंतु अशोकपुर से आये हुए एक सज्जन ने कहा कि वह अशोकपुर में है। इसलिए हम यहाँ आयी हैं। देवमंदिर में दर्शन कर जब हम बाहर आयी तब एक भाई को पूछा कि 'प्रियंकर कहाँ रहता है?' उसने कहा कि 'प्रियंकर आज संकट में है।' यह सुनकर हम यहाँ आयी है।"

राजा ने प्रियंकर को बताया। वह महिला बोली – 'यही मेरा पुत्र है!' उसने पुत्र को आलिंगन दिया।

दूसरी स्त्री ने कहा : 'यह मेरा भाई है!'

तीसरी स्त्री ने कहा : 'यह मेरा देवर है!'

चौथी स्त्री ने कहा : 'यह मेरा पति है!'

वृद्ध स्त्री ने कहा : 'मेरे पुत्र को छोड़ दो।'

राजा ने कहा : 'उसने मेरा लाख रुपये का हार चुराया है।'

वृद्ध स्त्री ने कहा : 'मैं जो भी दंड होगा, भर दूँगी।'

राजा ने पूछा : 'इसके पिता कहाँ है ?'

पिता को बुलवाये गये। पिता ने भी कहा : 'यह कुमार मेरा पुत्र है।'

मंत्री ने सोचा : 'प्रियंकर के पिता पार्श्वदत्त और माता प्रियश्री तो इसी नगर में रहते हैं ! ये सब मनुष्य नहीं लगते !' मंत्री ने राजपुरुष को भेजकर पार्श्वदत्त और प्रियश्री को बुलवा लिये। पार्श्वदत्त जैसा ही वह पुरुष था और उस वृद्ध स्त्री जैसी ही प्रियश्री थी।

राजा ने कहा : 'तुम प्रियंकर के पिता नहीं हो, परंतु देव-दानव या विद्याधर हो। ये महिलाएँ मानव स्त्री नहीं है परंतु देवियाँ अथवा विद्याधरियाँ हैं।'

आये हुए पिता देवरूप में हो गये और वे चार महिलाएँ अदृश्य हो गई। देव ने कहा : 'मैं इस राज्य का अधिष्ठायक देव हूँ। राजन्, तेरे मृत्यु का समय बताने और राजसिंहासन के ऊपर योग्य व्यक्ति को स्थापित करने आया हूँ।'

राजा ने पूछा : मेरी मृत्य कब होगी ?

देव ने कहा : आज से सातवे दिन !

राजा ने कहा : राजा बनने योग्य पुरुष बताइये, मैं उसको राजसिंहासन पर स्थापित करूँगा।

देव ने कहा : यह प्रियंकर ही राजा बनने योग्य है। यह निरपराधी है। उसने हार नहीं लिया था। हार मैंने लिया था। मेरे पास रखा था। आज मैंने ही उसके सर पर हार डाला था।

राजा ने कहा : 'मेरे पुत्र को राजा बनायें तो ?'

देव ने कहा : 'उसका आयुष्य अल्प है और वह प्रजाप्रिय नहीं है।'

राजा ने स्वयं प्रियंकर को तिलक किया। आकाश में से प्रियंकर के ऊपर पुष्पवृष्टि हुई। राजपुरुषों ने उसका राज्याभिषेक किया। प्रियंकर राजा बन गया।

– सातवे दिन राजा की मृत्यु हो गई।

– मंत्री हितंकर की भी मृत्यु हो गई।

– राजा ने मंत्रीपुत्र को मंत्रीपद पर नियुक्त कर दिया।

* * *

उस समय उस नगर में 'धर्मनिधि' नाम के आचार्यदेव पधारे ! राजा प्रियंकर आचार्यदेव को वंदन करने गया। धर्मोपदेश सुनने के बाद राजा ने 'उवसग्गहरं स्तोत्र' का पाठ करने का आम्नाय पूछा।

आचार्यदेव ने कहा : इस स्तोत्र में श्री भद्रबाहुस्वामी ने अनेक मंत्र और अनेक यंत्र छिपा कर रखे हैं। इस स्तोत्र के स्मरण से आज भी पानी, अग्नि, विष, सर्प, दुष्ट ग्रह, राजा, रोग, युद्ध, राक्षस, शत्रु, चोर और वन्य पशु वगैरह के भय से रक्षा होती है। हे राजेन्द्र, तुझे जो सुख-संपत्ति और साम्राज्य की प्राप्ति हुई है और सभी आपत्तियाँ दूर हो गई हैं, वह सब उवसग्गहरं स्तोत्र का ही प्रभाव है।

इस स्तोत्र की पहली गाथा के स्मरण-जाप से उपसर्ग, उपद्रव दूर होते हैं। विषधर का विष दूर होता है। पहली और दूसरी गाथा के जाप से दुष्ट ग्रह, रोग, विषमज्वर, दुर्जन और विविध विष का उपद्रव दूर होता है। पहली, दूसरी और तीसरी गाथा के जाप से विषम रोग, दुःख, दरिद्रता दूर होती है। हीन कुल में जन्म नहीं होता है। सुख, सद्गति, सौभाग्य, लक्ष्मी और कीर्ति की प्राप्ति होती है। एक से चार गाथा का जाप करने से सभी वांछित फल की प्राप्ति होती है। संपूर्ण पाँच गाथा का स्मरण करने से इहलौकिक और पारलौकिक कार्य सिद्ध होते हैं।

इस स्तोत्र में स्तंभन, मोहन, वशीकरण, विद्वेषण और उच्चाटन वगैरह अनेक गुप्त मंत्र रहे हुए हैं।

राजा प्रियंकर धरणेन्द्र के साथ पाताल-लोक में :

आचार्यदेव को वंदन कर, राजा अपने महल में गये। पास में ही श्री पार्श्वनाथ भगवंत का मंदिर था। राजा प्रतिदिन रात्रि के प्रथम प्रहर-पर्यंत मंदिर में जाकर उवसग्गहरं स्तोत्र का जाप व ध्यान करते थे।

एक दिन संध्या के समय वे मंदिर में गये। मंदिर के बाहर सैनिक खड़े रह गए। एक प्रहर (तीन घंटे) बीत गया, दो प्रहर बीत गये.... पूरी रात बीत गई... प्रभात हो गया, परंतु राजा बाहर नहीं आये ! मंत्रीमंडल को चिंता हुई। मंदिर के द्वार बंध थे। बाहर खड़े खड़े मधुर वचनों से राजा को कहा : 'आप राजसभा में पधारें। सूर्य भी आपका मुँह देखने आकाश में चढ़ आया है। सभी सभाजन आपको प्रणाम करने खड़े हैं।'

भीतर से राजा की आवाज नहीं आयी । मंत्रियों ने सोचा : 'महाराजा मंदिर में नहीं हैं । अवश्य किसी देव ने उनका अपहरण किया है ।'

उन्होंने मंदिर के द्वार तोड़ने का प्रयत्न किया । द्वार नहीं टूटे । बाद में मंत्री-वर्ग ने अधिष्ठायक देव को भोग-सामग्री अर्पण की । अधिष्ठायक बोला : मंदिर के द्वार पुण्यशाली राजा की दृष्टि से ही खुलेंगे । राजा आनंद में है, चिन्ता नहीं करना ! महामंत्री ने पूछा : महाराजा कहाँ है ? क्या किसी ने उनका अपहरण किया है ? वे वापस कब लौटेंगे ?

अधिष्ठायक ने कहा : 'नागराज धरणेन्द्र राजा को ले गये हैं । वे आज से दशवे दिन यहाँ आयेंगे । वे देव के सान्निध्य से रोजाना यहाँ आकर, श्री पार्श्वनाथ की पूजा कर, दीपक कर बाद में ही भोजन करेंगे ।'

सभी लोग आनंदित हुए । अपने अपने घर गये ।

* * *

दशवे दिन मंत्री-वर्ग राजपरिवार के साथ राजा का स्वागत करने नगर के मुख्य द्वार पर पहुँचा । दैवी अश्व पर आरूढ़ महाराजा प्रियंकर वहाँ पहुँचे । राजा को राजपरिवार सहित देखकर आश्चर्य हुआ । 'मेरे आगमन के समाचार तुमने कैसे जान लिये ?' महामंत्री ने सारी बात बता दी ।

राजा मंदिर के द्वार पर पहुँचे । द्वार पर दृष्टि पड़ते ही द्वार खुल गये । राजा ने द्रव्यपूजा और भावपूजा की, बाद में वे राजसभा में गये ।

महामंत्री ने विनय से पूछा : 'महाराजा, आप पाताललोक में जाकर आये, नागराज धरणेन्द्र की ऋद्धि भी देखी । आप हमें भी बताने की कृपा करें ।'

राजा ने कहा : मैं प्रासाद में बैठकर श्री उवसग्गहरं स्तोत्र का स्मरण करता था । उस समय वहाँ काजल जैसा रंगवाला एक महाकाय सर्प आया । मैंने उसको देखा, परंतु जाप नहीं छोड़ा । सर्प पार्श्वनाथ के आसन पर चढ़ गया । 'परमात्मा की आशातना होगी ।' यह समझकर मैंने सर्प की पूँछ पकड़कर उसको खींचा । तूर्त ही सर्प का रूप बदल गया, वह देव रूप में आ गया । मैंने पूछा : 'आप कौन हो ?'

उसने कहा : 'मैं श्री पार्श्वनाथ का सेवक धरणेन्द्र हूँ । तेरे ध्यान से आकर्षित होकर आया हूँ । तू सत्त्वशील है । मैंने तेरी परीक्षा की, तू विचलित नहीं हुआ । राजन्, तू मेरे साथ चल । मैं तुझे पुण्य का फल बताता हूँ ।' मैं धरणेन्द्र

के साथ पाताललोक में गया। वहाँ भूमि रत्नमय और सुवर्णमय थी। बाद में उनका महल देखा। रत्नमय किल्ला देखा। उसमें सात पोल थी। मैं प्रथम पोल में गया, वहाँ सामान्य देवभवन थे। चारों ओर कल्पवृक्ष के वन थे। दूसरी पोल में गया। वहाँ तोतों के लिए स्वर्ण के पिंजड़े थे। वे तोते मुझे देखकर बोलने लगे – 'हे प्रियंकर राजा, आइये... आइये ! उत्कृष्ट पुण्यवाले जीव ही इस स्थान को देख सकते हैं।'

वहाँ से मैं तीसरी पोल में गया। वहाँ मुझे देखकर मयूर नृत्य करने लगे और मनुष्य की भाषा में बोलने लगे – 'राजेन्द्र, तेरे दर्शन से हमारा जीवन आज सफल हो गया। वह नगर भी धन्य है कि जहाँ प्रियंकर राजा राज्य करता है।'

वहाँ से मैं चौथी पोल में गया। वहाँ कस्तुरीमृग उछल–कूद कर रहे थे। उन्होंने मुझे प्रणाम किये। वहाँ से मैं पाँचवी पोल में गया। वहाँ स्फटिक–रत्नमय वापिकाएँ थी, स्नानगृह थे। छट्ठी पोल में इन्द्र के सामानिक देवों के प्रासाद थे। सातवी पोल में देवांगनाएँ थी। वहाँ से आगे बढ़ा तो नागराज धरणेन्द्र की सुशोभित सभा थी। मैंने वहाँ देवांगनाओं का नृत्य देखा।

धरणेन्द्र ने पुण्य का फल दिखाने के लिए मुझे पुत्रवत् वहाँ नौ दिन तक रखा। वहाँ देव–देवी मेरी सेवा करते थे। उन्होंने मुझे वहाँ जो दैवी भोजन कराया, उसका मैं वर्णन ही नहीं कर सकता हूँ।

पाताललोक में पुण्य का फल देखकर, मुझे भी पुण्य में रुचि उत्पन्न हुई। मैंने धरणेन्द्र को कहा : 'अब मुझे मेरे नगर में पहुँचा दो।' उस समय धरणेन्द्र ने अपने हाथ में से निकाल कर एक रत्नमय मुद्रिका मुझे दी और कहा – 'यह मुद्रिका आकाश में रहनेवाली है और अनेक लोगों को भोजन करानेवाली है। जब विशेष पुण्य कार्य करना हो तब सुबह श्री नवकार मंत्र तथा उवसग्गहरं स्तोत्र की १ से ३ गाथाएँ तीन बार बोलकर, घर के आँगन में खड़े रहकर, इस मुद्रिका को आकाश में उछाल देना। जब तक यह मुद्रिका आकाश में रहेगी, तब तक ५०० मनुष्यों का भोजन समाप्त नहीं होगा।'

मेरा मन प्रसन्न हुआ। मैंने वह मुद्रिका ग्रहण की और मैं यहाँ आ गया!

प्रियंकर राजा का यह वृत्तांत सुनकर सभाजन संतुष्ट हुए। पुण्यकार्य में सभी लोगों की अभिरुचि बढ़ गई।

– राजा ने नये नये जिनमंदिर बनवाने शुरू किये ।
– लाखों की संख्या में जिनमूर्तियाँ बनवाने लगे ।
– अनेक ज्ञानभंडारों की स्थापना करने लगे ।
– साधुपुरुषों की सेवा–भक्ति करने लगे ।
– श्रावक–श्राविकाओं की साधर्मिक भक्ति करने लगे ।

पाक्षिक–पर्व के पारणे के दिन साधर्मिक–वात्सल्य करना शुरू किया ।

* * *

पार्श्वदत्त एवं प्रियश्री की इच्छा शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा करने की हुई । राजा प्रियंकर ने शत्रुंजय गिरिराज की संघयात्रा निकाली । जगह–जगह स्वामिवात्सल्य किये, अनुकंपा–दान देते चले, दानशालाएँ स्थापित की । इस प्रकार वे शत्रुंजय तीर्थ में पहुँचे । वहाँ शत्रुंजय तीर्थ की तलहटी में ही पार्श्वदत्त का स्वर्गवास हो गया । राजा प्रियंकर ने पिता के नाम से शत्रुंजय पर्वत के ऊपर एक देवमंदिर बनवाया । महोत्सव किया ।

राजा प्रियंकर वापस अपने नगर में आ गये । उन्होंने सोने का 'रायणवृक्ष' बनवाया, उसके नीचे भगवान ऋषभदेव की पादुका स्थापित की । प्रतिदिन राजा उसकी पूजा करने लगे । इस प्रकार, धर्म–अर्थ–काम – तीनों पुरुषार्थ की उचित आराधना करते हुए वे वृद्ध बने । उन्होंने सोचा : अब मुझे पुत्र 'जयंकर' का राज्याभिषेक कर देना चाहिए, और मुझे विशेष रूप से धर्मआराधना में प्रवृत्त होना चाहिए ।

जयंकर को उन्होंने राज्य का पालन कैसे करना चाहिए – वह समझाया । राजनीति समझायी । राज्याभिषेक का श्रेष्ठ मुहूर्त निकलवाया और महोत्सव के साथ उसका राज्याभिषेक करवा दिया ।

राजा प्रियंकर ने राजकाज छोड़ दिया ।
– वे अष्टमी–चतुर्दशी के दिन पौषध व्रत करते हैं ।
– वे सुपात्रदान देते हैं ।
– प्रतिदिन भगवान पार्श्वनाथ की पूजा करते हैं ।
– श्री नमस्कार महामंत्र और श्री उवसग्गहरं स्तोत्र के जाप–ध्यान में लीन रहते हैं ।

जब लगा कि 'मेरा जीवन अब थोड़ा–सा ही है,' उन्होंने अनशन व्रत स्वीकार

कर लिया। उनकी समाधि–मृत्यु हुई। मरकर वे पहले सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए।

देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर, वे 'महाविदेह क्षेत्र' में मनुष्य जन्म पायेंगे। वहाँ से मोक्ष में जायेंगे।

* * *

यह कथा, उवसग्गहरं स्तोत्र का एकाग्र ध्यान–जाप तथा दृढ़ श्रद्धा के द्वारा जो फल प्राप्त होते हैं, उसका दिग्दर्शन कराती है।

प्रश्न : उवसग्गहरं स्तोत्र का सिर्फ स्मरण करने से इष्ट फल प्राप्त होते हैं या उसकी साधना करने से इष्ट फल की प्राप्ति होती है ?

उत्तर : उवसग्गहरं स्तोत्र का विधिपूर्वक और उसके अर्थचिंतन में उपयुक्त बनकर जाप किया जाय तो वह फलदायक बनता है। क्योंकि श्री पार्श्वनाथ का नाम ही मंत्र है ! नाममंत्र से यह स्तोत्र अधिष्ठित है ! भगवंत का नाम ही सिद्ध मंत्र है। इसलिए उसका जाप भी इष्ट फलदायक बनता है।

प्रश्न : उवसग्गहरं स्तोत्र के जाप से, इस स्तोत्र के अधिष्ठायक देव साधक पर प्रसन्न होते हैं और उसके विघ्न दूर करते हैं – यह बात क्या सत्य है ?

उत्तर : हाँ, सत्य है।

प्रश्न : उवसग्गहरं स्तोत्र सर्वज्ञभाषित है इसलिए वह देवाधिष्ठित है – यह बात सत्य है ?

उत्तर : हाँ, सत्य है। जो जो वस्तु लक्षणोपेत होती है वह देवाधिष्ठित होती है। 'सूत्र' लक्षणोपेत होते हैं चूँकि वे सर्वज्ञभाषित होते हैं। कहा गया है –

सव्वं च लक्खणोवेयं समहिट्ठंति देवता ।
सुत्तं च लक्खणोवेयं जेण सव्वण्णु भासियं ॥

प्रश्न : भद्रबाहुस्वामी ने उपसर्गनिवारण के लिए २४ तीर्थंकरों में से केवल श्री पार्श्वनाथ का ही स्तोत्र क्यों बनाया ?

उत्तर : सभी २४ तीर्थंकरों के नाम, स्मरण या ध्यान उपद्रवों को मिटानेवाले हैं, परंतु भगवान श्री पार्श्वनाथ विशिष्ट पुण्य प्रकृतिवाले थे। पुरुषादानीय थे। उनकी पूजा, भक्ति, नामस्मरण, गुणगान इस अवसर्पिणी के पूर्व उत्सर्पिणी में भी होते थे। इसलिए उनके नामस्मरण का.... ध्यान का बल उत्कृष्ट कोटि का है। पार्श्वनाथ के स्तोत्र की रचना का यह हेतु है।

उपसंहार :

इस स्तोत्र की विधिपूर्वक आराधना कर आत्मकल्याण की प्राप्ति करें। इस स्तोत्र के विवेचन में यदि प्रमोदवश जिनाज्ञाविरुद्ध बोला गया हो तो मिच्छामि दुक्कडं !

आज बस, इतना ही ।

(संपूर्ण)

★ ★ ★

श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट : मेहसाना के स्थायी सहयोगी

१	श्री संपतराज एस. मेहता	भिवंडी
२	श्री लालचंद, मनोहरमल, हुकमीचंद वैद्य	सोलापुर
३	श्री लक्ष्मीलाल संपतलाल लुंकड	सोलापुर
४	श्री मोहनलाल भेरुलाल कोठारी	सोलापुर
५	श्री समीरमल विजयचन्द निमाणी	सोलापुर
६	श्री केशवजीभाई (फॅशन कॉर्नर)	सोलापुर
७	श्री मूलचंद वेलाजी	सोलापुर
८	श्री चुनीलाल मूलचंद संघवी	सोलापुर
९	श्री वाडीलाल जीवन देसाई	सोलापुर
१०	श्री मोतीलाल गुलाबचन्द शाह	सोलापुर
११	मे. विजयकुमार हरखचन्द एन्ड कंपनी	सोलापुर
१२	श्री जनता रेडिमेड क्लोथ स्टोर्स	सोलापुर
१३	श्री विजय ऑईल मील	सोलापुर
१४	श्री बेबी डॉल ड्रेस मेन्यु. कंपनी	सोलापुर
१५	सौ. पद्माबेन रमणिकलाल शाह	सोलापुर
१६	मे. एल. शंकलाल एन्ड सन्स	सोलापुर
१७	श्री कोठारी ब्रदर्स	सोलापुर
१८	श्री एस कटारिया	सोलापुर
१९	श्री फूटरमल जेठमल शाह	सोलापुर
२०	श्री भीमराज फकीरचन्द वैद्य	सोलापुर
२१	श्री शंकरलालजी शांतिलालजी संघवी	सोलापुर
२२	श्री मीठालालजी चौधरी	सोलापुर
२३	श्री चान्दमलजी लूणिया	सोलापुर
२४	श्री पूसालालजी कोचर	सोलापुर
२५	मे. कैलास होजियरी मार्ट	सोलापुर
२६	श्री पुनमचन्द शिवलाल शाह	सोलापुर
२७	श्री केशवलाल दामोदरदास पटणी	सोलापुर
२८	श्री अशोककुमार कांतिलाल	सोलापुर
२९	श्री चांदमल जवानमल मुनोत	सोलापुर
३०	श्री सिरेमल खेमचन्द	सोलापुर
३१	मे. महावीर टी. सेन्टर	सोलापुर
३२	श्री रिखबचंदजी लखमाजी	सोलापुर
३३	श्री मूलशंकर जयशंकर वोरा	सोलापुर

३४	मे. बाफणा ब्रदर्स	सोलापुर
३५	श्री लालचन्द अम्बालाल	सोलापुर
३६	डॉ. वासंतीबेन एन. मुनोत	सोलापुर
३७	श्री जगदीश हीरजी रांभिया	सोलापुर
३८	मे. बेबी वेअर (छगनलालजी कवाड)	सोलापुर
३९	श्री भीमराज रतनचंद	सोलापुर
४०	श्री जैन श्राविका संघ	सोलापुर
४१	श्री गिरिधर गोपाल सोनी	सोलापुर
४२	श्री आदिनाथ जैन संघ	सोलापुर
४३	श्री प्रकाशचन्द भंवरलालजी वैद	सोलापुर
४४	श्री गुमानमलजी दोशी	विलेपार्ले, बम्बई
४५	श्रीमती विमलादेवी एन. जोटा	बम्बई
४६	श्री पी. सी. बरडीया	बम्बई
४७	श्री पुखराजजी बोकरीया	पालीवाले बम्बई
४८	श्री आसुलालजी रिखवचंदजी बोथरा	बम्बई
४९	श्री शांतिलालजी अमरचंदजी परमार	अंधेरी (वे) बम्बई
५०	श्री मानमलजी लूणिया	डोड़बालापुर
५१	श्रीमती कमलाबाई हीराचन्दजी गुलेच्छा	मद्रास
५२	मे. नागोतरा टेक्सटाईल्स	मद्रास
५३	मे. नाकोडा टेक्सटाईल्स	मद्रास
५४	श्री चंपालाल, ताराचंद, भीकमचंद वैद	मद्रास
५५	श्री जैन श्राविका संघ	मद्रास
५६	श्रीमती मूलीबाई आर. जैन	मद्रास
५७	श्रीमती मछीबाई पूनमचन्दजी	मद्रास
५८	श्रीमती मोहिनीबाई जुगराजजी मुथा	मद्रास
५९	श्री निहालचन्दजी रुपराजजी भंडारी	मद्रास
६०	मे. रांका मेटल कोर्पोरेसन	मद्रास
६१	श्रीमती कुसुमबहन माणकचन्दजी बेताला	मद्रास
६२	श्री एस. देवराजजी जैन	मद्रास
६३	मे. कोचर टेक्सटाईल्स	मद्रास
६४	सुश्री जसकवर रमणिकलालजी	मद्रास
६५	श्री वच्छराजजी कवराडावाले	मद्रास
६६	श्री सी. विजयराज जैन	मद्रास
६७	मे. बॉम्बे स्टील हाउस	मद्रास
६८	श्री मनोहरमल शांतिमलजी नाहर	मद्रास

६९	श्री जे. दीपचन्दजी संचेती	मद्रास
७०	श्री रिखबदासजी चिमनाजी (पालडी–सिरोहीवाले)	मद्रास
७१	श्रीमती शकुन्तलाबाई शेषमलजी पंड्या	मद्रास
७२	श्री अभयकरणजी तेजराजजी कोठारी	मद्रास
७३	श्री ताराचंदजी अंबाचंदजी (सांचोरवाले)	मद्रास
७४	श्री एस. बाबूलालजी मेहता	मद्रास
७५	मे. लक्ष्मी हॉल	ऊटी
७६	श्री चंदनमलजी बालचन्दजी बोथरा	ऊटी
७७	श्री फत्तेहमल मोहनलाल सियाल	ऊटी
७८	मे. पारस मुथा एन्ड कंपनी	बेंग्लोर
७९	श्रीमती पवनबेन छगनलालजी (पोमावावाला)	बेंग्लोर
८०	श्री के. एम. गादिया	बेंग्लोर
८१	मे. एस. कपूरचन्द एन्ड कंपनी	बेंग्लोर
८२	श्री मिश्रीमलजी प्रतापमलजी श्रीश्रीमाल	बेंग्लोर
८३	श्री जैन श्राविका संघ	बेंग्लोर
८४	श्री धनराजजी जुगराजजी मेहता	बेंग्लोर
८५	श्री आदिनाथ जैन संघ (चिकपेट)	बेंग्लोर
८६	श्रीमती मेथीबाई प्रतापमलजी जीरावला	बेंग्लोर
८७	श्री मौंगीलाल धनराज बिदामिया	गदग
८८	श्री धेवचन्दजी बंट	व्याबर
८९	श्रीमती लुणीबाई शंकरलालजी बैद	फलोदी
९०	मे. स्वदेशी ग्लास हाऊस	कोयम्बतूर
९१	श्री रानमलजी बाफना	कोयम्बतूर
९२	श्री सुखराज चंपालाल	कोयम्बतूर
९३	श्री पन्नालालजी करबावाले	कोयम्बतूर
९४	श्रीमती सुन्दरीबाई विजयचन्दजी वैद	कोयम्बतूर
९५	मे. पेक्वेल प्लायवुड्स	कोयम्बतूर
९६	कु. वंदना–आरती–पूजा C/o प्रकाश फाईनान्स	कोयम्बतूर
९७	श्री लक्ष्मी हॉल	कोयम्बतूर
९८	श्री जैन श्वे. मूर्तिपूजक संघ	बेल्लूर
९९	श्री संभवनाथ जैन टेम्पल ट्रस्ट	विजयवाडा
१००	श्री हीराचन्दजी बैद	जयपुर
१०१	श्री तरसेमकुमार जैन	जयपुर
१०२	श्री बी. भीमराजजी बरलोटा	तिरुवन्नामलाई
१०३	श्री शिवराजजी जोधपुरवाला	मल्लेबेन्नुर

१०४	सौ. मंजूबहन इश्वरभाई परमार	पूना
१०५	श्री गणेशमलजी वदराजजी सोलंकी	पूना
१०६	श्री दीपचन्दजी राठोड	पूना
१०७	श्री माणिकभाई ताराचंदजी संघवी	पूना
१०८	श्री फुटरमलजी शेषमलजी बोराना	पूना
१०९	श्री शांतिलाल एम. मेहता	पाली
११०	श्री कांतिलाल मूलचंद	आदोनी
१११	श्री अंजनाबेन ताराचन्दजी सिरोहिया	दौंड (महाराष्ट्र)
११२	श्री सुभाष नारायण गोलांडे	दौंड (महाराष्ट्र)
११३	श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ	दौंड (महाराष्ट्र)
११४	श्री झवेरचन्दजी भीमाजी ओसवाल	दौंड (महाराष्ट्र)
११५	श्रीमती पुष्पाबाई धनराजजी परमार	दौंड (महाराष्ट्र)
११६	सौ. स्वरूपरानी मोतीलाल देवडा चेरिटेबल ट्रस्ट	औरंगाबाद
११७	श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ	कोरेगाँव

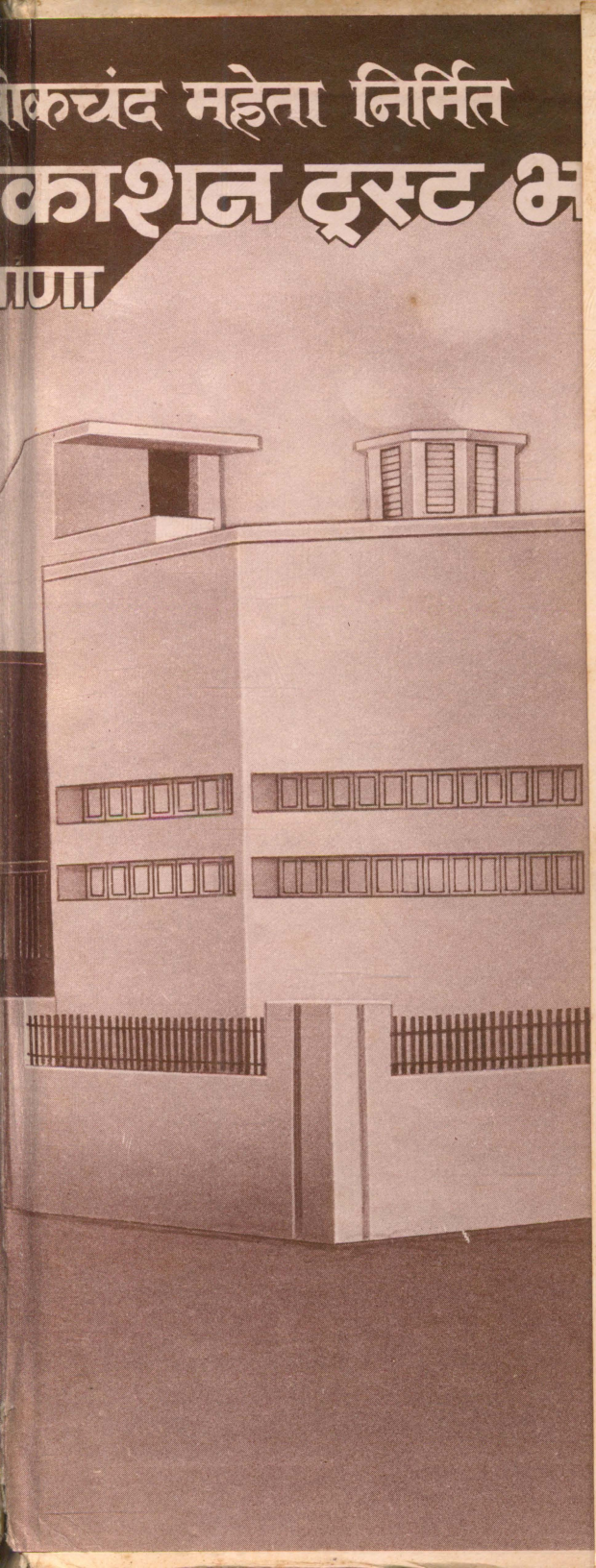
क्रम	हिन्दी प्रकाशन	कींमत
१.	जैन रामायण १–२–३	२००–००
२.	प्रशमरति भाग १–२	५०–००
३.	प्रीत किये दुःख होय	५०–००
४.	ज्ञानसार (संपूर्ण)	३०–००
५.	मारग साचा कौन बतावे	३०–००
६.	श्रावक जीवन भाग १	३०–००
७.	संसार सागर है	३०–००
८.	पर्व–प्रवचनमाला	२५–००
९.	यही है जिन्दगी	२०–००
१०.	जिन्दगी इम्तिहान लेती है	२०–००
११.	मायावी रानी	२०–००
१२.	विज्ञान सेट (३ पुस्तकें)	२०–००
१३.	राजकुमार श्रेणिक	१५–००
१४.	सबसे ऊंची प्रेम सगाई	१०–००
१५.	कथादीप	१०–००
१६.	न म्रियते	१०–००
१७.	जिनदर्शन	१०–००
१८.	फूलपत्ती	८–००
१९.	छोटी सी बात	८–००
२०.	मांगलिक	८–००
२१.	राग–विराग	६–००
२२.	सुवास सेट (३ पुस्तकें)	६–००
२३.	मोती की खेती	६–००
२४.	चैत्यवंदन सूत्र	६–००
२५.	प्रार्थना	२–००
२६.	शोध प्रतिशोध(समरादित्य महाकाथा–१)	३०–००
२७.	द्वेष अद्वेष (समरादित्य महाकाथा–२)	३०–००
२८.	श्रावक जीवन भाग–२	५०–००
२९.	व्रतकथा	१५–००
३०.	शांत–सुधारस	१२–००
३१.	धम्मं सरणं पवज्जामि (भाग–१–२–३–४)	२००–००

निकट भविष्य में :

श्रावक जीवन भा. ३–४

: सूचना :

* पुस्तकें वी.पी.पी. द्वारा नहीं भेजते हैं । * कृपया राशि M.O.या ड्राफ्ट से अग्रिम भेंजे ।



श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट

कंबोईनगर के पास,

मेहसाना - 384002 (Gujarat)

द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य

- धम्मं सरणं पवज्जामि भा. १-२-३-४
- प्रशमरति भा. १-२
- न म्रियते
- सबसे ऊँची प्रेम सगाई
- नैन बहे दिन रैन
- राग विराग
- ज्ञानसार
- संसार सागर है
- मांगलिक
- मोती की खेती
- मायावी रानी
- प्रार्थना
- बच्चों का सुवास सेट (३ पुस्तकें)
- जिनदर्शन
- कथादीप
- छोटी सी बात
- फूलपत्ती
- पर्व प्रवचनमाला
- जिन्दगी इम्तिहान लेती है
- प्रीत किये दुःख होय
- जैन रामायण भा. १-२-३
- यही है जिन्दगी
- मारग साचा कौन बतावे
- श्रावकजीवन भा. १-२-३-४
- शोध प्रतिशोध
- द्वेष अद्वेष
- राजकुमार श्रेणिक
- व्रतकथा
- बच्चों का विज्ञान सेट (३ पुस्तकें)
- चैत्यवंदन सूत्र
- नवपद भावना
- शुभरात्रि
- शांतसुधारस (सानुवाद)

निकट भविष्य में (नवीन प्रकाशन)

- कलिकाल सर्वज्ञ
- The Way of Life 1-2-3-4
- Jain Ramayana 1-2-3
- Bury Your Worry
- Guidelines of Jainism
- A Code of Conduct
- Treasure of Mind
- Rising Sun
- Story Story
- Jindarshan
- 13 Mini Booklets
- Science of Children 1-2-3, (Atma-Karma-Dharma)
- प्रतिमाह 'अरिहंत' के द्वारा ताजा चिंतन, प्रवचन, एवं साहित्य सर्जन


श्री विश्व कल्याण प्रकाशन ट्रस्ट